प्रकाशन : वि० सं० २०३० वैशाख शुक्ला १०
मई १२, १९७३

प्रकाशक : मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति
ब्यावर : (राजस्थान)

मुद्रण : संजय साहित्य संगम के लिए
श्री रामनारायन मेड़तवाल
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
आगरा—२

मूल्य : १५/ रुपये मात्र

प्राप्ति-स्थान :
मुनिश्री हजारीमल स्मृति-प्रकाशन
पिपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

❀ देवता बान्धवा सन्तः ❀
संत- सबसे बड़े देवता व जगद्‌बंधु हैं।

समर्पण

स्वामीजी श्री ब्रजलालजी
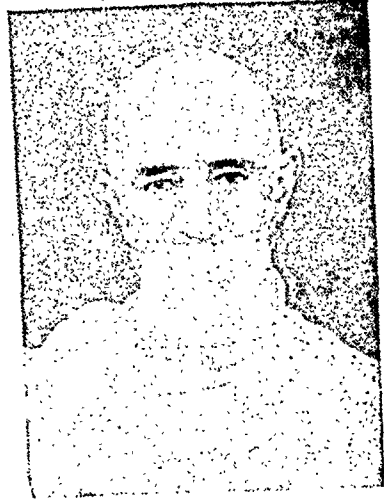
श्री मधुकर मुनिजी

जैसे फूलों में सुवास,
इसीप्रकार
जिनके जीवन के कण-कण में रमी है,
सरलता, समता और सेवा भावना,
उन
दीक्षास्थविर स्वामीजी श्री ब्रजलालजी
एवं
जैसे मिश्री में मिठास,
इसीप्रकार
जिनके जीवन के कण-कण में व्याप्त है
मधुरता, मनीषिता और मृदुता
उन
श्रुत-स्थविर मुनिश्री मिश्रीमलजी 'मधुकर'
के
पवित्र कर कमलों में

—विनीत

—चांदमल चौपड़ा

नंदीसूत्र के चूर्णिकार आचार्य जिनदास महत्तर ने कहा है—

विविहकुलुप्पण्णा साहवो कप्परूक्खा—

साधुजन—विविध कुलों में उत्पन्न हुए धरती के जंगम कल्पवृक्ष हैं। वास्तव में मानवता के लिए कल्पवृक्ष से भी अधिक वरदायी और महिमामय है—साधुजन ! साधुता का कोई एक निश्चित वेश नहीं, देश नहीं, एक परिवेश नहीं, उसका सिर्फ एक उन्मेष है—अन्तश्चेतना का स्फुरण, एक संदेश है—जीवन की दिव्यता का दर्शन ! साधुता अपने इसी भाव में सदा सार्थक होती रही है।

भारतीय संस्कृति संतों की संस्कृति रही है। श्रमणसंस्कृति का हृदय तो संत ही है, 'संत' में ही जैनसंस्कृति के प्राण प्रतिष्ठित हैं। संस्कृति की प्रतिष्ठा, प्रसार और पल्लवन के लिए 'संत' की प्रतिष्ठा, वन्दना, अभिनन्दना, भारतीय जीवन में सदा-सदा से होती आई है, आज भी यह निर्मल-धारा अजस्त्ररूप में प्रवहमान है। भारत का श्रद्धासिक्त मन जव संत के महनीय उपकारों से उसकी असीम करुणा से उपकृत होता है, तो वह विनत हो जाता है, कृतज्ञता के भाव सहज ही वाहर फूट पड़ते हैं—संत की वंदना, अभिनन्दना, स्तवना के रूप में।

प्रस्तुत मुनिद्वय अभिनन्दनग्रन्थ, इसी निर्मल, पवित्र कृतज्ञता का सात्विक प्रकाशन है, एक सांस्कृतिक उपक्रम है—संत के प्रति श्रद्धाभिव्यंजना का। संत स्वयं इस उपक्रम से अलिप्त है, पर श्रद्धालुजनों की श्रद्धा भरी मनुहार उन्हें किसी न किसी रूप में अपने केन्द्र से जोड़ लेती है।

इस वर्ष दीवाली के कुछ दिन पूर्व एकदिन अचानक व्यावर से टेलीफोन पर संवाद मिला—"मैं चांदमल चौपड़ा वोल रहा हूं। हम मुनि श्री व्रजलालजी महाराज एवं श्री मधुकर मुनिजी महाराज का अभिनन्दन समारोह करना चाहते हैं। विचार विमर्श हेतु हम लोग शीघ्र ही मिलना चाहते हैं।"

मैं जानता था—श्री चौपड़ाजी एक भावनाशील कर्मठ कार्यकर्ता है, उक्त मुनिद्वय के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील भी ! यह भी ज्ञात था कि वे विगत अनेक वर्षों से इस प्रकार के आयोजन की मधुर

कल्पना संजोए हुए हैं, वे बार-बार मुनिद्वय से इस स्वीकरण के लिए आग्रह करते आए हैं, किन्तु संतों का नकारात्मक उत्तर उनकी कल्पना के पर नहीं लगने देता था।

श्री चौपड़ाजी से पत्र व्यवहार हुआ, साक्षात् विचार चर्चा हुई और यह निश्चय हुआ कि इस वर्ष ब्यावर श्री संघ के सान्निध्य में मुनिद्वय को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करना ही है। अभिनन्द समारोह के अन्य भी अनेक आध्यात्मिक कार्यक्रम निश्चित हुए, पर मेरा सम्बन्ध सिर्फ इस साहित्यिक आयोजन—'अभिनन्दन ग्रन्थ' से ही जुड़ा! ४-५ मास के अत्यल्प समय में अभिनन्दन ग्रन्थ की तैयारी करना और प्रकाशित कर परिपूर्ण रूप प्रदान कर देना—बहुत कठिन था। पर, मुनिद्वय के प्रति मेरी प्रवुद्ध श्रद्धा, एवं श्री चौपड़ाजी का उत्साहपूर्ण सहयोग, प्रेरणा तथा चमत्कारी क्रियाशीलता से मुझे इस कार्य में सतत बल व गति प्राप्त होती रही।

तथागत बुद्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए किसी राजपथ से वे गुजरे तो धूल में खेलते हुए एक बालक ने मुट्ठी भर धूल उठाई और तथागत के भिक्षा पात्र की ओर हाथ बढ़ाया। तथागत ने पात्र सामने कर उसे प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लिया। बड़े-बड़े श्रेष्ठि और श्रीमंत लोग चकित व क्रुद्ध थे—यह क्या? तथागत के पात्र में—धूल! तभी बुद्ध ने मुस्कराते हुए कहा—"तुम लोग वस्तु का नहीं भाव का मूल्य आंको! इस बालक की सहज श्रद्धा व देने की वृत्ति का महत्व समझो, श्रद्धा पूर्ण समर्पण के इन संस्कारों को कुचलो मत, इन्हें पल्लवित होने दो।"

श्रमण भगवान महावीर ने चंदना के वासी बाकले स्वीकार किये—क्योंकि वे भक्ति व श्रद्धा के मधुर रस से तरोताजा थे। वस्तु का नहीं, श्रद्धार्पण का मूल्य था वहां! अपनी रुचि व आवश्यकता का प्रश्न वहां नहीं था, प्रश्न था सिर्फ भक्ति, श्रद्धा और समर्पण के कोमल-संस्कारों को संवर्धन देना! प्रोत्साहन देना।"

मुझे लगता है, मुनि श्री मिश्रीमलजी 'मधुकर' ने इस अभिनन्दन ग्रन्थ को सिर्फ इसी दृष्टि से स्वीकार करने का भाव व्यक्त किया है, इकरार के साथ इन्कार भी जुड़ा था—"ग्रन्थ बहुत बड़ा न हो, समारोह अधिक आडम्बर पूर्ण न हो;'

मुनि श्री की उक्त दृष्टि को निर्देश मानकर हमने ग्रन्थ का आकार भी छोटा रखा और क्षेत्र भी सीमित! प्रश्न तो अब श्रद्धार्पण का ही रहा, श्रद्धा-प्रदर्शन का नहीं, अतः पिछले दशक में प्रकाशित हुए अनेक स्मृतिग्रन्थ व अभिनन्दनग्रन्थों की तुलना में यह **'मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रंथ'** कलेवर की दृष्टि से लघु व विषय वस्तु की दृष्टि से भी सीमित-सा प्रतीत होगा—किन्तु यह जानबूझ कर किया गया है। पूर्व प्रकाशित विषयवस्तु व शैली की पुनरावृत्ति करने से कोई लाभ नहीं, फिर अब तक के ग्रन्थों में विद्वद्भोग्य सामग्री को अधिक स्थान दिया गया, जबकि हमारी दृष्टि अभिनन्दन ग्रन्थ को भी जन-भोग्य बनाने की रही। अभिनन्दन ग्रन्थ मात्र पुस्तकालयों का अलंकार बनकर न रहे, किन्तु पाठकों के हाथों में भी शोभित हो, यह ध्यान रखा गया है।

हमारी कल्पना थी—'इस अभिनन्दन ग्रन्थ को 'जैन एकता' का एक सेतु बनाया जाय।' समस्त जैन सम्प्रदायों की आचार-विचार—परम्परा की व्यवस्थित व प्रामाणिक जानकारी अधिकृत विद्वानों द्वारा प्रस्तुत हो तो प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए यह पठनीय एवं संग्रहणीय सामग्री बन पड़ती।

किन्तु खेद का विषय है कि तत् तत् सम्प्रदायों के अधिकारी विद्वानों ने ऐसी सामग्री भेजने में उदासीनता दिखाई और अनधिकृत लेख आदि देने से न देना ही ठीक समझा। इस कारण तृतीय खण्ड अपेक्षाकृत कुछ छोटा ही बन पड़ा है, फिर भी सम्पूर्ण ग्रन्थ में इस बात का ध्यान रखा गया है, कि जो भी सामग्री ली जाय, वह मौलिक, विचार पूर्ण एवं नवीन हों।… कुछ लेख स्थानाभाव के कारण तथा कुछ विषय वस्तु की असंगति के कारण हमें लौटाने भी पड़े, इसके लिए उन लेखक बंधुओं से मैं सविनय क्षमा चाहता हूं।

इस सम्पादन कार्य में श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री का अशातीत सहयोग-सहकार मिला, उनके सद्प्रयत्नों व प्रेरणाओं से अनेक महत्वपूर्ण लेख प्राप्त हुए। महासती उमरावकंवरजी ने अस्वस्थ होते हुए भी जितना कुछ सहयोग किया वह बहुत मूल्यवान है। समय अल्प होने से अनेक विद्वानों के लेख आश्वासन मिलने पर भी प्राप्त नहीं हो सके, कुछ विलम्ब से प्राप्त हुए किन्तु फिर भी प्रबुद्ध विद्वानों ने, मुनिवरों ने, उदारतापूर्वक जो संदेश, संस्मरण, गवेषणापूर्ण लेख आदि भेजकर ग्रन्थ के अन्तरंग — श्री— सौन्दर्य को उत्कृष्ट बनाया, उसके लिए मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूं। और विशेष कृतज्ञ हूं संयोजक बन्धुओं का, जिन्होंने सामग्री एकत्र करने में, पत्रव्यवहार आदि में पूर्ण श्रम व अपने साधनों का उपयोग कर सम्पादन कार्य को सुगम बनाया। इन समस्त-कृतज्ञताओं से विनत मैं अपने इस प्रयत्न को मुनिद्वय की पुनीत सेवा में समर्पित कर देना चाहता हूं—

जो कुछ सुना है, समझा है,
और कुछ सीखा है, तो तुमसे यही—
कि काम करते जाओ· मगर
ऐसे रहो, कि किया कुछ भी नहीं।

आगरा
महावीर जयंती

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

श्रीमान सेठ हीरालाल जी चौपड़ा

हमारे प्रेरणा-स्रोत

घटना वि० सं० २०१६ की है। मेरे पिताजी श्रीमान हीरालालजी साहव चौपड़ा को मदार के अस्पताल में चिकित्सा के लिए ले गये। वहां के प्रमुख चिकित्सक थे डा० भट्ट, जो बड़े ही सात्विक-वृत्ति के सेवाभावी डॉक्टर थे। छः महीने तक चिकित्सा करने पर भी जव विशेष सुधार नहीं हुआ तो डॉक्टर ने आप्रेशन करने का निश्चय किया। वड़ी तैयारी व सावधानी के साथ आप्रेशन भी हुआ। आप्रेशन के परिणाम को देखकर डॉक्टर का चेहरा उदास हो गया। एक गहरी निराशा लिए वे वाहर आये। डॉक्टर के निराशा-पूर्ण चेहरे को देखकर हम सवका दिल धड़कने लगा, लड़खड़ाती जवान में हमने जैसे ही पूछा—डॉक्टर ने गम्भीर निराशा के साथ कहा—अव कोई उपाय हमारे हाथ में नहीं रहा ··· सिर्फ उस (ईश्वर) की मर्जी ही कुछ कर सकती है · !

उस समय गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज अस्वस्थता के कारण अजमेर विराज रहे थे। अजमेर से मदार करीव ५ मील दूर होते हुए भी आप्रेशन के अवसर पर पूज्य गुरुदेव ने स्वामी जी श्री व्रजलालजी महाराज एवं श्री मधुकर मुनिजी महाराज को पिताजी को दर्शन देने मदार भेजा।

डॉक्टरों का निराशापूर्ण जवाव पाकर सभी के हाथ-पैर गल गये थे। तव हमने स्वामीजी श्री से पिताजी को मंगलपाठ सुनाने की प्रार्थना की, अन्तिम समय में धर्म एवं प्रभुस्मरण ही एक महान् सम्वल होता है ···

स्वामीजी ने पिताजी को मंगलपाठ सुनाया, कुछ स्तोत्र व आगमों की गाथाएं सुनाई। डॉक्टर भी वहीं उपस्थित थे। सुनते-सुनते पिताजी के चेहरे पर कुछ प्रसन्नता और शान्ति-सी झलकने लगी। डाक्टर ने यह प्रसन्नता उनके चेहरे पर इतने दिनों में पहली बार देखी थी।

स्वामीजी मांगलिक सुनाकर वापस अजमेर पधार गये। पिताजी की हालत क्रमश: सुधरने लगी। दिनभर व रात को भी वे काफी शांति का अनुभव कर रहे थे। डॉक्टर के लिए और हम सव के लिए यह एक चमत्कार था। धर्म को अंधविश्वास माननेवाले डॉक्टर को भी दूसरे दिन कहना पड़ा--' इनकी चिकित्सा के लिए आज फिर स्वामीजी को ही बुलाइये। उनके आशीर्वाद से ही अब ये स्वस्थ होंगे।"

स्वामीजी से पुनः पधारने की प्रार्थना की, पधारे और मांगलिक आदि सुनाये। निराशा के अन्तिम छोर पर पहुंचा जीवन वापस लौट आया। कुछ दिनों के वाद पिताजी पूर्ण स्वस्थ हो गये और व्यावर आगए।

धर्म एवं गुरुजनों के प्रति मेरे मन में पहले से ही श्रद्धा थी। लेकिन इस घटना के वाद तो मेरा भावनाशील हृदय संतजनों के प्रति, विशेषकर स्वर्गीय स्वामीश्री हजारीमलजी महाराज एवं श्री व्रजलालजी महाराज एवं श्री मधुकरजी महाराज के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील होगया। वास्तव में मैंने अपने जीवन में धर्म का यह एक चमत्कार साक्षात् देख लिया था।

मेरे पिताजी प्रारम्भ से ही अत्यन्त धार्मिक व सादगीपूर्ण जीवन जीते रहे हैं। सादा, संयम-मय जीवन, निश्छल प्रेमपूर्ण व्यवहार, आहार-व्यवहार में पूर्ण संयम, सव साधन सुलभ होते हुए भी भोजन, वस्त्र आदि की मर्यादा—यह उनके जीवन का जीवंत आदर्श है। वे वहुत कम वोलते हैं, वोलते हैं वह भी तोलकर, विचारकर। घर में रहते हुए भी वैरागी जैसा जीवन जीते हैं। उनके जीवन की ये धार्मिक-वृत्तियां हमारे पूरे परिवार के लिए आदर्श हैं, प्रेरणा स्रोत हैं।

स्वर्गीय श्री ताराचन्दजी चौपड़ा के दो पुत्र थे—श्री गुलावचन्दजी एवं श्री हीरालालजी (जन्म तिथि वि० सं० १९६७ पौपसुदी ३) हीरालालजी के हम पांच सन्तान हैं—तीन भाई श्री पन्नालाल जी, मैं (चांदमल) और श्री रूपचन्दजी। दो पुत्रियां है—कमलादेवी एवं शांतिदेवी।

पिताजी धार्मिक जीवन जीते हुए भी आज अपने व्यवसाय आदि को ठीक प्रकार देखते हैं और विशेपकर ईमानदारी, नीति और शुद्ध व्यवहार की शिक्षा हमें देते रहते हैं। आपके द्वारा निर्दिष्ट आज निम्न फर्म व्यापार व्यवसाय में संलग्न हैं—

१. हीरालाल पन्नालाल चौपड़ा, गोटावाला, कपड़ा वाजार, व्यावर
२. हीरालाल पन्नालाल चौपड़ा एंड कंपनी,
   (वेजीटेवल एवं सुगर का व्यवसाय) पाली वाजार, व्यावर
३. चौपड़ा फैन्सी स्टोर, पाली वाजार, व्यावर
४. पन्नालाल प्रेमचन्द चौपड़ा, गोटेवाला, नयावाजार, अजमेर

धर्म, समाज-हित एवं साहित्यिक कार्यों में समय व अर्थ का सदुपयोग करने की मूल प्रेरणा मेरे पूज्य पिताजी की ही देन है, अतः किसी भी सत्कार्य में उनके उपकारों का स्मरण सहज ही हो आता है। वास्तव में हम सभी भाई पूज्य पिताजी को अपने जीवन के प्रेरणा-स्रोत मानते हैं।

विनीत

—पन्नालाल, चांदमल, रूपचंद चौपड़ा

संयोजकीय

राजस्थान की स्थानकवासी जैन-परम्परा में आचार्य श्री रुघनाथजी एवं आचार्य श्री जयमलजी दो महान् ज्योतिर्धर आचार्य हुए हैं। दोनों ही बड़े प्रभावशाली, तपस्वी एवं जैन श्रुत वाङ्मय के गहन अभ्यासी थे। राजस्थान के अधिकांश क्षेत्रों में आज इन्हीं दो आचार्यो की परम्परा का श्रमण परिवार फैला हुआ है।

आचार्य श्री जयमलजी महाराज की परम्परा में स्वर्गीय स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज, स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज महान् प्रभावशाली, तेजस्वी एवं वर्चस्वी संत हुए हैं। आज उनके प्रतिनिधि हैं—स्वामीजी श्री ब्रजलालजी एवं मुनि श्री मिश्रीमलजी 'मधुकर !'

श्री मधुकर मुनिजी जितने विद्वान्, विचारक है, उतने ही गहरे शांतिप्रिय, आत्मनिष्ठ एवं निस्पृहवृत्ति के संत हैं। यश एवं कीर्ति की लिप्सा तो उन्हें छू भी नहीं गयी है, वल्कि कहना चाहिए वे मान-सम्मान पूजा-प्रतिष्ठा आदि लोकपैणाओं से सदा कतराते-से रहे हैं। उनके ज्येष्ठ गुरुभ्राता स्वामी श्री व्रजलालजी तो और भी उदासीन-निस्पृहवृत्ति वाले श्रमण हैं। ऐसे संतों का 'अभिनन्दन-समारोह' एक वड़ा विचित्र प्रश्न है, और विचित्र से भी अधिक कठिन !

मुनिद्वय के अनेक श्रद्धालुजनों तथा मुझ जैसे भावनाशील व्यक्तियों के अन्तरमन में एक कल्पना थी कि मुनिद्वय द्वारा की गई जिनशासन की सेवाओं तथा सुदीर्घ निर्मल-चारित्र पर्याय के उपलक्ष्य में हम उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करें, एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर अपनी गहन-स्फूर्त श्रद्धा को कुछ अभिव्यक्ति दें।

कुछ श्रावकों ने मिलकर अपनी इस भावना को मुनिश्री के समक्ष व्यक्त किया। मुनिश्री ठहरे—अलीणपलीणगुत्ते—बड़ी कठोरता के साथ उन्होने नकार दिया। श्रावक चुप हो गए। पर अन्तर की भावना दब नहीं सकी, समय-समय पर हम आग्रह करते रहे, मुनिश्री ठुकराते रहे, इस तरह कई वर्ष गुजर गये। आखिर इस वर्ष ब्यावर श्रीसंघ के प्रमुख महारथी श्री चिमनसिंहजी लोढा, आदि अनेक व्यक्ति मुनिश्री के चरणों में दृढ़-संकल्प करके बैठ ही गये, लम्बे आग्रह के बाद मुनिश्री को श्रावकसंघ का आवेदन स्वीकार करना पड़ा और अभिनन्दन समारोह के आयोजन की रूपरेखा बनी।

मुनिश्री की अन्तर-इच्छा थी कि इस आयोजन को आध्यात्मिक रूप दिया जाय। कम से कम प्रचार व कम से कम आडम्बर हो! हमने मुनिश्री की भावना को ही आदेश मानकर प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ का आकार-प्रकार भी बहुत लघु कर दिया, ताकि हमारी श्रद्धाभिव्यञ्जना भी हो जाय और अधिक प्रदर्शन की भावना न झलके। अभिनन्दन समारोह के अनेक आयोजनों में 'मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ' एक आयोजन है, जिसका दायित्व मैंने अपने ऊपर लिया था। इसके सम्पादन में श्रद्धेय श्री देवेन्द्रमुनिजी, महासती उमरावकंवरजी 'अर्चना' का जो मार्गदर्शन एवं सहयोग मिला है, वह अविस्मरणीय रहेगा। सम्पादन का प्रमुख भार तो श्री चन्दजी सुराना 'सरस' के कंधों पर डालकर मैं निश्चिंत था। उन्होंने अल्प समय में ही अत्यधिक श्रम व सूझ-बूझ के साथ ग्रन्थ को जो नयनाभिराम साथ ही जनोपयोगी रूप दिया है, वह पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत है।

मैं सम्पादक बन्धुओं तथा मुनिश्री हजारीमलस्मृतिप्रकाशन ब्यावर, कार्यालय के प्रमुख उत्साही कार्यकर्ता श्रीमान सुजानमलजी सेठिया आदि का हृदय से आभार मानता हूं और आशा करता हूं हमारा यह सत्प्रयास सुधीजनों में श्लाघनीय होगा …

—**चांदमल चौपड़ा**

महावीर-जयन्ती

१५ अप्रेल, १९७३ (ब्यावर)

देवता बान्धवा सन्तः

संत- सबसे बड़े देवता व जगद्बंधु हैं।

अनुक्रमणिका

१ जीवन-दर्शन

२ संदेश, शुभकामनाएं, अभिनन्दन !

●

३ धर्म, दर्शन एवं संस्कृति

४ इतिहास और परम्परा

व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विश्लेषण

स्वामी श्री ब्रजलाल जी

● श्रीचन्द सुराना 'सरस'

मनुष्य की कर्तव्यविधि का विश्लेपण करते हुए भगवान महावीर ने कहा है—

अट्ठकरे णामं एगे णो माणकरे।
माणकरे णामं एगे णो अट्ठकरे।
एगे अट्ठकरे वि माणकरे।
एगे णो अट्ठकरे, णो माणकरे।

कुछ व्यक्ति सेवा आदि कर्तव्य करते हैं, किंतु उसका अभिमान नहीं करते।
कुछ अभिमान तो वहुत करते हैं, किंतु कार्य कुछ नहीं करते।
कुछ कार्य भी करते हैं, और उसका अहंकार भी करते हैं।
कुछ न कार्य करते हैं और न अहंकार ही करते हैं।

प्रथम श्रेणी का कर्तव्य-साधक सर्वश्रेष्ठ है, वह वहुमूल्य हीरा है, मूल्यवान मणि है—जो कभी अपना मूल्य अपने मुंह से नहीं वताता—**"हीरा मुख से ना कहे लाख हमारा मोल।"**

वह साधक सौरभ से महकता हुआ वह सुन्दर पुष्प है, जो अपनी सौरभ विखेर कर समस्त जगत् को मकरंद लुटाता रहता है, किंतु कभी अपने विषय में एक शव्द भी नहीं वोलता।

वह कर्तव्यनिष्ठ पुरुष अंधकार से निरंतर संघर्ष करते रहनेवाला दीपक है, जो प्रतिक्षण दिव्य ज्योति-किरणें फैलाता हुआ भी कभी अपनी महिमा की एक रेखा भी खींचकर नहीं दिखाता।

परम सेवाभावी संतपुरुष स्वामी श्री व्रजलालजी इसी कोटि के एक साधक हैं, जो निरंतर सेवा, साधना करते हुए, कर्तव्य की कठोर असिधारा पर चलते हुए—आज तक उसके गर्व से अछूते हैं। अपनी साधना के विषय में, अपनी सेवानिष्ठा के विषय में वे मौन है, कर्तृत्त्व का अहंकार करने की गर्वानुभूति उन्हें स्पर्श भी नहीं कर पाई है, ऐसा लगता है—सांख्यदर्शन का पुरुषवाद उनके कर्तव्यशील जीवन का आदर्श बन गया है। सांख्यदर्शन के आचार्य कपिल का कथन है—पुरुष सब कुछ करते हुए भी कर्तृत्त्व के अहंकार से शून्य रहता है—असंङ्गोयं पुरुषः[1] पुरुष—प्रकृति का स्वामी होते हुए भी मूलतः असंग, निर्लिप्त है। स्वामीजी अपने संत समुदाय में एक महान् कर्तृत्वसंपन्न सेवाभावी, सतत जागरुक संत रहे हैं, आज भी है, पर आप उनसे मिलिए, उनकी सहज, सरल बालक-सी निर्मल आंखों में झांकिए, मंद मुस्कान से युक्त उनकी मुख-मुद्रा को पढ़िए, उनके स्वाभाविक रहन-सहन व बोल-चाल का निरीक्षण कीजिए, कहीं भी आपको अहंकार की गंध नहीं आयेगी, गर्व की एक वक्ररेखा भी कहीं दिखाई नहीं देगी। सब कुछ करते हुए भी जैसे कुछ नहीं करते—ऐसा निर्विकार अहंकारशून्य भाव झलकता मिलेगा। उनकी कृति से, आकृति से, प्रकृति से सहजता टपकती है। उनके शरीर की हर रेखा सरलता और सात्विकता की प्रतीक है, उनके व्यवहार की प्रत्येक करवट—सहिष्णुता, सेवा और सच्चाई की छवि लिए हुए है। कहना होगा—

करते हैं कर्तव्य, किंतु जरा अभिमान नहीं है,
फूल खिला है, पर खिलने का मान नहीं है।
सब कुछ किया समर्पण जिसने निज जीवन को,
उनकी महिमा का होता कुछ अनुमान नहीं है ॥

स्वामीजी श्री व्रजलालजी का हृदय सरल है, बहुत सरल है—इतना सीधा कि जिसके लिए नीतिकार को कहना पड़े—

इतना सीधा न बन, जो हर कोई काटै।
इतना मीठा न बन, जो हर कोई चाटै ॥

उनके मन में कहीं घुमाव-फिराव नहीं, दुराव-छिपाव नहीं, जैसा भीतर मनमें भाव है, वही बाहर वचन में; और वह भी बिल्कुल सरल-सीधे शब्दों में प्रकट कर देते हैं। उनसे बातें करते हुए लगता है किसी बालक से बातें कर रहे हैं। बहुत बार मैंने अनुभव किया है—जब कभी जो बात उनके मन में आती है, वह सहज शब्दों में व्यक्त कर देते है, क्योंकि उनके भाव सरल रहते हैं, इसलिए वचन भी उनके मीठें लगते हैं, भले ही उनमें मिश्री जैसा कड़ापन भी क्यों न हो! ऐसा लगता है, भगवान महावीर की यह वाणी उनके मन के कण-कण में रमी हुई है—**सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।**

जो ऋजु है, सरल है, उसी की आत्मा शुद्ध रह सकती है, और उस शुद्ध पवित्र आत्मा में ही धर्म का निवास होता है। उनकी सरल आत्मा धर्म देवता का मंदिर बनी हुई है इसीलिए तो वह तर रही है, कहावत है—सीधा तरता है।

किसी नदी के किनारे हजारों आदमियों की भीड़ लगी थी, घाट पर लंबे-लंबे शहतीर नाव से उतारे जा रहे थे, जो किसी जंगल से तैयार करके लाए गये थे। लोग उन्हें देख

---

१ सांख्यदर्शन १।१५

रहे थे। एक संत उधर से निकले तो वे चुपके से शहतीर के पास में आये, जैसे दो क्षण उससे बात की हो, कान लगाकर उसके पास खड़े रहे और फिर खिसक गये आगे। लोगों ने पूछा—"महात्मा जी ! शहतीर से क्या कुछ पूछने गये थे ?"

हां, बात करनी थी—महात्मा जी ने कहा। लोगों की जिज्ञासा बढ़ी, बोले—क्या पूछा ? महात्मा ने कहा—तुम्हे देखने के लिए हजारों आदमी यहां क्यों एकत्र हुए ? ऐसी क्या विशेष बात है ? "शहतीर ने क्या जवाब दिया"—लोगों ने पुनः पूछा ?

"मैं बिल्कुल सीधा हूं, कहीं भी मुझ में गांठ नहीं है"—महात्मा ने शहतीर का उत्तर सुनाया !

वास्तव में सीधा, सरल, गांठ रहित निर्ग्रन्थ दर्शनीय होता है, पूजनीय भी होता है, स्पृहणीय भी होता है ! श्रीकृष्ण से गोपबालाओं ने जब पूछा—"आपको इस बांसुरी से इतना प्यार क्यों है ?" तो श्रीकृष्ण ने क्या उत्तर दिया ?

मुझ को प्रिय है बांसुरी !
ऊपर से नीचे तक देखो, कितनी सीधी और सरल।
नहीं हृदय में कही गांठ है, नहीं वक्रता, और न छल,
जब भी इससे बातें करता बोलती है रस भरी !
इसीलिए तो—मुझको प्रिय है बांसुरी !

वास्तव में मधुरता का वास भी सरलता में ही है। जहां सरलता नहीं, वहां की मधुरता, मधुरता नहीं।

सरलता के सिवाय मधुरता टिक ही नहीं सकती। कवि रसखान कहता है—

प्रीति सीखिये ईखतें, पोर-पोर 'रसखान',
जहां गांठ तहं रस नहीं, यही नीति की बान !

फिर साधु तो सीधा चाहिए ही, साधु होकर भी यदि सरल न हों, सीधा न हों तो आश्चर्य है ! साधु की सरलता में कोई आश्चर्य नहीं ! स्वामीजी श्री ब्रजलालजी के मन की, वचन की सहज-सरलता देखकर मुझे आश्चर्य नहीं होता, हाँ, आदर होता है, श्रद्धा उमड़ पड़ती है उनकी चरणधूलि स्पर्श करने को !

स्वामीजी के जीवन में साहस और सहिष्णुता की अनेक घटनाएं घटित हुईं हैं। युद्ध का नगाड़ा सुनकर जैसे क्षत्रिय का जोश उछालें भरने लगता है, भुजाएं फड़कने लगती हैं। वैसे ही किसी भय के वातावरण में, संघर्ष की लपटों में और कष्ट, परीषह एवं त्रासदायक क्षेत्रों में जाने की बात सुनकर स्वामी जी सबसे आगे आकर डट जाते हैं। 'राम करे तो हमसे लड़ें'—की भांति वे यही चाहते हैं, "वहां सबसे पहले मैं पहुंचू ! देखूं तो सही भय क्या है ? कष्ट क्या कहते है ?" वे कहा करते हैं—कायर कष्ट का नाम सुनकर अंधकार में छुप जाते हैं, बैठे-बैठे ही कांपने लगते हैं, किंतु यदि थोड़ा-सा साहस बटोर कर कष्ट को ललकार दिया जाय तो वह चोर की भांति चुपके से ही खिसक जाता है। साहसी के सामने भय और कष्ट कभी चो-नजर नहीं होते"—यह स्वामीजी का अपना अनुभव है। भगवान का यह संदेश उनके रक्त में रमा हुआ है—

अप्पाण भयं न दंसए ।[1]

अपने को कभी भयभीत मत होने दो !

क्योंकि डर के पास डर आता है,—**भीतं खु भया अइंति लहुयं**—भय के पास भय शीघ्र आता है। दीनता के पास दीनता आती है। हीनता के पास हीनता ! उनका कहना है—"तुम्हारा मन यदि साहस से भरा है, दुःख और कष्ट से जूझने को तैयार है, तो तुम्हारे दुःख आधे तो हो गये। साहस से दुःख आधा हो जाता है और भय से चौगुना !" मैंने जब उनकी सहिष्णुता, धीरज और परीषहों की बात पूछी तो सहजभाव के साथ वे बोले—"पत्थर हजारों टांकी सहता है तब महादेव बनता है। आदमी अगर कष्ट नहीं सहे तो वह आदमी कैसे बनेगा, फिर साधु तो सहनशीलता से ही साधु होता है। मन में धीरज न हो, सहनशीलता न हो, परीषहों से घबराता हो, वह आदमी साधु बन नहीं सकता। साधु का मार्ग तो सिर पर कफन बांधकर चलने का है—**मौत हमारे साथ**—साधु जीवन में कष्ट आये, इसमें कोई खास बात नहीं, खास बात तो यह समझनी चाहिए कि जो साधु जीवन धारण कर भी कष्ट नहीं उठाये। गृहस्थ को कष्ट सहे बिना धन भी नहीं मिलता, साधु को कष्ट सहे बिना मोक्ष कैसे मिलेगा—?"

मुझे लगा, जीवन के सम्बन्ध में उनका बड़ा गहरा अनुभव है। कष्ट को वे कसौटी मानते हैं, वरदान मानते हैं, और उनसे जूझने की पूरी तैयारी उनके मन में रही है, यही कारण है कि दीनता-हीनता, दुर्बलता, भयाकुलता कभी उनके मन को कंपित तक नहीं कर सकी। चाहे श्मसान में ठहरा दें, वहाँ भी एकाकी निर्भय सो सकते हैं, चाहे किसी विशाल भवन में ठहरा दें, वहाँ भी निस्पृह और निर्भय, और झोपड़ी में भी उसी भाव के साथ ! उनका जीवन सूत्र है—

दुःखेषु विगतोद्वेगः सुखेषु विगतस्पृहः,

दुःख में उद्वेग रहित, सुख में स्पृहा मुक्त ! चाहे उन्हें कोई गालियाँ दें, वे सुनकर चुपचाप रह जाते हैं, चाहे उनकी निन्दा करें वे एक शब्द का प्रत्युत्तर नहीं देते—वे कहते हैं—"आग में घी डालने से क्या लाभ ! डालना ही हो तो पानी डालो।"

हम आग बुझानेवाले हैं, हम आग लगाना क्या जानें !

स्वामी श्रीब्रजलालजी के संपर्क में आनेवाले लोगों का एक खास अनुभव है कि वे विनम्र तो हैं, किन्तु दब्बू नहीं हैं। छोटे से छोटे व्यक्ति के साथ वे नम्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं, हंसकर बोलते हैं और अपनी बात का कभी आग्रह नहीं करते, किसी पर अपने विचार थोपने की चेष्टा नहीं करते। यदि दूसरे के विचार ठीक हैं, तो उन्हें बढ़ावा देते हैं और अपने विचारों को अपने तक ही रख लेते हैं, किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वे किसी से दब जाते हैं। वे कहते है—"मैं किसी को अपने विचारों से दबाना भी नहीं चाहता और न दूसरों के सामने दबना ही पसंद करता हूं। दबना कायरता है, दबाना नृशंसता ! कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी आये कि मुझे विचार बदलने के लिए बड़े-बड़े दबाव डाले गये, महारथी मुनियों ने मुझे दबाने की चेष्टाएँ भी की, पर मैंने स्पष्ट कह दिया—धमकी से, भय से, या दबाव से मुझे नहीं झुका सकते, प्रेम और सरलता से, अपनत्व से मुझे झुका सकते हो। मैं अपने को कूटस्थ नहीं मानता, जैसा बना हूं या जैसा हूं वैसा ही हमेशा बना रहूं यह असंभव है, बदलता रहा हूं, बदल सकता हूं। परिवर्तन जीवन का धर्म है, मिलनसारिता मानव का गुण है, मुझे जिस समय जैसा

---

१ सूत्रकृतांग १।२।३।१७

साथी मिलता है, उसके स्वभाव के साथ मिल जाता हूं। पानी को जैसा वर्तन मिले उसी के अनुरूप अपने को ढाल लेता है, फिर मानव क्यों नहीं परिस्थिति व प्रसंग के अनुसार अपने को ढाले। हाँ मिलन-सारिता निश्छल और निस्वार्थ होनी चाहिए। यदि उसमें कपट की लपट होगी तो वह अवसरवादिता वन जायेगी। मैं जिस किसी के साथ मिलता हूं, निश्छल मन व उन्मुक्त हृदय के साथ मिलता हूं। जो मुझे समझ लेता है, मैं उसके समक्ष अपना समर्पण कर देता हूं—अपनी अन्तर्भावनाओं को शब्दों का ढंग देते हुए स्वामी जी ने यह वताया। पुराने मधुर संस्मरणों की याद में कभी-कभी वे गहरे डूव जाते हैं और माधुर्य से भींगे हुए वोलते है—गुरुदेव (स्वामी श्री जोरावरमलजी) जब उदररोग की असह्य पीड़ा से आक्रांत हुए तो मैं रात-दिन उनके निकट रहता था, खाना-पीना-वोलना और अन्य सभी प्रवृत्तियों में मुझे कोई रस नहीं रहा—उनकी पीड़ा मुझे अपनी पीड़ा जैसी लगती, अपने मन में वैचैनी अनुभव करता। चाहे भयंकर गर्मी हो या हड़कंप मचानेवाली सर्दी, मुझे उसका अनुभव ही नहीं रहता, जव रात-विरात में वे जागते तो मैं जाग जाता, सतत उन्हींके निकट सोता और अपने आपको उनके लिए समझता! स्वामी श्री हजारीमलजी म० के अस्वस्थताकाल में भी मुझे उसी प्रकार की पीड़ानुभूति रहती। अन्य कोई मुनिवर भी जव मेरे पास रहते हैं और उनकी सेवा का प्रसंग आता है तो पता नहीं क्यों, उनकी वेदना की अनुभूति मेरे मन को भी कुरेदती रहती है. ऐसा लगता है, यह वीमारी उनको ही नहीं, मुझे भी है और मैं हर चंद कोशिश करने के लिए विवश हो जाता हूं।"—यादों की गहराई में उतरे हुए स्वामीजी ने अपने कुछ संस्मरण भी सुनाए हैं।

"एकवार जव भीनासर सम्मेलन करके आये और उपाध्यायश्री अमरमुनिजी ने कुचेरा में चिकित्सा कराई तो मैं साथ ही था। उनकी दवा और पथ्य आदि की सव योग्य व्यवस्था थी, वे स्वयं भी पथ्य आदि का वहुत ध्यान रखते थे, पर, मुझे लगता था, मैं ही दवा ले रहा हूँ, इसलिए पथ्य आदि के लिए वार-वार टोकता रहता। दवा आदि के लिए भी पूछता रहता। मेरी इस आदत को कुछ लोग ठीक समझते हैं, कुछ अति भावुकता, पर कवि श्रीजी ने कभी मुझ पर चिढ़ नहीं की, हाँ, मजाक में मुझे 'डाक्टर साहव" जरूर कहते, और आज भी जव कभी पत्र आते हैं तो 'डाक्टर साहव' नाम से ही लिखते हैं। मैं रोगी की इच्छा को उतना महत्व नहीं देता, जितना उसके स्वास्थ्यानुकूल पथ्य आदि को। हित के लिए कड़वी दवा देने और कड़वी वात भी कहने को तैयार रहता हूँ—यह आदत की लाचारी समझिए या भावुकता!"

अध्ययन की दृष्टि से भी स्वामी श्री व्रजलालजी काफी जागरूक रहे हैं। दीक्षा के वाद जव प्रारम्भिक अध्ययन चालू हुआ तो गुरुवर श्री जोरावरमलजी म० ने आपकी रुचि को वड़ी गहराई से परखा। संस्कृत एवं प्राकृत भापा का पठन आवश्यक है, किन्तु उस रूखे विपय में आपकी रुचि अधिक नहीं थी। कुछ दिनों के पश्चात् आपकी रुचि की धारा ने आगमों के अध्ययन की ओर मोड़ लिया। देशी भापा में लिखे गये टव्वों के आधार पर जैन शास्त्रों का अध्ययन किया और वड़ी रुचि के साथ। थोकड़ों में, आगम चर्चा में और उनके निरन्तर परिशीलन में आपकी विशेप रुचि रही इसलिए उनका गंभीर ज्ञान सहज ही में प्राप्त कर लिया।

भापा ज्ञान की अपेक्षा कला में आपकी अधिक दिलचस्पी थी। वचपन से ही जव अक्षर लिखने प्रारम्भ किये तो उनमें कुछ सहज सुघड़ता और सौष्ठव था। आगे जाकर आपने अक्षरलिपि

और अच्छी सुधार ली। घसीट लिखावट को लोग विद्वत्ता की पहचान मानते हैं,पर आपका कथन है "जैसे जल्दी-जल्दी अस्पष्ट बोलना दोप है,वैसे ही जल्दी-जल्दी अस्पष्ट घास काटते हुए जैसे लिख देना भी लिपि का दोप है। अक्षर सौन्दर्य का अपना महत्व है। धीरे-धीरे जमाकर सुन्दर लिखने से तन्मयता आती है, लिखे जानेवाले विपय का ज्ञान भी होता रहता है, और स्वाध्याय जैसा आनन्द भी मिलता रहता है। शरीर-योगों की स्थिरता का भी अच्छा अभ्यास होता है और समय कैसे बीत जाता है, कुछ पता नही चलता।" यह स्वामीजी का अनुभव है।

अब तक विभिन्न विपयों के ग्रन्थ आपने लिखे (लिपि की) हैं, उनका योग किया जाय तो अनुमानत: ४०-५० हजार श्लोक प्रमाण से अधिक ही होगा।

आपका स्वर बड़ा मधुर है, जब भजन, स्तवन या चोपी आदि गाते हैं तो स्वयं तो तन्मय हो ही जाते है, श्रोताओं को भी तन्मय बना देते हैं। वास्तव में गायक जब तक स्वयं तन्मय नहीं होता तो उसके संगीत पर श्रोता तन्मय कैसे होगें? तन्मयता से ही तन्मयता पैदा होती है।

अवकाश के समय में स्वामीजी या तो माला जपते मिलेंगे या कोई तवन, स्तोत्र आदि गुनगुनाते! वे कभी निकम्मे नहीं रहते। आलसी की तरह पड़े-पड़े भी नहीं रहते। स्फूर्ति और ताजगी जवानों से भी ज्यादा है। सक्रियता है, और कुछ न कुछ करते रहने की धुन है। इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु में भी उनमें तेज है, सक्रियता है, जागरूकता है और कर्तव्यनिष्ठा है।

स्वामाजी ने ज्योतिप-विद्या का भी अच्छा अध्ययन किया है। आपका अनुभव है—"ज्योतिप में पढ़ाई से भी ज्यादा कढ़ाई (अनुभव) काम में आती है। ग्रहों की गति का व्यावहारिक दृष्टि से फलाफल विचारना और उनका देश कालोचित परिस्थिति के संदर्भ में विचार करना—इसी में ज्योतिप विद्या की सफलता है।" अप्रासंगिक विचार पर आप एक चुटकला सुनाते हैं—"किसी राजसभा में दो ज्योतिपी पहुंचे। दोनों ही ज्योतिप विद्या के अच्छे ज्ञाता थे। लगन लेकर तुरन्त प्रश्न का उत्तर देते थे। राजा ने परीक्षा लेनी चाही। भीतर कमरे में जाकर राजा वापस आया और हाथ को भीतर शाल में छुपा कर बोला—ज्योतिपीजी महाराज! बतलाइए मेरी मुट्ठी में क्या है?

पहले ज्योतिपी ने लगन लिया। ज्योतिप सम्बन्धी धारणाओं पर विचार कर बोले—राजन्! आपके हाथ में कोई गोल चीज होनी चाहिए, वह सफेद भी है, मिट्टी की भी है और उसके बीच में छेद भी है। राजा ने पूछा—उसका नाम क्या है? पंडित ने कुछ देर सोचकर कहा—"चक्की का पाट होना चाहिए।"

सभी लोग हंस पड़े। राजा ने भी सिर हिलाया। फिर दूसरे पंडित से पूछा गया। उसने सोचकर बताया—'आपके हाथ की वस्तु गोल जरूर है, सफेद भी है, उसके सिर पर छेद भी है मिट्टी की भी है; पर वह चक्की का पाट नहीं, वह मोती होना चाहिए।" राजा ने प्रसन्नता के साथ मुट्ठी खोली तो सचमुच में मोती ही निकला।

तो यह अन्तर ज्ञान का नहीं, अनुभव का था, पढ़ाई की विशेपता नहीं, यह कढ़ाई की विशेपता थी! यह अनुभव गुरु सेवा से, व्यावहारिक बुद्धि से और मानसिक शुद्धि से प्राप्त होता हैं।"

स्वामीजी का ज्योतिप ज्ञान अनुभव पूर्ण है। वे प्रथम तो फलाफल बताते नहीं, किन्तु उसका विचार कर लेते हैं, यदि बताते हैं तो सिर्फ ग्रह गति व कुंडली के आधार पर ही नहीं, किन्तु उसे

व्यावहारिक वुद्धि से सोचकर वताते हैं, ज्योतिप को वे जीवन में उपयोगी विद्या मानते हैं, किन्तु विश्वास व विवेक के साथ ···!

स्वामी श्री व्रजलालजी के अन्तरंग की एक झलक आपके सामने प्रस्तुत है। इस आधार से आप उनकी धीरता, गंभीरता, विनम्रता, सरलता, सहिष्णुता आदि सद्गुणों की दिव्य छवि का दर्शन कर सकते हैं।

स्वामी जी का जन्म आज से ७२ वसन्तपूर्व वि० सं० १९५८ माघसुदि ५ को हुआ। आपकी जन्मभूमि तो तिंवरी (राजस्थान) है, किन्तु आपके जन्म से न सिर्फ राजस्थान, किन्तु मध्यप्रदेश भी गौरवान्वित हुआ है। आपका जन्म अपने ननिहाल में हुआ, जो रायपुर (मध्य प्रदेश) के पास एक छोटा सा ग्राम है—**गडाइपंढरिया**। आपके पिता जी श्रीअमोलकचंदजी श्रीश्रीमाल (ओसवाल) भी व्यापार के निमित्त उधर ही चले गये थे, राजनांद गांव में कपड़े की दुकान की। लोगों में अच्छी प्रतिष्ठा व साख थी। घर में लक्ष्मी की चहल-पहल से हर कोना हंसता रहता था।

भाग्य की विचित्रता! कुछ ही समय वाद पिता का सुखद साया आपके ऊपर से उठ गया। माताजी श्री चंपावाई वड़ी साहसी और सूझवूझ की धनी थी। संकट के समय वड़ी सहनशीलता से काम लिया, धीरज नहीं छोड़ा, वच्चे के पालन-पोपण, अध्ययन आदि में कमी नहीं आने दी।

कुछ समय वाद माताजी अपने पुत्र के साथ मारवाड़ में तिंवरी आ गई, वहां वे धर्मध्यान में अधिक मग्न रहने लगी। माताजी के मन के संस्कार आप के मन पर भी प्रभाव डालने लगे। उनकी वैराग्यवृत्ति, निस्पृहता और संसार से उदासीनता ने आपको भी वैरागी वना दिया। और वह वैराग्य कच्चा नहीं, पक्का निकला। ११-१२ वर्ष की आयु में ही आपने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। माताजी ने कहा—वेटा! वैराग्य तो पहले मुझे हुआ, और दीक्षा पहले तू ले रहा है, ऐसा नहीं हो सकता। मुझे भी संसार त्यागकर दीक्षा लेनी है। माता और पुत्र दोनों ही परमप्रतापी स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज की सेवा में पहुंचे। गुरुदेव की पारखी नजरों ने दोनों के अन्तस्तल में लहराते असली वैराग्य को पहचान लिया। पर, कुछ व्यावहारिक कारण भी थे, और कुछ माताजी के धीरज की और परीक्षा भी लेनी थी—गुरुदेव ने कहा—"पहले व्रजलाल की दीक्षा होगी, तुम्हारा क्या विचार है?"

माता जी कुछ देर असंमजस में पड़ी रही—"गुरु जी गुड़ ही रहे, चेला शक्कर वन गये—वेटा तो साधु वन जायेगा और मैं यों ही संसार में फंसी रहूं।" उनकी मन.स्थिति वड़ी विचित्र थी। आखिर गुरुदेव के आश्वासन पर पुत्र को दीक्षा देने चंपावाई तैयार हो गई। वि० सं० १९७१ वैसाख-सुदि १२ को व्यावर में आपका दीक्षा संस्कार हुआ। ठीक उसके ४ मास वाद माताजी श्री चंपावाई ने भी दीक्षा ग्रहण करली। चंपावाई, उस समय की सुप्रसिद्ध साध्वी (जयमल सम्प्रदायस्थ) श्री गंगाजी की शिष्या वनी। सच्ची लगन फलवती होती है। सच्चा वैराग्य कभी उतरता नहीं।

लगभग ५९-६० वर्ष की इस सुदीर्घ दीक्षा पर्याय में स्थविरवर स्वामी श्री व्रजलालजी ने जो अखण्ड चारित्र साधना की है,सेवा की अखण्ड लौ जलाई है,विनय एवं सरलता की जो दिव्यता प्राप्त की है, आत्मा को निर्मल एवं संयमनिष्ठ वनाने में जो सतत जागरूकता वरती है, वह हम सवके लिए आदर्श है, प्रेरक है, और हृदय की असीम श्रद्धा के साथ अभिन्दनीय है।

●●

स्वामीजी महाराज एक कुशल गायक है, वे जब आनन्दघनजी, विनयचन्दजी, देवचन्दजी, यशोविजय जी, पूज्य जयमलजी, आचार्य रायचन्दजी आदि प्राचीन कवियों के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए भजन गाते हैं तब श्रोता आनन्द से झूम उठते हैं। उन्हें सैकड़ों भजन आदि कंठस्थ हैं साथ ही गला भी उतना ही अधिक मधुर है।

वे प्राचीन जैनलिपि के कुशल सुदक्ष ज्ञाता है, वे कुशल लहिया हैं, मोती के दाने के समान उनके सुन्दर अक्षर है, उन्होंने अनेकों जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियां उतारी हैं।

स्वामीजी महाराज स्नेह की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं, उनके हृदय में स्नेह का सागर उछालें मार रहा है। जो भी उनके सन्निकट में रहता है उसे उनके मधुर स्नेह का अनुभव हुए बिना नहीं रहता है।

प्रस्तुत अभिनन्दन स्वामीजी महाराज का नहीं, किन्तु उनमें रहे हुए सद्‌गुणों का है। उनका जीवन सद्‌गुणों का गुलदस्ता है, उसकी मधुर महक हमें दीर्घकाल तक मिलती रहे, यही मंगल-कामना और भव्य-भावना है।

●●

● महासती प्रीतिसुधाजी
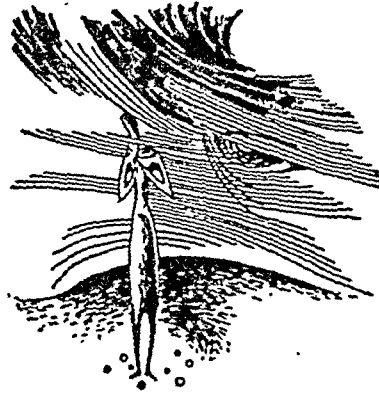
जीवन के सच्चे कलाकार स्वामीजी श्री ब्रजलालजी
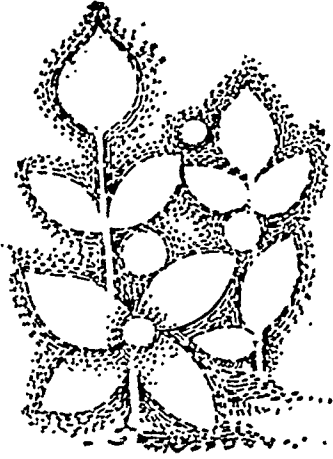
श्री ब्रजलाल जी महाराज जैसे सरल आत्मा की सुदीर्घ चारित्रपर्याय एवं श्रुतसेवा के उपलक्ष्य में यह सुन्दर और रचनात्मक कार्यक्रम आयोजित किया है, यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई। संतों के स्मरण मात्र से ही हृदय में भाव-भीनी तरंगे अपने आप उभर आती है। पूज्य ब्रजलालजी महाराज जैसे एक जैन संत के विषय में कुछ लिखना याने त्याग, संयम और सहनशीलता के सागर को चन्द शब्दों की गागर में बन्द करना है। एक और मानव भौतिकता की चकाचोंध में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की आग में झुलस रहा है तथा दूसरी ओर ये आध्यात्मिक साधना करनेवाले साधक इच्छाओं पर विजय प्राप्तकर शान्ति के सागर में मस्ती से डुबकियाँ लगाने का आनन्द लूट रहे हैं।

मन पर विजय प्राप्तकर साधक !
भवभव पार उतर जाता ॥
इसीलिए श्रीव्रज मुनिवर ने।
जोड़ा संयम से नाता ॥

व्रत भारतीय संस्कृति का आदर्श है। भारत धर्मप्रधान देश है। प्रारम्भ से ही यहाँ त्याग और त्यागियों की ही पूजा होती आ रही है। वड़े-वड़े राजा, चक्रवर्तियों ने अपना सिर व्रतियों के, त्यागियों, के संयमियों के चरणो में झुकाया है। किसी उर्दू शायर ने कहा है—

एक अनोखा व्यक्तित्व

स्वामीजी श्री ब्रजलालजी

● देवेन्द्र मुनि, शास्त्री

सामान्य व्यक्ति कहाँ और किस समय जन्म लेता है, उसका लालन, पालन व पोषण किस प्रकार होता है, यह जानने की किसी को जिज्ञासा नहीं होती, किन्तु जब व्यक्ति व्यष्टि की सीमा को लांघकर समष्टिमय बनता है, उसका कार्य और उसकी विचारधारा 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' होती है तो उसके जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण को जानने की भावना जन मानस में अठखेलियाँ करने लगती हैं। उसका प्रत्येक क्रिया-कलाप जन-मानस जानना चाहता है। उसकी शारीरिक चेष्टाएं, मानसिक व्यापार, तथा बौद्धिक चिन्तन के आलोक सहस्रावधि व्यक्तियों में बिखरते हैं और उनमें नव-जीवन फूंकते हुए सुपुप्त भावनाओं को जाग्रत करते हैं, वह सबके लिए आदर्श बन जाता है।

जिनका जीवन महान् और गौरवशाली रहा है, ऐसे व्यक्तियों को शब्दों में बांधना बहुत कठिन है, पर यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्ति ही शब्दों में बांधे जाते हैं, जिनके जीवन में न तेज होता है, न प्रवाह होता है और न बहा ले जाने की शक्ति होती है, उनका व्यक्तित्व शब्दों में छिपकर रह जाता है, जिनके जीवन में हजारों विशेषताएं होती हैं, सद्गुणों की सौरभ होती हैं उनके विशिष्ट और शिष्ट व्यक्तित्व को शब्द पकड़ नहीं पाते हैं। मुनि श्री ब्रजलाल जी महाराज के व्यक्तित्व को बांधने

के लिए सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह जितना अधिक बांधा जाता है उससे कहीं अधिक वह बाहर रह जाता है, उनकी गुरुता और महानता के सम्मुख शब्दों के बाट बहुत ही हलके पड़ते हैं।

मुनि श्री के सम्बन्ध में मुझे लिखने के लिए कहा गया है, पर मैं क्या लिखूं ? जिनको हम निकटता से जानते हैं, उनके सम्बन्ध में कहना और लिखना उतना ही कठिन है जितना प्रसुप्तप्रज्ञा के द्वारा शक्ति को सीमाबद्ध करना।

मैं उनको अपने बचपन से जानता हूं, महीनों तक निकट सम्पर्क में भी रहा हूं, अनेकबार मन में सोचा था कि उनके बारे में सुविधा के क्षणों में अनुभूतियां लिखूंगा। उनके व्यक्तित्व को जितनी निकटता से देखा है उतना ही निखरा हुआ पाया। उनके पारदर्शी ज्योति-विस्फारित नेत्रों से विशद आनन्द और मधुर मोह का स्रोत बहता है, उनकी वाणी में मिठास, मार्मिकता और सहजज्ञान का एक प्रवाह सा रहता है, जिसे सर्व साधारण भी सहज ही ग्रहण कर सकता है।

दुनिया आज घृणोन्माद की शिकार हो रही है, लोभ और लिप्सा, भ्रम और क्रोध का दुर्निवार बोलबाला है। भ्रष्टाचार और पतन के युग में स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज के शान्त व गम्भीर चेहरे को देखकर कितनी प्रसन्नता होती। उनके प्रशान्त चेहरे पर एक दृष्टिनिक्षेप से ही दर्शक को अपूर्व शान्ति व आह्लाद प्राप्त होता है। सुदीर्घकाल तक संयम साधना, तप: आराधना और मनोमंथन करने के बावजूद भी वे कठोर और शुष्क नहीं हुए है। उनकी आकृति मंगलमयी है और प्रकृति प्रशस्त है। वे असाधारण प्रतिभा सम्पन्न, अमित आत्मबली, कुशल अनुशासक, अनुत्तर आचार-निधि आदि विविध उपमाओं से अलंकृत किये जा सकते हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता, जलधि का गांभीर्य प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही महापुरुष के व्यक्तित्व को निखारने की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वत: निखारित होता है।

स्वामीजी महाराज सरलता की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं, उन्हें बहुरूपियापन पसन्द नहीं है। चाहे दिन हो, चाहे रात हो, चाहे अकेले में हो, चाहे परिषद् में हो, चाहे सोते हो, चाहे जागते हों, सर्वत्र एकरूपता होनी चाहिए, सरलता होनी चाहिए, जहां सरलता है वहीं पर धर्म है। यही उनके जीवन का मूलमंत्र है। चापलूसी, उन्हें पसन्द नहीं है, वे कभी-कभी बहुत अधिक स्पष्ट हो जाते हैं, चाहे कोई प्रसन्न हो या नाराज, उन्हें कोई चिन्ता नहीं, सत्य तथ्य को छिपाना उन्होंने सीखा ही नहीं है।

स्वामीजी महाराज हमेशा सिद्धान्तवादी रहे हैं। अपने को सिद्धान्त के सामने झुकाना उन्हें पसन्द नहीं है। जीवन में नम्रता व कोमलता होने पर भी वे अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। व्यक्ति अपना हो या पराया, किन्तु सिद्धान्तों की बलि देकर कभी भी समझौता करना सीखा ही नहीं है, यही कारण है कि जनता के मन में उनके प्रति अपार श्रद्धा है। उनके सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण को शायर के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—

राहे - खुद्दारी से मरकर भी भटक सकते नहीं।
टूट तो सकते हैं हम, लेकिन लचक सकते नहीं॥

स्वामीजी महाराज का जीवन सेवानिष्ठ जीवन है। जीवन के प्रभात से ही वे सन्तों की सदा सेवा करते रहे हैं। उनकी सेवा-भावना को देखकर मुझे कई बार नन्दीषेण मुनि का स्मरण हो आता है।

२

तही-दस्ती का दर्जा अह्ले दौलत से ज्यादा है।
सुराही सर झुकाती है जबकि जाम आता है॥

भौतिक वैभव से अपने आपको खाली रखनेवाले स्वामीजी श्रीव्रजलालजी महाराज ने अपनी जीवन वाटिका में, संयम के साथ स्नेह, सेवा, संतोष एवं समता के मनोहारी पुष्पों को खिलाया है। आपमें बालक सी मासूमता, युवकों-सा उत्साह और बुजुर्गों-सी गहराई रूपी त्रिवेणी के दर्शन समय-समय पर होते रहते हैं। आप जीवन के सफल कव सच्चे लाकार हैं। हस्ताक्षरों की सुन्दरता, ज्योतिषशास्त्र की निपुणता एवं कलाप्रियता आपकी खासियत है।

कलाकार जीवन के हो तुम,
आत्म - कला पे ध्यान दिया।
हे व्रज मुनिवर धन्य आपको,
सार - सार को ग्रहण किया॥

"जगत को तारनेवाले जगत में संतजन ही हैं।" इस काव्यपंक्ति की सच्चाई पूज्य श्री व्रजलालजी महाराज के जीवन को देखने के बाद वास्तविक प्रतीत होती है। सहृदयता, सहनशीलता, पर-दु:ख कातरता आदि सद्गुण जो संतजीवन में अपेक्षित हैं, वे सब आप श्री में विद्यमान हैं। आप औरों के लिए कुसुम से कोमल और अपने लिए वज्र से भी कठोर हैं। आपने ऐसी साधना का अवलम्बन लिया जिसमें न इस लोक की चिंता, न परलोक का भय। वैसे ही निर्भयता आपके जीवन का बहुत बड़ा हथियार है।

भय है तब तक, जब तक प्राणी,
पापकर्म में बहता है।
व्रजमुनि-सी निर्मल आत्मा से,
भय खुद भयभीत रहता है॥

लाख कोशिश के बाद प्राणी को मानव जन्मरूपी बिजली की चमक प्राप्त होती है। और यहां आकर वह इन्द्रियों की भूलभुलैया में अपना रास्ता भटक जाता है। इन पांच चोरों से बचने की बात कहना जितना सरल है उतना ही कठिन है इन लुटेरों से बचके दिखाना। "साधना करेंगे तो परभव में सुख पायेंगे" इस लालच से जबरदस्ती अपने आपको बन्धन में डालना इसका नाम साधना नहीं है। जिस साधना में आनन्दानुभूति नहीं है, वह साधना ही कैसी? साधक, साधना में इतना समरस हो जाए कि मैं इन्द्रियों के विषयों का दमन कर रहा हूं ऐसा उसे आभास भी न हो। स्वामी श्रीव्रजलालजी महाराज ने जीवन के सच्चे रहस्य को समझकर इन्द्रियों की गुलामी से मुक्ति पायी है और बिजली की चमक में मोती पिरोने का काम कर रहे हैं। ऐसे निपुण संतों की साधना का अनुमोदन करना भी अपने लाभ की बात होगी—

मन मतंग को महत् मनस्वी,
मान कभी ना देते हैं।
त्याग तपस्मय प्रभु - प्रीति से,
जीवन नैया खेते हैं॥

लघुता प्रभुता की कुंजी है। विना लघुता अपनाए सेवा हो नहीं सकती, सेवाभाव के अभाव में स्नेहभाव पनप नहीं सकता और स्नेह के अभाव में जीवन वगिया महक नहीं सकती। क्रोधादि कषायों पर विजय मिलने के वाद ही आदमी लघुता की ओर उन्मुख हो सकता है। स्वामीजी श्री व्रजलालजी महाराज विनम्रता की साकार प्रतिमा है। दर्प का सर्प आपसे कोसों दूर है। सामान्य प्राणी प्रतिष्ठा के महल में चढ़ने के लिए क्रोधादि कषायों का सहारा लेते हैं। वे भूल जाते हैं कि ये ही राक्षस मनुष्य को मनुष्यता से नीचे उतारते हैं। आज के इस कोलाहल के युग में स्वामीजी जैसे कामजयी, मानजयी महात्मा ही सच्चे शांति के आस्थान है। अगर इस दुनिया में संत विभूतियां न होतीं तो अंधेरे में भटकनेवाले अज्ञानियों को रास्ता मिलना मुश्किल हो जाता।

खुद ही तपकर पूज्य संतगण,
पर - पीड़ा को हरते हैं।
स्वयं प्रकाशित होकर जग को,
प्रीति - सुधा से भरते हैं॥

जीवन संग्राम है और मृत्यु विराम। भौतिक संग्राम न जाने कितने हुए हैं, कितने हो रहे है और कितने होनेवाले हैं। भगवान महावीर ने फर्माया है—

'जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे,
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥

मानसिक द्वन्द्वों पर विजय पानेवाला ही सच्चा विजयी कहलाता है। अगर दुनिया का हर एक प्राणी औरों से झगड़ने की अपेक्षा अपनी बुराइयों से लड़ना सीखे, तो कई समस्याएं अपने-आप हल हो जायेंगी। समझ जीवन का सच्चा सिंगार है। स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज ने विनय गुण, समझ और संयम के वल से कर्मशत्रुओं के साथ सुदीर्घकाल से सफल संग्राम किया है। और पूज्य गुरुदेव की आज्ञा को जीवन में उतारा है।

कायर कहलाता है वह नर,
जो नहीं क्षमा शस्त्र अपनाता।
और भीरु भी वह है,
जो कर्मोंपर विजय नहीं कर पाता॥

मन आज प्रसन्न है और स्वर्णजयन्ती के इस पावन-प्रसंग पर परम श्रद्धेय स्वामीजी के चरणों में टूटी भाषा से युक्त भावसुमनों को श्रद्धा के साथ अर्पित करना चाहता है।

सजग प्रहरी हो शासन के तुम,
स्वीकृत हो विधिवत वंदन।
हर्षित मन से हम सब करते,
आज आपका अभिनंदन॥

●●

१ लेख के पेराग्राफ के प्रथम अक्षर जोड़ने से श्री व्रजलालजी म० वनता है।

आत्म कथा
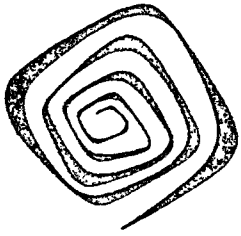
एक अर्द्ध शतक.... अपने जीवन का

— मुनि मधुकर

राजस्थानवासियों के लिए, और विशेषकर श्वेताम्बर जैनों के लिए 'ओसियां' नगरी का एक विशेष महत्व है। इस नगर का एक बड़ा इतिहास है, जो सात्विकगरिमा, जीवन की नई दृष्टि, और विचार-आचार की नई सृष्टि से मंडित है। 'ओसवाल' कहलानेवालों में 'ओसियां' के नाम से आज भी एक चेतना लहरा उठती है, एक ऐतिहासिक दिव्य-भव्य आकृति उनकी आँखों के सामने नाचने लगती है और एक सात्विकगौरव से उनका सीना फूल उठता है, आंखों में कुछ तेज-सा दमक जाता है।

क्रांति का पुनरावर्तन :

कई सौ वर्ष पूर्व एक प्रभावशाली जैन आचार्य श्री रत्नप्रभसूरि ने एक नई क्रांति का पौधा रोपा था, इसी औसिया के प्रांगण में। महावीर युग की पुरानी घटना का, नये संदर्भ में, नया अवतरण किया गया था। भगवान महावीर के युग में मानव जाति ऊंच-नीच ब्राह्मण-शूद्र आदि के भेदों में वटी हुई थी, छोटे-वड़े की खाईयों में अलग-अलग डूवी पड़ी थी। उनके सामाजिक रीति-रिवाज ही नही, धार्मिक क्रिया कर्म भी अलग-अलग थे। हर वर्ग, हर वर्ण और हर जाति का अलग धर्म था, उसकी अलग ही नैतिकता थी—अलग ही मानवता! भगवान महावीर ने इस वर्णवाद की गहरी खाई को पाटने का प्रयत्न किया, उसकी दुर्भेद्य दीवारों को तोड़ने की चेष्टा की और विभिन्न वर्ण, वर्ग, जाति व पंथ के मनुष्यों के लिए एक सार्वभौम धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। उस धर्मतीर्थ में जो भी आया—चाहे वह शूद्र था, चंडाल पुत्र था, खेतिहर किसान था, लुहार था, कुम्हार था, वैश्य था, नगरश्रेष्ठी था, क्षत्रियकुमार था या वेदों का अध्येता ब्राह्मण कुमार। सव वहां आकर एक मानव-धर्म में

दीक्षित हो गये। उस धर्मतीर्थ में आनेवाले प्रत्येक मानव का एक ही सार्वभौम धर्म था, एक ही उच्च ध्येय था, एक ही महातिमहान् लक्ष्य था—विजय ! आत्म-विजय ! इन्द्रिय-विजय ! व्यवहार एवं विचारों की शुद्धि ! अपने युग की यह एक महान धर्मक्रांति थी।

समय की दीर्घयात्रा में क्रांति के इस झंडे पर पुनः रुढ़िवाद, वर्णवाद एवं वर्गभेद की धूलि जमने लग गई थी। जम चुकी थी। उस क्रांति का केसरिया रंग फीका पड़ चुका था। पुनः मानव समाज धर्म के आधार पर खण्ड-खण्ड हो गया था। जैनधर्म कुछ वैश्य व कुछ राजवंशी लोगों तक ही सीमित रह गया था। विशाल नदी सूखकर छोटी-सी तलैया बन गई थी।

ओसवाल संघ की स्थापना

आचार्य रत्नप्रभसूरि ने इस धार्मिक-जड़ता को समाप्त करने का पुनः एक भगीरथ प्रयत्न किया। एक साहसिक और ऐतिहासिक कदम उठाया। अलग-अलग वर्गों में बंटे मानवों को पुनः व्यवहार एवं विचारशुद्धि के आधार पर संगठित किया, एक झंडे के नीचे एकत्र किया। इस एकीकरण में, या व्यवहार-शुद्धीकरण में, क्षत्रिय, वैश्य तो सम्मिलित थे ही, ब्राह्मण, और शूद्र भी पूरी स्वतंत्रता और पूरी निष्ठा के साथ आये। उस समय के क्षत्रियों में मांसाहार व मद्यपान का खूब प्रचार था, इधर ब्राह्मण वर्ग भी इस रोग से अछूता नहीं था, शूद्र क्षुद्र था ही, उसके लिए मांसाहार व मद्यपान कोई बुरा कार्य भी नहीं था। लुहार, कुम्हार, तेली, आदि निम्न जातियों के मोहल्लों में घूम-घूम कर उन्हें भी जगाया गया और तमाम जातियों को मांसाहार व मद्यपान के परित्याग' की शर्त के साथ पुनः एक धर्मतीर्थ में दीक्षित किया गया। ऊंच-नीच के समस्त भेदभावों को भुलाकर **'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं'** के महामंत्रोच्चार के साथ सब को 'जैनत्व' की दीक्षा दी गई और 'ओसवाल संघ' की स्थापना हुई। क्षत्रियों के साथ ब्राह्मण और शूद्र भी एक आसन पर आकर बैठे. सब में धार्मिक-बंधुत्व का संस्कार जगाया गया, सब में एक ही धर्मनिष्ठा, एक ही भगवद्भक्ति की लहर पैदा की गई। उनकी धार्मिकता एक थी, मानवता एक थी, नैतिकता का एक ही मानदंड था और यहां तक कि उन सबकी सामाजिकता भी एक हो गई। उस ओसिया नगरी में सम्पन्न होनेवाली धर्मक्रांति या व्यहारशुद्धि के तीर्थ में जो सम्मिलित हुआ वह 'ओसवाल' कहलाने लगा। आज की परिस्थितियों में इस सामूहिक परिवर्तन व शुद्धीकरण की घटना, जितनी आश्चर्यजनक लगती है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण और रोमांचक भी।

चतुर्वर्णी-संस्कार

'ओसवाल' आज जब अपने इस इतिहास को पढ़ता है, तो अवश्य ही उसका सीना सात्विक गौरव से चार अंगुल फूल उठता होगा। वास्तव में 'ओसवाल जाति' ब्राह्मण और शूद्र की भांति रुढ़िवादी या परम्परागत जाति नहीं है, वह एक क्रांति का प्रतिफल है, एक परिवर्तन का प्रतीक है। उसकी नसों में, उसके रोम-रोम में धार्मिक जागृति, विश्वबंधुत्व की चेतना, और व्यवहारशुद्धि की भावना भरी हुई है। इस जाति के रक्त में क्षत्रिय का तेज और जोश, ब्राह्मण का ज्ञान और गांभीर्य, वैश्य की चतुरता और व्यवहार बुद्धि तथा शूद्र की सेवाभावना एवं सहिष्णुता का संस्कार कूट-कूट कर भरा है। मेरे विचार में यही ओसवाल जाति की सच्ची गरिमा है, सच्ची संपत्ति है और उसका सही ऐतिहासिक रूप है। आज 'ओसवाल' अपने इस गौरव को भूल रहे हैं, और इसीकारण उनकी उन्नति, प्रगति एवं समृद्धि के स्रोत पहले से कुछ संकुचित हो गए हैं। कोई कारण नहीं कि वे यदि अपने गौरव एवं सार्व-

जातीय सस्कारों को आज जगाए रखें तो वे किसी क्षेत्र में पिछड़ हुए न रहें। इस जाति ने वीर योद्धा भी पैदा किए हैं, चतुर बुद्धिमान मंत्री व कुशलप्रशासक भी दिए हैं। साहसिक व चतुर व्यापारी तो आज भी अनेक मिलेंगे, तथा दानी, सेवाभावी एवं सहिष्णुता के मूर्तिमंत अनेक महापुरुषों को भी राष्ट्रीय-जीवन के विकास में समर्पित किया है।

अपनी बात

ओसवाल जाति के अतीत में मैं कुछ इसलिए चला गया हूं कि मेरा भी जन्म एक ओसवाल परिवार में हुआ और उसी 'क्रांति भूमि' ओसिया के ही अंचल में ! ओसवाल कहकर मैं अपने को जातीयगर्व से दीप्त नहीं मानता, किन्तु इसके निर्माण में कारणभूत रहने वाले सात्विक गुणों का उद्दीपन तो होना स्वाभाविक ही है, और मैं तो मानता हूं यदि प्रत्येक 'ओसवाल' अपने अतीत में झांकने का प्रयत्न करें, इस जाति के आविर्भाव की परिस्थितियों और उसके निमित्तकारणों का कुछ अध्ययन व अनुभव करें तो उसके हृदय में सहज ही सात्विक व जीवननिर्माणकारी गौरव का उद्दीपन होगा ही, यदि न हुआ तो उसे ठंडी मिट्टी मानना चाहिए, उसे मर्त्य (मानव) नहीं, किन्तु 'मृत' कहना चाहिए।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नरपशु निरा है, और मृतक समान है।

मेरी जन्मभूमि

'ओसिया नगरी' आज भी एक तीर्थस्थल बना हुआ है। हां, उसका प्राचीन वैभव व समृद्धि तो लुट गया है, किन्तु वहां के खंडहर उसकी कहानी अवश्य सुना रहे हैं। जोधपुर से रुणेचा के मार्ग पर यह 'ओसिया नगरी' अवस्थित है, और थली प्रदेश का एक ऐतिहासिक नगर है। इस 'ओसिया' से लगभग १३ मील दूर एक छोटा-सा कस्बा हैं 'तिवरी'। थली प्रांत की प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से भी यह कस्वा काफी सुन्दर व रमणीय है। स्वच्छता व सफाई की दृष्टि से यहाँ की जनता काफी जागरूक है और आधुनिक गति-प्रगति में भी पीछे नहीं है। रेलवे स्टेशन, राजपथ (सड़क) बिजली, नलकूप, डाकखाना, टेलीफोन, चिकित्सालय, विद्यालय आदि सभी सुविधाएँ इस गांव में उपलब्ध हैं। जोधपुर से जेसलमेर को जाने वाली रेलवे लाईन पर मथानिया व ओसिया के बीच 'तिवंरी' का रेलवे स्टेशन है।

पुराने लोगों से सुना है, किसी समय 'ओसिया' एक विशाल नगरी थी, हजारों जैन परिवार यहां रहते थे। और तिवरी उसी का एक मोहल्ला था, जिसे 'तेलीवाड़ा' कहकर पुकारते थे। पर आज तो यह 'ओसिया' से एकदम कटा हुआ-सा है, समय की आंधियों ने दोनों के बीच काफी लम्बा जंगल झाड़-झंखाड़ों से भर दिया है, रेतीले टीले भी खड़े कर दिये हैं।

तिवरी किसी समय में 'ओसवालों की नगरी' भी कहलाती थी। ओसवालों के लगभग ५०० घर यहाँ थे और वे काफी सम्पन्न व उद्योगी थे। माहेश्वरीजाति के भी अनेक परिवार यहाँ रहते थे। जब अकाल, सूखा और तज्जन्य आपत्तियाँ—चोरी-डकैती से इधर का भाग आक्रांत हुआ तो लोग इधर से आजीविका व अपनी सुरक्षा के लिए दूर-दूर के प्रदेशों के लिए निकल पड़े। जन्मभूमि मनुष्य को प्यारी होती है, पर जब वह उसका पेट भरने में भी असमर्थ रहे, और अपनी सतान को अपनी गोद में सुरक्षित भी न रख पाये—तो मनुष्य लाचार होकर उसे छोड़ता ही है। विलासिता ने शासक वर्ग को इतना अकर्मण्य बना दिया था कि वे अपने जन-धन की अभिवृद्धि तो क्या, पर आततायी वर्ग से

उसकी रक्षा करने में भी असफल रहा। "वींद के मुंह लार टपके तो विचारे जानी क्या करै" शासक ही जव नपुंसक वन जाय, और वह शोषक, तथा आततताइयों से सांठ-गांठ करने लगे तो प्रजा उसके भरोसे अपनी जीवन नैया कैसे छोड़ सकती है, और कव तक ? यही कारण रहा कि ओसिया और तिवरीं जैसे घने समृद्ध प्रदेश भी उजाड़ होने लग गये। यहाँ के उद्योगी परिवार अपने जन-धन को लेकर मध्यप्रदेश की हरी-भरी सुरक्षित भूमि की ओर चल पड़े। दुर्ग, राजनांदगाँव, रायपुर आदि की तरफ जाकर वे वस गये। अनेक परिवार खानदेश व महाराष्ट्र की ओर भी चले गये। और इधर का समृद्ध व सुखी प्रदेश उजड़ गया। सुन्दरियों की नुपुर झंकारों से मुखरित होने वाले गृह-प्रासादों की मुंडेरों पर अव उल्लू वोलने लग गये और प्रभुभक्ति के गीतों की ध्वनि व शंख-घंटारव से प्रतिक्षण निनादित रहनेवाले जिनमंदिर भी सुनसान हो गये। यही तो स्थिति का परिवर्तन है। कवीर ने कहा है—

सातों स्वर जहाँ गूंजते होते थे रंग-राग।
वे मन्दिर खाली पड़े वोलन लागे काग।

अकाल की भीषण काली छाया कुछ वर्षों वाद कम हुई, चोर-डकैतों का आतंक भी हलका हुआ तो पुनः कुछ परिवार अपनी जन्मभूमि की ओर लौट आये। पर पहले जैसी समृद्धि पुनः नहीं लौटी। दुर्ग, राजनाँदगाँव आदि नगरों में वसे हुए तिवरी के सैकड़ों जैनपरिवार आज यदि पुनः अपनी जन्म-भूमि को लौट आये तो संभवतः वह प्राचीन वैभव एकवार पुनः विहंस उठे और इस नगर को 'राजगृही' वना दे, पर यह कल्पना मधुर भले ही हो, संभव नहीं है। फिर भी तिवरी में पुनः काफी रौनक हो गई। यहाँ के दो विशाल जैन मन्दिर अपनी प्राचीन गरिमा के साथ आज पुनः गंध-धूप से सुवासित हैं, वहाँ प्रातः सायं आज भी घंटारव सुनाई देता है जिसमें भक्ति और प्राक्तन गरिमा की ध्वनियाँ गूंजती रहती हैं। यहाँ पर दो जैन स्थानक भी है, और कई प्राचीन उपाश्रय भी !

मेरे जन्म के समय तिवरी में अच्छी समृद्धि थी। व्यापार भी काफी अच्छा चलता था। जैन परिवार सम्पन्न तो थे ही, उनमें धार्मिक भावना व साधु संतों की सेवा की लगन भी वहुत थी। हरे-भरे उद्यान में, फले-फूले वृक्षों पर पक्षीगण आते ही हैं, मधुर फूलों का रस लेने मधुकर भी माधुकरी करते ही हैं, भक्तजनों की श्रद्धा और भावना से खिंचे मुनिगण भी नगर को पवित्र करते रहते हैं। इसी कारण संत-सतियां प्रायः इस नगर को पावन करते रहे हैं और श्राद्धजनों की भक्ति से प्रसन्न होकर इसे जैन आगमों में प्रसिद्ध **'तुंगिया नगरी'** से उपमित करते रहे हैं। वास्तव में किसी नगर की समृद्धि वहाँ के विशाल प्रासादों व लंवे-चौड़े वाजारों से नहीं आंकी जाती। श्रद्धालुजनों की धर्मभावना, संतों की सेवा व जनता की करुणामयी प्रवृत्तियों से ही वहाँ की समृद्धि का असली पता चलता है,और यही तो नगर की सच्ची श्री-शोभा है। 'जिस नगर में देव-गुरु की भक्ति होती हो, अतिथियों का आदर-सत्कार होता हो, और प्रत्येक नगरवासी परस्पर प्रेम से एक दूसरे का कल्याण चाहता हो वही नगर आदर्श नगर है।" वुद्ध की इस उक्ति में उस समय तिवरी एक आदर्शनगर था ऐसा पुराने लोगों से सुनने पर ज्ञात होता है।

मेरे माता-पिता

तिवरीं के जागीरदार पुरोहित थे जो कि जोधपुर के राजाओं के 'राजगुरु' माने जाते थे। वे जनता के सुख-दुख के लिए स्वयं चिंतित रहते थे और हर वात में जनहित का ध्यान रखते थे।

३

'पुरोहित' शब्द आज रूढ़ हो गया है, यदि इस शब्द का सही अर्थ देखा जाय तो वास्तव में जो जनता के हित को सबसे आगे (पुरः) रखे वही पुरोहित कहलाता है। पर आज अपना ही हित आगे (पुरः) रखने वाले पुरोहित अधिक मिलते हैं इसी कारण पुरोहित शब्द अपने आदर्श को खो चुका है, और एक जाति में रूढ़ हो गया है।

ओसवालों की सैकड़ों उपजातियाँ भी बन गई थीं, जिनमें एक थी धाड़ीवाल! जातियों के ये विचित्र नाम किस कारण से कब पड़े—इसका भी यदि अनुसंधान किया जाय तो अनेक रोचक व ऐतिहासिक बातें सामने आ सकती हैं, पर यह खोज आज तक नहीं की गई, और काल की परतों के नीचे, अनेक ऐतिहासिक तथ्य दब गये। खैर धाड़ीवाल जाति के वहाँ अनेक परिवार रहते थे और प्रायः उद्योगों व राजकीय सेवाओं में लगे हुए थे। इस परिवार के पुरखाओं ने प्रारम्भ से ही जागीरदार पुरोहित जी का विश्वास प्राप्त किया था, उनके कोठार (भण्डार) को संभालने की जिम्मेदारी भी उन पर ही थी। इसीकारण धाड़ीवाल परिवार का उपगोत्र 'कोठारी' भी हो गया।

धाड़ीवाल (कोठारी) परिवार में श्रीयुत जमनालालजी एक मधुर स्वभाववाले, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति हुए हैं। उनकी धर्मपत्नी का नाम था तुलसीबाई। जमनालालजी के तीन पुत्र थे—धनराजजी, फूलचन्दजी और मिश्रीमल (मैं—मधुकर मुनि)[1]। जमनालाल जी के बड़े भाई बगतावरमलजी के कोई पुत्र नहीं था, इसकारण उन्होंने धनराज जी को गोद (दत्तक) ले लिया। फूलचन्दजी का आयुष्य बहुत कम था, बचपन में ही वे दिवंगत हो गए। माता-पिता के हाथों में मैं अकेला था, इसलिए सहज ही उनका समस्त दुलार-प्यार मुझ पर केन्द्रित हो गया। मेरा वर्ण गौर था, सहज चंचलता और नटखट पन भी था इसकारण मेरी बालक्रीड़ाओं से उनके हृदय को और भी ज्यादा आनन्द और प्रसन्नता मिलती।

बचपन में सत्संग का रंग

बच्चों को खाने-पीने और खेल-कूद का जितना शौक होता है, कहानी सुनने का शौक भी उससे कम नहीं होता। दादी, नानी की कहानियाँ कभी-कभी मिठाई से भी ज्यादा मीठी लगने लगती है। कुछ बच्चे तो कहानी के लिए खेल-कूद भी छोड़ देते हैं। मुझे भी कहानी का बहुत गहरा लगाव था। कहीं गीत होते, गायन वगैरह गाया जाता, या कथा-कहानी सुनाई जाती तो मैं सब कुछ छोड़-छाड़ कर घंटों वहाँ जम जाता। न भूख सताती, न प्यास! न खेलने की ललक उठती और न कुछ याद आती! मैं कभी-कभी खुद भी स्तोत्र या भजन वगैरह गाता था। स्वर मेरा मीठा था। इसलिए लोगों को अच्छा लगता, सभी ओर से मेरा उत्साह बढ़ाया जाता।

मुझे जहाँ तक याद है—कहानी एवं संगीत के शौक ने ही मुझे स्वामीश्री जोरावरमल जी म० एवं स्वामी श्री हजारीमलजी म० के चरणों में लाकर उपस्थित कर दिया था।

तिवरी में आचार्य श्री जयमलजी म० की संप्रदाय के अनुयायी जितने परिवार थे वे सभी पूज्यवर स्वामीजी श्री शोभाचन्द्रजी म० व स्वामी श्री जोरावरमलजी म० के प्रति ही अपनी गुरुश्रद्धा रखते थे। जयगच्छ के वे दोनों विशिष्ट और प्रभावशाली संत थे। दोनों मुनिराजों में अनुपम आत्मीयता

---

१ जन्मतिथि—वि० सं० १९७० मार्ग शीर्षशुक्ला १४, दिनांक १२।१२।१९१६ शुक्रवार।

थी। स्वामीजी शोभाचन्द्र जी महाराज उन दिनों स्वर्गवासी हो गये थे। वे क्रियानिष्ठ तो थे ही, किन्तु विद्वत्ता भी उनकी अनुपम थी। स्वामीजी जोरावरमलजी महाराज जैन आगमों के मर्मस्पर्शी ज्ञाता थे और सुधार प्रिय संत माने जाते थे। संप्रदायों में परस्पर प्रेम व सद्भाव बढ़ाने के पक्षधर थे। उनकी वाणी में एक चुम्बकीय आकर्षण था जो मुझ जैसे अबोध बालकों के मन को भी अपनी ओर खींचता रहता। चेहरे पर हमेशा एक मुस्कराहट खिली रहती, जो निकट में आनेवाले को कुछ क्षणों में ही अपनत्व के रस से सराबोर कर डालती।

स्वामीजी के एक प्रमुख शिष्य थे स्वामी श्री हजारीमलजी म०। उनका हृदय बड़ा कोमल और दयार्द्र था। वाणी मीठी और मुद्रा सदा मधुर हास्य से विकस्वर! यदि श्री जोरावरमलजी म० के निकट में पितृत्व की स्नेहानुभूति मिलती, तो स्वामीश्री हजारीमलजी महाराज के पास मातृत्व का मधुर वात्सल्य! उनका संगीत बड़ा ही सुमधुर था। स्वर में जैसे मिश्री घोल दी हो और हृदय में जैसे ममता का अमृत छलक रहा हो—ऐसा अनुभव होता। हम छोटे-छोटे बच्चे उनके निकट जाकर बैठ जाते और कहानी सुनाने का आग्रह करते। नानी की कहानी से भी अधिक प्यारी, अधिक रोचक लगती थी उनकी कहानियां। वे हमें भजन भी सिखाते, स्तोत्र भी और साथ में गा-गाकर। मुझे संगीत से अधिक लगाव था, कहानी से भी, इसलिए मैं रातदिन उनके पास ही बैठता। माता-पिता दोनों के स्नेह व वात्सल्य की पूर्ति वहां हो जाती। मेरा उनके प्रति अधिक अनुराग हुआ और जब तक वे तिंवरी में विराजमान रहते बस मेरा घूमचक्कर वहीं लगता रहता।

मैं गुरु, तुम चेला

बचपन में मुझ में अनुकरणवृत्ति अधिक थी। वैसे तो बालक सहज ही अनुकरणप्रिय होता है पर मुझमें अपनी अवस्था को देखते हुए अनुकरण के संस्कार कुछ अधिक थे और इस कारण कुछ उच्च संस्कार भी मुझ में जगने लगे।

स्वामी श्री जोरावरमल जी जब तिंवरी के स्थानक में प्रवचन करते और श्रावक लोग उनके समक्ष हाथ जोड़े बैठे रहते तथा "खमा बापजी! अमृत वाणी" आदि शब्दों के साथ वाणी झेलते तो यह दृश्य मुझे बड़ा ही अच्छा लगता। स्थानक के बाहर मैं भी बच्चों को इकट्ठा करके धूल का एक चबूतरा जैसा बनाता, उस पर स्वयं बैठ जाता और बच्चों को कहता—"सुनो! मैं बखाण दे रहा हूं। मैं तुम्हारा गुरु हूं तुम सब मेरे चेले बनो और 'खमा बापजी' बोलो!"

मेरी यह बाललीला देखकर कुछ लोग बिगड़ जाते, स्वामी जी के पास मेरी शैतानी की शिकायत भी कर देते, पर स्वामी जी हंस देते—वे मेरी इन लीलाओं में छिपे संस्कार की गहराई को पकड़ने की चेष्टा करते, शायद उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य की बाललीला की वह कथा भी एक दो बार सुनाई, जब बच्चों को एकत्र कर वह उनका राजा बनता और उन्हें सिपाही बनाकर आज्ञा किया करता। मेरी मां ने यह कथा सुनी तो उसका खून सवा सेर बढ़ गया, उसका कमल-सा खिला चेहरा मुझे याद है, जब स्थानक से प्रसन्नता में उमगती हुई निकली और मेरे पास आकर हंसती हुई बोली—"चल! उठ! हो गया बहुत बखाण देना! अब घर चल!"

मैंने अकड़ कर कहा—"नहीं। मैं बखाण दे रहा हूं, घर नहीं जाऊंगा।"

माताजी ने कहा—"ओह! घर नहीं जायेगा तो कहां जायेगा?"

मैंने उत्तर दिया—"गुरु महाराज के पास !"

मां ने कहा—"अच्छा तो चल, गुरु महाराज के पास ही जाकर बैठ जा !"

इस बात पर मैं सहमत हो गया, खड़ा हुआ और बोला—एक शर्त है—"गुरु महाराज के पास जाकर तो बैठ जाऊंगा, लेकिन फिर घर नहीं आऊंगा ..." मेरी मां पहले तो हंस पड़ी, लेकिन फिर उदास-सी हो गई; पता नहीं मेरा घर नही जाने का कथन उसे बुरा लगा हो, पर कान पकड़कर उसने मुझे उठा दिया और गुरु महाराज के चरणों में लाकर विठादिया, । "गुरुदेव ! यह आपका चेला ! बाहर जाकर अभी से सबका गुरु बनना चाहता है ।"

मैं कई बार ऐसी बाल-लीला किया करता था ।

दोनों ओर प्रीत

स्वामी जी जब तिवरी से विहार करते तो न केवल श्रावक-श्रविकाओं के चेहरों पर उदासी छा जाती, किंतु छोटे-छोटे बच्चों को भी ऐसा लगता जैसे कुछ सूना-सूना हो गया हो, माता-पिता कहीं अकेले छोड़कर चले गये हों । और मुझे तो सचमुच ही बहुत उदासी आ जाती । जब गुरुदेव आते तो उन्हें लेने बहुत दूर तक सामने जाते और मन नाच उठता था । जब तक वे हमारे गांव में रहते बहुत ही प्रसन्नता और उमंग रहती थी, मन फुदकता रहता, उनके व स्वामीश्री हजारीमल जी म० के साये से दूर नहीं जाते थे । किंतु जब उनके विहार की घड़ी आती तो आँखें भीग जाती थीं, भीतर से मन होता—इन्हीं के साथ-साथ मैं भी चला जाऊं, घर छोड़कर इन्हीं के साथ रहूं, जहां ये जायें साथ-साथ जाऊं ! इस अनुराग व आकर्षण का कारण यह नहीं था कि घर में मुझे कोई प्यार-दुलार की कमी थी ।

माता-पिता का प्यार भी बहुत था, और खाने-पीने की भी कोई कमी नहीं थी, पर पता नहीं क्यों, अन्तर् का अनुराग स्वामी जी की ओर सदा ही बढ़ता गया ? मैं तब तो क्या, पर आज भी इसका कुछ विश्लेपण नहीं कर पाता हूं कि मेरा रुझान उनकी ओर क्यों हो गया ? पूर्व जन्म के संस्कार और अनुराग ही शायद इसका मुख्य कारण रहा हो । मुझ पर चढ़े इस सत्संग के रंग को देखकर कुछ लोग कहने भी लगे—'मिश्री' तो साधु होगा ।" वहां के कुछ प्रमुख श्रावक तो शायद इस बात से मन में अधिक प्रसन्नता और कुछ गौरव भी अनुभव करने लगे कि उनके गांव का एक बालक गुरुदेव का शिष्य बनेगा, शिष्य ही नहीं, किंतु उनके मन में इससे दूर की कल्पनाएं भी उठने लगीं, वे शायद सोचते थे—गुरुदेव की गादी का उत्तराधिकारी भी यही हो । पता नहीं कैसे, पर उन श्रावकों के मन में ऐसे विचार आते थे, वे कुछ संभावनाएं जरूर देख रहे थे । ऐसा बाद में मुझे सुनने-समझने में आया । खैर कुल मसला यह था कि गुरुदेव के प्रति मेरे मन में अत्यधिक आकर्षण बढ़ गया था, और गुरुदेव के मन में भी कुछ ऐसा जरूर होगा—क्योंकि "**दोनों ओर प्रीत पलती है—पतंगा जलता है तो लौ भी जलती है ।**"और गुरु-शिष्य का यह अन्योन्य-स्नेहाकर्पण देखकर चतुर श्रावक कुछ भविष्य की कल्पना न कर सके यह भी कैसे संभव हो ? बनिया आँखों की सैन में समझता है हवा को पकड़ता है ।

माताजी को भी वैराग्य

मैंने साधुपन लेने की बात कब और क्यों निकाली इसका ठीक-ठीक स्मरण नहीं है । मुझे वैराग्य भी, जिसे 'वैराग्य' संज्ञा दी जाती है, कैसे हो गया, मैं नहीं जान पाता, पर लगता है इसमें मेरी माता जी ही मुख्य कारण रहीं हों । माता पुत्र को वैरागी बनाकर दीक्षा के लिए प्रेरित करें ऐसे प्रसंग कम सुनने में आते हैं

अधिकतर माताएं पुत्रों के वैराग्य की वात सुनकर मूर्च्छा खाकर गिर पड़नेवाली ही मिलती हैं। देवकी गजसुकुमाल की वात सुनकर, धारिणी मेघकुमार की दीक्षा का संकल्प सुनकर मूर्च्छित होगई और आंसुओं से आंचल भिगो लिया—यह तो जरूर पढने को मिला है, पर पुत्र को दीक्षा के लिए प्रेरित करें—ऐसा प्रसंग कम ही सुना है। इस सन्दर्भ में मैं अपने आपको भाग्यशाली पुत्र मानता हूं कि जिसकी मां, मोह और ममता की मूर्ति-मां, पुत्र को स्नेह भी दे और विरागी वनने में सहयोग भी !

वात यह थी कि स्वामीश्री जोरावरमलजी की प्रमुख शिष्या थी महासती सरदारकुंवरजी। वे वड़ी शान्त, विचक्षण और व्यवहारकुशल थीं। श्री पानकुंवरजी, जमनाजी आदि उनकी अनेक शिष्याएं थीं। वर्तमान में भी महासती कानकंवर जी एवं परमविदुषी श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना' आदि उनकी गौरवमयी परम्परा को आगे वढ़ा रही है। हां, तो महासती सरदारकुंवरजी आदि की यह भावना थी कि 'मैं' पूज्य गुरुदेव के चरणों में शिष्य वनूं और उनकी गौरव-गरिमा में चार चांद लगानेवाला सिद्ध होऊं ! साध्वी श्री जी ने मुझे सीधी संयम की प्रेरणा कभी नहीं दी। वे जानती थी कि संतान को मनोनुकूल रूप में ढालनेवाली माताएं ही हैं। माता संतान को महावीर और वुद्ध के रूप में गढ़ सकती है, शिवाजी, प्रताप और गांधी के संस्कार माताओं की ही देन थे। संतान तो एक फूल है, जिसकी जड़ माता है, माता के मन और विचारों का प्रतिविम्व ही तो संतान के जीवन में झलकता है। अतः उन्होंने मेरी माता जी के हृदय में वैराग्य के संस्कार जागृत करने का प्रयत्न किया। और इसमें उन्हें वहुत ही शीघ्र आशातीत सफलता मिली। महासती जमनाजी, इस कार्य में विशेप सफल सिद्ध हुई। माताजी उन्हीं के पास अधिक वैठती-उठती थी। अतः वे प्रतिक्षण मनोवैज्ञानिक रूप में उनके मन में संसार त्याग की भावना को जगाती रही। इसका परिणाम मुझ पर होना ही था। माता जी ने जिस पथ को अपने लिए कल्याणकारी समझा, उस पथ पर अपनी संतान को भी साथ में चलाने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। उन्होंने मुझ से कहा—वेटा ! मैं तो संसार त्याग कर साध्वी वनना चाहती हूं। तेरी क्या इच्छा है ?

मैंने कहा—मां ! तुम तो मेरे ही मन की वात कह रही हो ? गुरुदेव श्री के सम्पर्क में आने पर मेरा भी मन ऐसा ही होता है कि मैं हरदम उनके चरणों में रहूं। कभी एक क्षण भर भी उनसे दूर न हटूं। मां ! मुझे स्वामी जी इतने अच्छे लगते हैं कि क्या कहूँ ? उनके पास जाने पर ·······

मां के मुंह पर प्रसन्नता चमक उठी थी, वह वीच ही में वोली—कैसा लगता है ···?

सच वताऊं मां ···?

हां, वेटा ! सच-सच वता ! झूठ क्यों वतायेगा ? क्या किसी का डर है ·?

तू नाराज तो नहीं हो जायेगी ?

"नहीं !" उसने मेरे सिर पर हाथ फिराया। मैंने कहा—"ऐसा लगता है कि वस उन्हीं का चेला वन जाऊं "फिर न तू याद आती है और न और कोई !" मां ने मुझे वड़े स्नेह से दुलारा। मुझे ऐसा लगा कि मां मेरी वात से विलकुल सहमत है।

मेरे वैराग्य की वात इसप्रकार मेरे ही मुंह से पहली वार निकली, वह महासती जी के पास पहुंची और फिर गुरुदेव के पास ! इसमें न केवल वहां के श्रावकों को ही प्रसन्नता हुई, किन्तु महासती

और गुरुदेव भी इस प्रसन्नता में साथ थे। लोगों की नजर अब मुझ पर टिक गई थी। शायद मैं उनकी नजर में कोई 'होनहार' लगा हूं।

पहला निष्क्रमण

मेरी उम्र तब सिर्फ सात वर्ष की थी। वि० सं० १९७७ में गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज ने तिवरी में ही चातुर्मास किया। चातुर्मास में मुझे उनके निकट रहने का, संगीत, स्तोत्र व कुछ कथा—कहानिया—सीखने-सुनने का अवसर मिला। उम्र की दृष्टि से मैं कुछ अधिक सयाना था, ऐसा लोग कहते थे। जल्दी ही कुछ सीख लेता, समझ लेता। पर, फिर भी सात वर्ष का बालक था, देहात मे रहता था, वहां स्कूली शिक्षा भी तब नाम मात्र की थी! मुझे जो कुछ सीखने को मिला वह गुरुदेव के ही निकट!

मेरे विषय मे लोगों मे कुछ कानाफूसी भी होती थी, कुछ लोग मेरा साधु बनना ठीक नहीं समझते थे। उनका कहना था कि बड़ा लड़का गोद चला गया, मंझला भगवान के घर चला गया, अब छोटा लडका साधु बन जायेगा तो बाप का नाम कौन चलायेगा? बस, इसी बात को लेकर वे इस हठ पर थे कि मिश्रीमल को साधु नही बनने देना है। शायद उन्होंने यह नही सोचा कि यदि तीसरा बेटा भी दूसरे बेटे की राह पर चला गया होता तो फिर बाप का नाम कौन चलाता? पर आम लोगों में इतनी विचार चेतना कहां होती है?

लोगों की इस कानाफूसी से गुरुदेव सतर्क हो गये थे और तिवरी के प्रमुख श्रावक लोग भी चौकन्ने थे। इसलिए उन्होने एक उपाय सोचा कि सांप भी मर जाय लाठी भी न टूटे। समाज में आपस मे व्यर्थ ही कोई शोरगुल या विवाद खड़ा न हो, और मिश्रीमल की दीक्षा भी हो जाय! इसी कारण एक दिन वर्षावास के अन्तिम दिन, मुझे व मेरी माता जी को तिवरी से बाहर ले जाया गया। हम लोग रात के समय ऊंट की सवारी पर बैठे और उस ठंडी रात में चलते हुए सीधे जोधपुर ले आये गये। हमारे साथ भानीरामजी चौधरी भी थे।[1] जोधपुर मैंने पहली बार देखा था, बड़ा सुन्दर और रमणीय नगर लगा। जोधपुर से रेल द्वारा हमें खजवाना स्टेशन पहुंचना था, रेल रवाना होने मे काफी समय था, इसलिए हम लोग स्टेशन पर ही जसवंतसराय मे ठहर गये। जसवंतसराय में रहने की व जल आदि की अच्छी व्यवस्था थी। यात्रियों की सुविधा के लिए वहां नल लगे हुए थे। मैंने 'नल' अपने जीवन मे पहली बार देखा, पहले तो आश्चर्य हुआ—"इसमें पानी कौन डालता है?" मैंने भानीरामजी से पूछा? उन्हें मेरे भोलेपन पर हंसी भी आई होगी, पर सब कुछ समझाया। मैंने भी नल के पानी से जीभर किलोलें की! रेलगाड़ी में भी मैं पहली बार बैठा था इसलिए सब कुछ बड़ा अजीब-सा, नया-नया कुछ विचित्र-सा लग रहा था। मैं कुतूहल के साथ सब देख रहा था।

गाड़ी खजवाना स्टेशन पर पहुंची। वहां से बैलगाड़ी में बैठकर हम लोग रूण[2] पहुँचे।

---

१ श्री भानीरामजी चौधरी स्वामी श्री जोरावरमलजी की सेवा में रहते थे। वे संतों के भक्त और बड़े वफादार व्यक्ति थे। उनकी प्रामाणिकता व सच्चरित्रता के कारण लोगों में उनके प्रति काफी श्रद्धा व विश्वास था। स्वामी ब्रजलालजी की दीक्षा के पहले से ही वे गुरुदेव की सेवा में रहते आए थे। वि० सं० २००५ मे उनका देहान्त हुआ!

२ रूण का रेलवे स्टेशन खजवाना ही है।

मुझे मामा मिल गये

रूण हमें किसलिए लाया गया है—यह बात तब मेरी समझ में नहीं आई थी। मुझे सिर्फ इतना ही बताया गया कि यहां तुम्हें कुछ दिन रहना है। रूण के प्रमुख श्रावक थे कनीरामजी जुगराजजी। वे पूज्य गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज के फूफी के बेटे भाई होते थे। उस क्षेत्र में वे बड़े ही प्रभावशाली व सम्पन्न व्यक्ति थे। सम्पन्नता के साथ-साथ उनमें स्वधर्मी स्नेह एवं धर्मश्रद्धा भी कूट-कूट कर भरी थी। पूज्य गुरुदेव के अनन्य भक्त थे। बल्लारी (मैसूर) में उनका काफी लंबा-चौड़ा व्यापार चलता था, और देश में भी वे सामाजिक कार्यों में खर्च-वर्च अच्छा करते थे।

कनीरामजी के पांच पुत्र थे—हरखचन्दजी, रावतमलजी, धनराजजी, हस्तीमलजी और वस्तीमलजी। जुगराजजी के चार पुत्र थे—हमीरमलजी, मोतीलालजी, केवलचन्दजी और पारसमलजी! रूण में दोनों भाइयों की बड़ी-बड़ी हवेलियां थी और काफी भरा-पूरा परिवार था। हमें उन्हीं के घर पर ठहराया गया। कुछ ही दिनों में हम उस परिवार में गहरे घुल-मिल गये। मेरी माताजी उस परिवार की बेटी मानली गई और मैं दौहित्र!

जुगराजजी की पत्नी का स्वभाव बड़ा ही स्नेहशील था। वे मुझे बहुत प्यार करती थी, पुत्र से भी अधिक! उनके स्नेह की स्मृतियां आज भी जब उभरती हैं तो लगता है—रक्त के सम्बन्ध से भी धर्म का सम्बन्ध अधिक गहरा और अधिक पवित्र होता है। वे मेरी माताजी को नणदबाई कहती थी। मैं उन्हें मामीजी कहा करता था। कनीरामजी और जुगराजजी के सभी पुत्रों को मैं मामाजी कहता था और वे सब मुझे भानजे की तरह ही मानने लग गये।

बोथराजी की ललकार

तिवरी से अचानक निकल जाने पर पीछे कुछ लोगों ने मेरे विषय में खोजबीन शुरू की। मेरे बड़े भाई धनराजजी को भी उकसाया गया। उन्हें पता चला गया कि मैं रूण में हूं। तो धनराजजी को लेकर परिवार के कुछ लोग रूण आये। इन लोगों में एक व्यक्ति थे रिखबदासजी! वे बोली व व्यवहार में बड़े उग्र स्वरूप के थे, बात-बात पर गर्म होना और असभ्य व्यवहार करना उनकी आदत थी! सभी लोगों ने मिलकर मुझे व मेरी माताजी को वापस तिवरी चलने का आग्रह किया। माताजी ने स्पष्ट इन्कार कर दिया तो रिखबदासजी बिल्कुल असभ्यता पर उतर आये। कनीरामजी आदि ने उन्हें बहुत समझाया पर लातों के देव बातों से कैसे मानते?

रूण में उस दिन चोथमलजी बोथरा भी 'चंदावतों का नोखा' से गुरुदेव के दर्शन के लिए आये हुए थे।[1] उन्होंने जब यह रकझक और असभ्य व्यवहार देखा तो वे बीच में ही आये रिखबदासजी को

[1] रूण के पास ही एक गांव है—'चंदावतों का नोखा। श्रीचोथमलजी बोथरा वहीं के संपन्न प्रतिष्ठित व प्रभावशाली श्रावक थे। बंगाल में उनका पाट का व्यवसाय था, व्यापारी व सरकारी क्षेत्रों में उनकी बहुत गहरी धाक थी। गुरुदेवश्री के प्रति वे अनन्य निष्ठावाले श्रावक थे। व्यापार के लिए बंगाल जाते समय, और वापस देश आते समय गुरुदेव के दर्शन को ही वे मुहूर्त मानते थे। दर्शन कर मंगलपाठ सुनकर ही वे बंगाल की ओर कदम बढ़ाते थे और वापस आकर पहले गुरुदेव के दर्शन कर फिर घर जाते थे।

संवोधन कर वे वोले—"भाई साहव ! ओसवाल खानदान के आदमी भी यदि ऐसा गंवारू व्यवहार करेंगे तो फिर दूसरे ......

रिखवदासजी उनसे भी अकड़ गये । इस पर वोथराजी ने अपना वह राजसी-रूप दिखाया और ऐसा करारा जवाव दिया कि सभी की वोलती वन्द हो गई, चुपचाप सव उलटे पावों चले गये और फिर कभी मुझे लेने वे नहीं आये !

दो पाटों के वीच

अव मैं वरावर गुरुदेव के साथ ही रहता और अध्ययन करता था । वि० सं० १९७८ में गुरुदेव का चातुर्मास हरसोलाव में हुआ । मेरा अध्ययन चल रहा था, माताजी भी महासती सरदारकुंवरजी के पास धर्म-ध्यान करती रहती थीं ।

एक दिन प्रातःकाल प्रतिक्रमण का समय था, पूरव दिशा में लाली विखरी हुई थी—सूर्यदेव के चरण अभी आकाश पथ पर टिके नहीं थे । उस समय मेरे वावा (वड़े पिता) रतनलालजी और नाना रावतमलजी आदि कुछ सज्जन आये । वे मेरी तरफ कनखियों से देख रहे थे । मैं उन्हें देखते ही समझ गया, वे किसलिए आये हैं ! मैंने तुरन्त दौड़कर माताजी को (सतीजी के स्थान पर) उनके आने की सूचना दी । तव तक वे लोग मेरा पीछा करते हुए वहीं आ गए । जैसे वाज चिड़िया पर झपटता है, एक आदमी मुझ पर झपटा और मेरा एक हाथ पकड़कर घसीटने लगा । माताजी को पता नहीं कहां से इतना साहस आ गया, मेरा दूसरा हाथ उन्होंने पकड़ लिया और सिंहनी की तरह ललकारने लगी—"छोड़ दो मेरे वच्चे को ।"

उन्होंने छोड़ा नहीं, इधर माताजी ने भी खूव कसकर पकड़ लिया । उस समय मेरी हालत वड़ी विचित्र हो रही थी । जैसे—दोनों ओर से खिंचा जा रहा था, मैं घवरा गया, पसीना भी आने लगा । वे फिर भी मुझे घसीट कर घर (तिंवरी) ले जाना चाहते थे । माताजी ने पुनः कड़ककर कहा—"मेरे वेटे को छोड़ दो ! जहां मैं रहूंगी वहीं यह रहेगा, आप लोग व्यर्थ में हमें कष्ट न दीजिए ।"

इस खींचातानी में शोरगुल हुआ, काफी लोक वहां जमा हो गए । भीड़ में हमदर्द तो कम होते हैं, अधिकतर लोग तमाशवीन ही होते हैं । लोग खड़े-खड़े देख रहे थे, कानाफूसी भी कर रहे थे, पर किसी ने मुझे उन हठधर्मियों के शिकंजे से छुड़ाने की कोशिश नहीं की ।

सतीजी के स्थान से लगता ही ठाकुर मालसिंहजी का रावला (महल) था । वे मिलिट्री में ऊंचे पद पर थे और छुट्टी में यहां आये हुए थे । इस हीलो-हुज्जत को देखकर वे भी वहां आये । उनका लंवा-चौड़ा कद और प्रभावशाली व्यक्तित्व वैसे ही अपराधी को अधमरा कर देता था । जव उन्होंने वुलंद आवाज में ललकारा—क्या हो रहा है ? तो अपने आप मेरी एक ओर की पकड़ ढीली हो गई, मैं हाथ छुड़ाकर मां के आंचल से सट गया । ठाकुर साहव ने ऐसी झिड़की दी कि आने वाले एक-एक करके खिसकने लगे । मिनटों में ही सव लोग नौ-दो ग्यारह हो गए, मैं और मेरी माताजी आश्वस्त होकर ठाकुर साहव के पास आये, सव घटना सुनाई ।

खिसियानी बिल्ली खंभा नोंचे

वहां से मुंह की खाकर भी परिवारवाले व कुछ नारद लोग चुप नहीं बैठे । वे आगे जोधपुर तक पहुंचने की ताक-झांक करने लगे ।

जोधपुर की राजगद्दी पर उन दिनों महाराज उम्मेदसिंहजी विराजमान थे। किन्तु महाराज नावालिग थे, इस कारण राज्य का संचालन महाराज तखतसिंहजी के पुत्र सर प्रतापसिंहजी वहादुर कर रहे थे। सर प्रतापसिंहजी पर अंग्रेजी रहन-सहन का गहरा रंग जमा हुआ था। राजघराने की प्राचीन परम्परा को वे रूढ़ियां मानते थे और उन्हें तोड़ने में भी हिचकते नहीं थे। उनके इस स्वभाव पर राजस्थान के कवि (वारठ कवि भोपालदानजी) लोगों ने काफी चुटकियां भी ली हैं।[1]

---

१ सर प्रतापसिंहजी के सम्बन्ध में ये कुछ दोहे आज भी प्रसिद्ध हैं—

१ महाराज जसवंतसिंहजी के स्वर्गवास के वाद एक दिन सर प्रतापसिंहजी राजमहलों का मुआयना करने निकले। महलों में महारानियों के सुहाग के कपड़े पेटियों में भरे सड़ रहे थे। प्रतापसिंहजी ने देखा तो कहा—"ये मूल्यवान कपड़े पड़े-पड़े वेकार ही सड़ रहे हैं—इन्हें नीलाम कर दिया जाय।" वस, हुक्म होते ही कपड़ों की पेटियां चोहटे में आकर नीलाम होने लगी। राजदरवार के पुराने वफादारों का दिल भीतर ही भीतर टुकड़े हो रहा था, पर सर प्रतापसिंहजी के सामने मुंह खोलने की हिम्मत किसमें थी? तभी कवि भोपालदानजी ने आकर सरप्रतापसिंहजी के सामने यह दोहा पढ़ा—

पड़दै थी पटरानियां, मिलता नहीं मां-वाप।
घर-घर रुलसी घाघरा, पातल रै परताप!

कवि की ललकार ने प्रतापसिंहजी को कपड़ों की नीलामी वंद करने के लिए वाध्य कर दिया।

२ एकवार सर प्रतापसिंहजी ने हुक्म दिया—शहर में कुत्ते वहुत ज्यादा हो गए हैं, इन्हें पकड़-पकड़ कर शहर से वाहर ले जाकर खत्म कर दिया जाय।

वस, कुत्तों पर तो मौत वरस पड़ी। रोज गाड़ियां भर-भर कर कुत्ते मारे जाने लगे। यह हत्याकांड देखकर कवि का हृदय सिहर उठा। वे सीधे पहुंचे दरवार में और यह दोहा सुनाया—

आड़ा फिर मारचा गंडक, गाडा भर-भर आप।
पाड़ा! कठै उतारसी, इता चीकणा पाप!

इसी के साथ उनकी वेपभूपा पर भी कुछ फब्तियां कसने लगे—

पाला जावै पावटै, शिर टोपी पग बूंट।
भल जाया तखतेसरै टोली टलिया ऊंट।
दाढी मूंछ मुंडाय कै टोप धारियो टोट।
वांदर री पोशाक में लारै घटै लंगोट!

इन चुभते हुए दोहों को सुनकर प्रतापसिंहजी वौखला उठे और वोले—"अरे! जल्दी से एक गधा लाओ! इस कलमुंहे को उस पर विठाकर देश से वाहर निकालो।"

कवि ने अपने पर कहर वरपता देखकर कहा—"महाराज आपके पूर्वजों के तवेले में तो अनगिन घोड़े रहते थे, प्रसन्न होकर २-४ घोड़े वख्शीस कर देते। अव आपको तो गधे भी ढूंढ़ने पड़ेंगे, फिर इतना कष्ट क्यों····? हम पैदल ही चले जायेंगे।"

४

तो तिवरी के पुरोहित ठाकुर केसरीसिंहजी सर प्रतापसिंहजी के निकटतम व्यक्ति थे। प्रताप सिंहजी उन पर काफी विश्वास भी करते थे। वे प्रकृति से भी बड़े सात्विक व सज्जन थे। मेरे परिवार वालों को जबसे हरसोलाव में ठाकुर मालसिंहजी ने डांट लगाई तो वे फिर उधर तो नहीं आये, पर "खिसयानी बिल्ली खंभा नोंचे"। वे लोग ठाकुर केसरीसिंहजी के पास पहुंचे और बोले—"हमारे परिवार में यह एक ही लड़का है, दीखने में बड़ा होनहार है, और भावी पीढी का दारमदार उसी पर है, अभी ७ वर्ष का ही है, किन्तु उसे साधु बनाया जा रहा है। यदि वह साधु बन गया तो परिवार की भावी परम्परा का ही आधार टूट जायेगा, अतः आप इस दीक्षा को रुकवाइए।"

ठाकुर केसरीसिंहजी को सब जानकारी एक तरफ से ही मिली थी, उसी आधार पर उन्होंने जोधपुर में सर प्रतापसिंहजी से बात कर स्वामी जोरावरमलजी के पास होने वाली मेरी दीक्षा पर प्रतिबंध लगवा दिया। सरकारी आदेश मेड़ता के मजिस्ट्रेट श्री बादरमलजी गदैया के पास पहुंचा कि—"हरसोलाव में मुनि जोरावरमलजी के पास तिवरी के एक अवयस्क बालक मिश्रीमल की दीक्षा हो रही है, उसे तुरन्त रोक दिया जाय।"

मजिस्ट्रेट ने हरसोलाव सूचना भेजी और हमें कचहरी में बुलाया गया। मैं और मेरी माताजी दोनों ही कचहरी में उपस्थित हुए। हमारे साथ उस क्षेत्र के अनेक प्रमुख व्यक्ति भी आये थे। तिवरी से मेरे परिवारजन भी उपस्थित हुए। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा था—एक ही परिवार के, एक ही घर के और एक ही गुरु के शिष्य हम परस्पर वादी-प्रतिवादी के रूप में कचहरी में खड़े थे। मामला चलता रहा, दोनों ओर की बहस, दलीलें आती रही और कचहरी में पेशियां पड़ती रहीं। हमारे साथ जो सज्जन पेशियों पर आते थे, उनमें मुख्य थे—श्री पूनमचन्दजी कांकरिया (हरसोलाव) सूरजराजजी बोथरा (बडलू-भोपालगढ़) बगतावरमलजी कोठारी (गोठन) सेठ कन्नीरामजी कटारिया (रूण) और ठा० (चारण) गोरखदानजी (सिंहू)

लंबी बहसों के बाद मजिस्ट्रेट श्री गदैयाजी ने फैसला दिया—"अभी हरसोलाव में कोई दीक्षा नहीं हो रही है। बालक मिश्रीमल व उसकी माता धर्मध्यान करने के लिए ही यहां आये हुए है।"

मजिस्ट्रेट की दृष्टि में : मेरा भविष्य

मजिस्ट्रेट ने जिस दिन हमें कचहरी में बुलाया उसके एक दिन पहले मुझे मेरी माताजी के साथ उन्होंने अपने घर बुलवा लिया था। मेरी माताजी से पूछा—बेटी ! क्या तुम स्वयं दीक्षा लेना चाहती हो ?

माता जी ने बड़ी नम्रता के साथ कहा—आप मेरे पिता के तुल्य हैं, और फिर न्याय की तुला भी आपके हाथ में हैं, इसलिए मैं आपको अपना धर्मपिता ही मानती हूं। पिता जी ! मेरे मन में बहुत दिनों से वैराग्य है, जब से इसके पिता जी का स्वर्गवास हुआ है, मेरा यह वैराग्य और भी गहरा हो गया। मेरे भाव व संस्कार मेरे पुत्र में भी जगे हैं, यह भी अपने-आप साधुपन लेने की बात कहने लगा है। इसलिए मैं और यह (मेरा पुत्र) दोनों ही हम दीक्षा लेना चाहते है।

मजिस्ट्रेट ने पूछा—बेटी ! तुम दीक्षा ले रही हो, यह तो ठीक है, पर यह बालक तो अभी आठ साल का ही है, यह दीक्षा को क्या समझता है, इसे दीक्षा क्यों दिला रही हो ?

मां—पिता जी ! आपका कहना ठीक है। आपको पता है मेरे तीन पुत्र हुए। बड़ा लड़का मेरे जेठजी के नाम पर उनकी विधवा पत्नी को गोद दे दिया। मंझला कभी का चल बसा है। "यह एक

मात्र मेरा सहारा है, मेरी आंखों का तारा है।" मैंने देखा—कहते-कहते माता जी की आंखें गीली हो गई थीं। अपने आंचल से आंखें पोछते हुए वे बोली—एकवार मेरे घर पर कोई अल्हड़ फकीर आया था। उसने इस बालक को देखकर कहा—"बेटी! तेरा यह लड़का होनहार है, यदि तू इसे किसी साधु सन्यासी को समर्पित कर दे तो यह साधु समाज में एक चमकता हुआ सितारा निकलेगा। इसके लक्षण बड़े ही जोरदार है।"

उस फकीर की भविष्यवाणी पर मुझे विश्वास होगया। फिर धीरे-धीरे यह अपने आप ही साधु बनने की बात कहने लगा है, तो मैंने सोचा इसमें वे ही संस्कार जग रहे हैं तो क्यों इसे संसार के चक्र में फंसाऊं, इसकी इच्छा के अनुसार मैंने इसे स्वामी जोरावरमल जी के चरणों में समर्पित करने का निश्चय कर लिया है।

मजिस्ट्रेट साहब ने मुझ से भी अनेक प्रश्न किये, शादी कर घर-गृहस्थी बसाने की और संसार के सुख की बात भी कही, और भी अनेक प्रश्न उन्होंने मुझसे पूछे। खाने-पीने आदि के मधुर प्रलोभन भी बताये।

मैं बच्चा ही था, यद्यपि मैं बुद्धू नहीं था, वैसे काफी समझता भी था और उनकी बातों के उत्तर भी देता जा रहा था, भले ही उनमें तर्क और अनुभव का उतना बल नहीं था, पर, मेरी हृदय की सरल और सहज भावनाओं को मजिस्ट्रेट साहब ने अच्छी तरह पकड़ लिया। मैंने आखिर में एक ही उत्तर दिया—"मुझे साधुओं का जीवन बहुत अच्छा लगता है। मैं तो साधु ही बनना चाहता हूं।"

मेरी इस सरल और स्पष्ट बात का उनके मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे सामुद्रिक शास्त्र के भी विशेषज्ञ थे, मेरे शरीरगत लक्षणों को विशेष ध्यान से देखने के बाद वे भी मेरे विचार से, मेरी माता जी के विचार से सहमत हो गये कि—यह लड़का होनहार है और साधु बनकर अच्छा तेजस्वी बनेगा। उन्होंने कहा बेटी! तुम दोनों दीक्षा भले ही लो, पर अभी कुछ दिन रुकजाओ! एक दो साल अभी इसे शिक्षित करो, बाद में दीक्षा देना! मेरी माता जी ने हाकिम साहब की बात स्वीकार करली। इसके दूसरे दिन ही उन्होंने अपना यह निर्णय जोधपुर भेज दिया कि—"हरसोलाव में अभी कोई दीक्षा नहीं हो रही है, फिर उसे रुकवाने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

मजिस्ट्रेट साहब गुरुदेव के पास

इस विवाद में भी मेरे परिवारवालों को मुंह की खानी पड़ी। इसलिए अब वे निराश होकर हाथ मलते रहे। निर्णय देने के कुछ दिन बाद मजिस्ट्रेट श्रीगदैयाजी गुरुदेव की सेवा में आये। मैंने देखा—गुरुदेव के प्रति गदैयाजी के मन में भी अत्यन्त श्रद्धा व भक्ति का स्रोत उमड़ रहा था। दीक्षा विवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—गुरुदेव! आप कोई विचार न करें। अपने मारवाड़ में कहावत है—"रांडा रोवती रैवै, पावणा जीमता ई रैवै।" अच्छे कार्य में अड़चन डालने वाले अपनी आदत से बाज नहीं आते, पर अच्छे काम कभी रुकते भी नहीं, "मिन्नी रा वांछ्या छींका नी टूटै" आपका यह शिष्य (मेरी ओर संकेत करके) बड़ा होनहार निकलेगा। उत्तर देने में अभी भी बड़ा तेज है, और इसकी बोली भी बहुत मीठी है। आपकी गौरव-गाथा में चारचांद लगायेगा। हां, अभी इधर का वातावरण कुछ गंदा कर दिया गया है, इसलिए मारवाड़ की हद में इसको दीक्षा न देवें तो ठीक रहेगा, फिर एक दो साल में सब बातें ठंडी पड़ जायेगी, नई बात नौ दिन।

गुरुदेव ने कहा—हाकिम साहव ! आपकी परख सही है। मैंने भी यह सोचा था कि इसकी दीक्षा मरुधरा से कही वाहर ही होनी चाहिए।

गुरुदेव के विचार जव हरसोलाव के ठाकुर किसोरसिंहजी को मालूम हुए तो वे वोले—"गुरुदेव ! यदि आप इसे हरसोलाव में दीक्षा देना चाहें तो सरकारी हुक्म की कोई भी उलझन नहीं आयेगी, मैं जोधपुर जाकर सव कुछ ठीक कर आता हूं।"

गुरुदेव का व्यापक प्रभाव

ठाकुर साहव का जोधपुर में वहुत अच्छा प्रभाव था, वे राज्य में द्वितीय श्रेणी के प्रभावशाली जागीरदार थे और गुरुदेव के भक्त भी ! उस क्षेत्र में ओसवालों के सिवाय राजपूतों (जागीरदारों) और चारणों पर भी गुरुदेव का वहुत अच्छा प्रभाव था। हरसोलाव के पास ही एक गांव है 'सिहु'। 'सिहु' में चरणों की ही प्रमुख वस्ती है। ओसवाल जाति के घर यहां वहुत कम हैं, अधिकतर चारणों के ही घर है। यहां के चारण अपने युग के अच्छे विद्वान्, कवि, वात करने में सुदक्ष एवं चतुर थे। चारण जाति को कविता तो जन्म घूंटी के साथ ही मिल जाती है, इसलिए चारण और कवि—यह एक दूसरे का पर्याय-सा वन गया है। श्री हीरादानजी, प्रभुदानजी, शिवकरणजी, पीरदानजी आदि सिहु के प्रमुख व इस क्षेत्र के प्रतिष्ठित व्यक्ति गिने जाते थे। अभी वर्तमान में भी शिवकरणजी (द्वितीय) कृपारामजी, हिंगराजदानजी, उदयसिंहजी, खैगारदानजी आदि अच्छे कवि व वाक्पटु व्यक्ति हैं। इन सव के मन में गुरुदेव के प्रति वड़ी गहरी श्रद्धा थी, वे गुरुदेव के पास व्याख्यान आदि में भी आते थे, व दिन भर प्रायः काव्य एवं तत्वचर्चा चलती ही रहती। इन लोगों का भी आग्रह था कि यदि गुरुदेव की इच्छा हरसोलाव में दीक्षा देने की हो, तो कोई भी शक्ति रोक नहीं सकेगी, हम स्वयं सर प्रतापसिंह जी से आज्ञा लिखवाकर लायेगे। किन्तु गुरुदेव जितने तेजस्वी थे उतने ही शन्तिप्रिय, गम्भीर एवं दूरदर्शी भी। उन्हें सरकार के साथ विवाद में उलझना उचित नहीं लगा। अतः सं० १९७८ का चातुर्मास सम्पन्न कर गुरुदेव ने कुचेरा व नागौर की तर्फ विहार कर दिया। मैं वैरागी था, गुरुदेव की सेवा में साथ-साथ रहता था। जहां भी जाता—लोगों का स्नेह व प्रेम मुझ पर वरस पड़ता था।

गुरुदेव कुचेरा पधारे। कुचेरा उस समय भी समृद्ध व सम्पन्न क्षेत्र था और वहां के श्रावक गुरुदेव व अन्य साधु-संतों के प्रति अत्यन्त भक्तिभाव रखते थे। मुझे याद है, वहां के भक्तजन मुझे भी अपने हाथों में उठाए फिरते थे। जहां-जिधर भी देखा, आंखों में स्नेह और वात्सल्य वरसता था। कुछ सज्जनों का स्नेह तो आज भी मन में गुदगुदी-सी पैदा कर देता है, जिनमें मुख्य है—श्रीचन्दजी भंडारी, तेजमलजी लोढ़ा, जवरचन्दजी गेलड़ा व सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, इन सज्जनों ने मेरी शिक्षा-दीक्षा में जो महत्वपूर्ण भूमिका निवाही और जो स्नेह-सद्भाव दिया, वह मैं जीवन में कभी भूल नहीं सकता। शास्त्र में श्रावक को माता पिता की उपमा दी है वह इन श्रावकों में मैंने यथार्थ होती देखी, और न सिर्फ मेरे लिए ही, किन्तु प्रत्येक साधु-सन्त के प्रति उनका यही व्यवहार रहा है—जो विशेष अनुकरणीय व प्रशंसनीय है।

दीक्षा की तैयारी

नागौर क्षेत्र में विचरण कर गुरुदेव ने वि० सं० १९७९ का चातुर्मास व्यावर में सम्पन्न किया। चातुर्मास के पश्चात् मेरी दीक्षा की वात पुनः कुछ गति में आई। माता जी चाहती थी कि

दीक्षा में अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए। **शुभस्य शीघ्रं** पता नहीं, कब क्या नया विघ्न खड़ा हो ! **श्रेयांसि बहु विघ्नानि**—शुभ कार्य में विघ्न आ ही जाते हैं। अतः वे गुरुदेव से बार-बार प्रार्थना करती रहती थी। मरुधरा का वातावरण कुछ अनुकूल कम था, वैसे तो उस घटना को भी १-१॥ साल गुजर गया, किन्तु फिर भी गुरुदेव उधर दीक्षा देना नहीं चाहते थे। इन्हीं सब विचार-चर्चाओं के बीच मेरी दीक्षा के लिए अजमेर जिला का 'भणाय' क्षेत्र चुना गया। और दीक्षा तिथि वैशाख शुक्ला दशमी (दिनांक २६।४।१९२३) निश्चित कर दी गई।

अजमेर जिला में दीक्षा होने का एक और विशिष्ट कारण भी था, जिसकी चर्चा यहां अप्रासांगिक नहीं होगी।

अजमेर (मेरवाड़ा) प्रांत में स्वामी श्री नानकरामजी महाराज सा० की सम्प्रदाय का अच्छा वर्चस्व था। उनकी परम्परा में उन दिनों स्वामी श्रीधूलचन्दजी महाराज व स्वामी श्रीपन्नालालजी[1] महाराज साहब अच्छे प्रभावशाली व वर्चस्वी संत माने जाते थे। स्वामी जी श्रीपन्नाललजी महाराज साहब आगमों के गम्भीर अध्येता, थोकड़ों के ज्ञाता व ओजस्वी वक्ता तथा समाज-सुधारक संत थे। श्रावकों में तत्त्वज्ञान की विशेष जिज्ञासा पैदा कर उन्हें स्वाध्यायशील बनाने में आपका अपूर्व योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। हां, तो इन दोनों संत-रत्नों से मेरे गुरुदेव के घनिष्ट सम्बन्ध थे। इनके आग्रह ने ही मेरा दीक्षा महोत्सव 'भणाय' में सम्पन्न करने का मार्ग प्रशस्त किया।

उत्सव का आयोजन

'भणाय' एक छोटा कस्बा था। मेरे दीक्षा उत्सव की तैयारी में लोगों ने पूरे गांव को सजाया। श्रीसंघ ने समस्त श्रीसंघों को निमंत्रण भेजे। दीक्षा के एक मास पूर्व ही बान बैठा दिया गया। रोज बंदोरे निकलने लगे। उस समय एक तो मैं वैरागी था और दूसरे थे श्रीशंकरलालजी। मेरी उम्र दस साल की थी, शंकरलालजी लगभग १५ वर्ष के थे। वे स्वामी श्री धूलचन्द जी महाराज के शिष्य बने। दीक्षा के कुछ वर्षो बाद ही उनका स्वर्गवास हो गया था।

दीक्षा उत्सव मनाने में रोज रात को बिंदौरियां निकलती थी, कई गांवों की भजन मंडलिया वहां आकर जम गई थी। उनके संगीत की ध्वनियों से धरती और आकाश गूंज उठते थे। रात की बिंदोरी में रोशनी के हंडों की व्यवस्था अधिक पनपी नहीं थी, इस कारण खवास लोग मशालें जलाकर रोशनी देने का काम करते थे। कई बैंड व देशी ढोल आदि की भी अच्छी व्यवस्था की गई थी। वहां एक बांकियां बजानेवाला ऐसा होशियार था कि वह प्रत्येक राग को अपने बांकिये में उतार देता था। जब वह बांकिया बजाता तो लोग पाषाणवत् खड़े रह जाते। उसके स्वर में कुछ अजीब मिठास था, वातावरण में एक नया समा बंध जाता था।

भणाय के राजा उस समय अवयस्क थे, अतः वे बाहर पढ़ाई करते थे। स्थानीय शासन राजमाता जी स्वयं सम्भालती थी और व्यवस्था के लिए एक कामदार (दीवान) नियुक्त थे जो ओसवाल भंडारी थे। इस उत्सव में राजमाता जी एवं कामदार साहब का बहुत सहयोग रहा। दरबार का एक घोड़ा था जिसका नाम था 'हनुमान।' लंबे कद का, सुडौल और पवन सा चंचल। मैंने आज तक वैसा

१ स्वामीजी श्री का अभी कुछ वर्ष पूर्व विजयनगर में स्वर्गवास हो गया है।

तेज घोड़ा नहीं देखा। हमारी बिंदोरी में 'हनुमान' आता था। यद्यपि उस पर सवारी करना हमारे बस का रोग नहीं था। इसलिए वह सदा कोतल ही रहता था। हमारे चढ़ने के लिए राजकीय घुड़साल से दो अन्य घोड़े आते थे। कभी-कभी घोड़ों पर चढ़ने की बात को लेकर हम दोनों वैरागियों के बीच खींचातानी भी हो जाती थी। बात इतनी खिंच जाती कि बिन्दोरी का समय भी निकल जाता पर हम अड़े खड़े रहते कि नहीं—चढूंगा तो इसी घोड़े पर। मेरा यह बालहठ लोगों को अटपटा भी लगता, पर मुझे याद है, मैं बालक होने के कारण व मेरी बालसुलभ मीठी बोली और तीखी जिद के कारण आखिर विजय मेरी ही होती थी। मुझे बड़ी चमकीली-भड़कीली सुनहली किनारीदार वेशभूषा से सजाया जाता और रात को मशालों की मन्दी रोशनी में वह चमकती रहती। मेरे ललाट पर तारा-सुलमों का टीका भी निकाला जाता जिससे पूरा ललाट भर जाता। उस चमकीली वेशभूषा में घोड़े पर बैठे और बिन्दोरी में चलते स्वयं मुझे भी ऐसा महसूस होता कि शायद मैं किसी राजकुमार से क्या कम हूं? देखनेवाले लोगों को भी शायद् ऐसा ही लगता था।

झमकूबाई की स्मृति

मुझे सजाने में माता जी से भी अधिक झमकूबाई रस लेती थीं। उनका स्नेह भी मां की तरह ही मुझे मिला था। वे तिंवरी के लोढ़ा परिवार की बेटी व पारख परिवार की बहू थीं। बाल्यअवस्था में ही उन्हें पति वियोग देखना पड़ा, पश्चात् वे भी प्रायः जीवन धर्मध्यान में बिताती थीं! उन्होंने व मेरी माताजी ने तिंवरी में महासती श्री सरदारकुंवरजी के पास साथ ही दीक्षा ग्रहण की थीं। उनका संयमजीवन बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा। ब्यावर में ४५ दिन का संथारा कर वे अभूतपूर्व समाधि-मरण को प्राप्त हुई। वैरागी अवस्था में उनसे जो स्नेह-वात्सल्य मिला, उसकी मधुर स्मृतियां आज भी मन में ताजा है।

ब्यावर निवासी श्री निहालचन्द जी मोदी की माताजी का भी स्नेहसिक्त व्यवहार, लाड़-प्यार मुझे अभी तक याद आता है।

डकैती का भय : अभय बना

हां, तो अब 'भणाय' में चारों ओर चहल-पहल बढ़ रही थी। बाहर से दूर-दूर से दीक्षा देखने को उत्सुक जनता उमड़ रही थी। उस प्रसंग पर अनेक मुनिवरों का भी वहां समागम होगया था, जिनके नाम मुझे स्मृति में हैं—

स्वामी श्रीजोरावरमलजी महाराज, ठा० ३

स्वामी श्रीधूलचन्दजी महाराज, ठा० ४

स्वामी श्रीफतहचन्दजी महाराज, ठा० २

आगममर्मज्ञ मुनि श्रीकन्हैयालालजी उस समय वैरागी थे और वे वहीं उपस्थित थे।

महासती सरदारकुंवरजी, ठा० ४ भी वहीं विराजमान थी। अन्य कौन-कौन सतियां जी थी यह मुझे आज स्मरण नहीं आरहा है।

उन दिनों ठा० मोड़सिंहजी ने कई जगह डाके डाले थे, दूर-दूर तक उनके नाम का आतंक था। उनके डेरे भी भणाय के आस-पास लगे थे। हजारों लोगों के आने की सूचना उन्हें थी और इस मौके का पूरा लाभ उठाने की योजना भी उन्होंने बना ली थी।

दीक्षा महोत्सव के संयोजकों को जव 'भणाय' के आस-पास मोडसिंहजी की हलचलों का पता चला तो उनमें वैचेनी छागई। दीक्षा प्रसंग पर हजारों स्त्री-पुरुष वाहर से आयेंगे, ऐसे अवसर पर यदि डकैतों ने हाथ मार दिया तो लाखों का नुक्शान तो होगा ही, साथ ही समाज के सिर पर कलंक का टीका भी लग जायेगा। दूर-दूर तक स्थानीय संघ की वदनामी भी होगी—इस कारण संयोजक चिंतित थे, यद्यपि पुलिस का प्रवन्ध काफी अच्छा कर लिया था, परन्तु मोडसिंह जी जैसा खूंखार व्यक्ति उस पुलिस प्रवन्ध से भय खानेवाला नहीं था।

पांच शस्त्रधारी पुलिसवर्दी में अचानक एक दिन भणाय की सीमा में पहुँचे, जव वे लोग भणाय के वाहर एक कुवें पर ठहरे थे तो गांव में इनके आने की खवर पहुंची कि पांच शस्त्रधारी (डाकू) आगए हैं। यह खवर विजली की तरह गांव में फैल गई, चारों ओर भय छा गया। कार्यकर्ताओं के हाथ-पांव फूल गये। कुछ लोगों को यह भी आशंका हुई कि ये लोग तिवरीवालों की तरफ से भेजे गये हैं, जो वैरागी को पकड़कर ले जायेंगे। चूंकि वे लोग कोर्ट में हार चुके है, अतः अव यही दांव खेलकर दीक्षा रोकने का प्रयास कर रहे होंगे? यों कई अफवाहें, कई आशंकाएं एक साथ तूफान की तरह सवों को मथने लगी। पूज्य गुरुदेव तथा स्वामी श्रीपन्नालालजी भी जरा सशंकित होगए और सावधानी के तोर पर श्रावकों को संकेतित किया। श्रावक लोग अजमेर कमिश्नर साहव व सेठ उम्मेदमल जी लोढ़ा को सूचित कर आशंकित घटना को टालने के लिए तुरन्त अजमेर जाने की तैयारी करने लगे। स्थानक के वाहर सभी लोग तैयारी में खड़े ही थे कि पांचों शस्त्रधारी गुरुदेव के चरणों में पहुंचकर भक्तिपूर्वक वन्दना करने लगे। लोग चकित थे, भयभीत भी! गुरुदेव ने जैसे ही उन लोगों को पहचाना, हंसकर वोल पड़े—ओह! क्या इन्हीं लोगों से आप भय खा रहे हैं?

लोगों ने जरा आश्वस्त होकर कहा—हां!

गुरुदेव मुस्कराते हुए वोले—भाई! ये तो लुटेरे नहीं, तुम्हारे रक्षक बनकर आये हैं। जानते हो ये लोग सिहु के जागीरदार हैं और नाम है—ठाकुर रुद्रदानजी, ठा०गोरखदानजी, ठा० रामकरण-जी, ठा० पीरदानजी और ठा० किरपाराम जी।

गुरुदेव के मुख से जैसे ही समागत शस्त्रधारियों का परिचय हुआ, भय की जगह प्रसन्नता और आनन्द की लहर दौड़ गई। सभी लोग बड़े प्रेमपूर्वक उनसे मिले!

ठा० रुद्रदानजी ने गुरुदेव से पूछा—वात क्या है? ये लोग हमें देखकर डर क्यों गये? गुरुदेव ने ठा० मोड़सिंहजी की डकैती की आशंका की वात कही। मोड़सिंह जी व रुद्रदानजी हमजोलिए दोस्त थे। ठा० रुद्रदानजी गुप्तरूप से मोड़सिंहजी से मिलने को गये। मोडसिंहजी ने उन्हें देखकर चकित, होकर पूछा—आप इधर कैसे?

ठा० रुद्रदानजी ने गुरुदेव के दर्शन व दीक्षा प्रसंग की चर्चा की? मोडसिंह जी हंसकर वोले—हम भी इसी मोके की ताक में घूम रहे थे ?

ठा० रुद्रदान जी—थे ¨ अव तो नहीं न ···?

ठा० मोडसिंह जी—लगता है अव मेरी साध पूरी नहीं होगी, जव ये आपके गुरु हैं तो उनपर हाथ डालना मेरे लिए तो महापाप है! मित्र के गुरु को मेरे ही गुरु समझता हूं। हां, मैंने तो सुना था—ये वनियों के गुरु है, और सोचा था इस सुनहरे मौके को हाथ से नहीं जाने देना है। रुद्रदान जी! आपतो

जानते ही हैं – मेरे शिकार तीन ही होते हैं—महाजन ! सुनार और कलाल ! किन्तु आप के गुरुदेव के लिए मैं अपना तन-धन न्यौछावर कर सकता हूं ! आप जाकर गुरुदेव से मेरी भी पांवधोक (वंदना) कह दीजिए और प्रबन्धकों को आश्वस्त कर दीजिए कि मैं स्वयं उनकी पहरेदारी करूंगा। यदि किसी की एक तीव (छोटा सा टुकड़ा) भी चली जाय तो इसकी जिम्मेदारी ठा० मोर्डसिंह पर रहेगी। मैं स्वयं भी वहां उपस्थित होता, लेकिन आप जानते हैं, लोग मेरे नाम से ही घबराते हैं, मुझे आया सुनेंगे तो उन्हें यह धसका होगा—डकैती डालने आया हूं ...।"

ठा० रुद्रदानजी मोर्डसिंहजी का संदेश लेकर गुरुदेव की सेवा में आये और जब उनका संवाद प्रबन्धकों ने सुना तो सर्वत्र हर्ष की लहरें उछल पड़ी। लोगों ने साक्षात् देखा, धर्म का एवं पूज्य गुरुदेव की पुण्यवानी का यह एक चमत्कार ही था जो सिर चढ़कर बोल रहा था।

इसप्रकार शांति, प्रेम और अभय के वातावरण में मेरी दीक्षा सम्पन्न हुई। मैंने एक नये जीवन में प्रवेश किया, असंयम से संयम, भोग से योग ओर मोह से वैराग्य की ओर मेरा यह महाप्रयाण था। इसकी गुरुता, गम्भीरता और गरिमा–एकदम अनुभव नहीं होती, किन्तु ज्यों-ज्यों पथ पर आगे कदम बढ़ते गये, मैं इस जीवन की गुरु-गम्भीरता से परिचित होता गया, ज्ञान का दीपक ज्यों-ज्यों प्रखर प्रभा फैलाता गया, मैंने स्वयं को और समस्त अग-जग को उस आलोक में परखने-निरखने का प्रयत्न किया, करता रहा।

दीक्षा से शिक्षा की ओर

वि० सं० १९८० ज्येष्ठकृष्णा प्रतिपदा को गुरुदेव मसूदा पधारे, वहीं पर मेरी बड़ी दीक्षा सम्पन्न हुई।

गुरु को कुंभार की उपमा दी गई है—

गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ है, घड़-घड़ काढे खोट !
अन्तर हाथ सहार दें बाहर बाहे चोट !

शिष्य का जीवन तभी निखर सकता है, जब योग्य गुरु का संगम हो। बिना गुरु के न अनुभव मिलता है, न ज्ञान और न मार्ग ! प्राचीन ग्रन्थों में गुरु को भगवान के समतुल्य माना है। कहा है—**तित्थयर समो सूरी**—आचार्य तीर्थंकर के तुल्य है। उपनिषद् में भी इसीलिए कहा है—

आचार्यवान् पुरुषो वेद

जिसने गुरु किया, वही ज्ञानी बन सकता है।

मैं अपना अहोभाग्य मानता हूं कि मुझे एक सुयोग्य गुरु मिले, जो वास्तव में ही गुरु की गरिमा से मंडित थे, मैं अपने को उनका सुयोग्य शिष्य साबित कर सका या नहीं, इसका निर्णय मैं नहीं दे सकता, पर हां, मेरा प्रयत्न यही रहा कि गुरुदेव के सानिध्य में, उनकी आज्ञा और उनकी भावना के अनुरूप मैं अपना जीवन बनाता रहूं। दीक्षा के पहले भी कुछ शिक्षा प्राप्त की थी, पर वह एक सामान्य शिक्षा थी, वास्तविक शिक्षा तो दीक्षा के बाद ही प्रारम्भ होती है। कहना चाहिए उस शिक्षा की वर्णमाला का प्रथम वर्ण यदि 'अ' से प्रारम्भ मानें तो 'अनुशासन' कहना चाहिए, इसे ही विनय और आत्म-निग्रह के रूप में समझना होगा। गुरु के प्रति विनय न हो तो शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती। विनय में मैं प्रारम्भ से ही ठीक माना गया था।

अध्ययन का क्रम

उन दिनों अध्ययन के लिए सिद्धान्तशाला जैसी संस्थाओं की व्यवस्था नहीं हुई थी, यद्यपि यह बहुत जरुरी थी, पर यह आवश्यकता वाद में अनुभव हुई और कुछ पूर्ण भी हुई। तव तो अध्ययन की स्वतन्त्र व्यवस्था ही करनी पड़ती थी। गुरुदेव मेरे अध्ययन के प्रति वड़े, सजग थे। प्रारम्भ से ही वड़े सुनियोजित क्रम से उन्होंने मेरे अध्ययन की व्यवस्था की। उनका कहना था कि वचपन-अध्ययन का सर्वोत्तम काल है। इस आयु में वुद्धि में कोमलता और ग्रहणशीलता अधिक रहती है। कोई भी वस्तु शीघ्र याद हो जाती है और वह वुद्धि में जम भी जाती है। इसलिए जितना रटने का, पढ़ने का है वह सव वाल्यवय ८ या १० से १५-१६ वर्ष तक की आयु में ही हो जाना चाहिए। उसके वाद वुद्धि में कुछ परिपक्वता आने लगती है, पढ़े हुए का अर्थ समझने की जिज्ञासा जगती है और दूसरों को वताने की भी। २० से आगे अध्ययन और परिपूर्ण होता है, पढ़ा हुआ, दूसरों को वताने के लिए वोलने के साथ लिखने की भी भावना जगती है, अनुभव और विचार-तरंगे उठने लगती हैं, तव लेखनी हाथ में लेकर विचारों को रूपायित करने की ललक भी जगती है। इस प्रकार यह तीनों वातें क्रमशः होनी चाहिए, पहले अध्ययन, फिर भाषण और फिर लेखन! अपने अनुभव के आधार पर निखरा हुआ गुरुदेव का यह निष्कर्ष वड़ा ही मनोवैज्ञानिक लगता है। तव मुझे भले ही इसमें कोई नवीनता नहीं लगी हो, पर जव मैंने प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक वेकन की ये पंक्तियां पढ़ी तो लगा भारतीय गुरुओं में और पाश्चात्य विचारकों में कितना मनोवैज्ञानिक साम्य है। वेकन ने कहा है—

रीडिंग मेक्स ए फुलमैन
स्पीकिंग ए फरफैक्टमैन
राइटिंग ए एग्जैक्ट मैन

अध्ययन मनुष्य को पूर्ण वनाता है, भाषण उसे परिपूर्णता देता है और लेखन उसे प्रामाणिक वनाता है।

मेरे अध्ययन में भी गुरुदेव ने प्रारम्भ से इसीप्रकार का संयोजन किया था। मुझे संस्कृत व्याकरण, कोष और आगम पढ़ाने के लिए गुरुदेव ने अनेक उच्चकोटि के विद्वानों को नियुक्त किया था। राजस्थान के ही नहीं, किन्तु विहार के मैथिल विद्वान् जिनकी विद्वत्ता (व्याकरण और नव्य न्याय के विषय में) सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध है, उन्हें भी बुलाया और साथ में रखकर अध्ययन कराते रहे। वे स्वयं वार-वार मेरे अध्ययन—पठन आदि का निरीक्षण करते। दिन में पढ़ा हुआ पाठ रात्रि में पूछते और उसकी शुद्धाशुद्धि का भी विशेष ध्यान कराते।

जैन समाज के धुरंधर विद्वान पं० वेचरदासजी दोशी को भी मेरे अध्ययन के लिए बुलाया गया, उनके पास से मैंने प्राकृत व्याकरण व जैन आगमों की टीकाएं आदि पढ़ीं। पंडित जी विद्यार्थी के प्रति नरम भी वहुत है और कठोर भी। यदि विद्यार्थी पूर्ण जागरूकता के साथ चलता है, विनय एवं विवेक के साथ अध्ययन करता है तो वे इतनी सरलता एवं मधुरता के साथ ज्ञानदान करते हैं कि लगता है—ये अध्यापक नहीं, पिता ही हैं। किन्तु अध्ययन में यदि लापरवाही वरती जाय तो वड़ी डांट भी लगाते हैं, और फिर उसे पढ़ाना भी वन्द कर देते हैं। उनकी विशेषता है, वे कभी भी अपने को वेतन-भोगी अध्यापक नहीं मानते, किन्तु विद्यार्थी के सच्चे गुरु के रूप में ही उसे ज्ञानदान करना अपना पवित्र कर्तव्य व अधिकार समझते हैं।

५

उनके बाद डा० इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री भी मेरे अध्यापक रहे। मैंने न्याय एवं दर्शन का अध्ययन उनसे ही किया। उनका भी स्नेह एवं सद्भाव मुझे बराबर मिलता रहा।

मेरा अध्ययन चल ही रहा था कि—श्रेयसि बहु विघ्नानि—अच्छे कार्य में विघ्न आते हैं, अचानक गुरुदेव अस्वस्थ हो गए। मेरे अध्ययन की गति कुछ मंद पड़ गई। वि० सं० १९८६ ज्येष्ठ शुक्ला ४ को भुंवाल में गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया। मेरा मन अत्यन्त खिन्न व उदास हो गया। पिताजी की मृत्यु के समय मुझे इतना दुःख नहीं हुआ, शायद कभी भी मुझे इतनी उदासी नहीं आई, जितनी गुरुदेव के स्वर्गवास के समय आई! स्वाभाविक भी थी, उनके हाथों में मेरा जीवन था। माता-पिता ने मुझे सिर्फ जन्म दिया था, मेरे जीवन का निर्माण तो वे ही कर रहे थे। मैं स्वयं को आश्रय, हीन-सा अनुभव करने लगा।

हाँ, मेरे मन की यह रिक्तता और उदासी अधिक समय तक नहीं टिक सकी। मेरे बड़े गुरु भ्राता पूज्यनीय स्वामी श्री हजारीमलजी एवं स्वामी श्री ब्रजलालजी ने मुझे वही स्नेह व वात्सल्य दिया जो गुरुदेव से मिलता रहा था। कहावत है—बड़ा भाई बाप बराबर, मुझे इसकी पूर्ण सत्यता अनुभव हुई। दोनों ही श्रद्धेय मुनिवरों ने मुझे पुत्र की भांति, अपने प्रिय शिष्य की भाँति लाड़-प्यार दिया, सिर्फ लाड़-प्यार ही नही, क्योंकि अब मैं किशोर अवस्था में आ चुका था इसलिए लाड़-प्यार के साथ शिक्षा, व्यवहार और निरन्तर कार्यरत रहने की ट्रेनिंग भी आवश्यक थी। साधु जीवन की मर्यादाओं में रहकर मैं अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करूं और योग्यता प्राप्त करूं, इसकी उन्हें बड़ी चिंता रहती थी।

मुझे याद है, अपने अध्ययन के लिए मुझे कभी किसीप्रकार की चिंता नहीं करनी पड़ी। अध्यापकों की व्यवस्था व विविध प्रकार के प्राचीन नवीन ग्रंथों का संग्रह करने में स्वामीजी स्वयं बहुत कुशल थे। इस व्यवस्था में भी वे हर किसी से नहीं कहते थे। शिक्षण व साहित्य-संग्रह की अर्थ व्यवस्था में स्तंभ रूप दो व्यक्ति थे। नागौर (मैलापुर-मद्रास) निवासी सिंभूमलजी वैद मुथा और कुचेरा (साहुकार पैठ, मद्रास) निवासी सेठ मोहनमलजी चौरड़िया। सेठ सिंभूमलजी वैदमूथा भद्र प्रकृतिवाले सचमुच शंभु ही थे। पूज्य गुरुदेव के प्रति उनकी एकनिष्ठावाली श्रद्धा थी। सेठ मोहनमलजी की उदारता, सरलता व संतजनों के प्रति भक्ति श्रावक समाज के लिए अनुकरणीय है ही। समाज में शिक्षा-प्रसार के लिए उनके हृदय में बड़ी तड़फ है। शिक्षा व साहित्य के लिए उन्होंने हजारों (शायद लाखों) का दान भी किया है, और आज भी कर रहे हैं।

लगभग २०-२२ वर्ष के अध्ययन-अनुशीलन से मेरे ज्ञान में कुछ प्रौढ़ता व अनुभव में परिपक्वता भी आने लग गई। संस्कृत-प्राकृत व हिन्दी में काव्यरचना भी करने लगा था। वैसे कोई व्यवस्थित काव्य मैंने नहीं बनाया, पर छिट-पुट भजन, स्तवन, स्तोत्र आदि काफी बनाएं। स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज का कहना था—कविता हमारे जयगच्छ की वपौती है, पूज्य जयमलजी महाराज की संप्रदाय में अनेक आचार्य व मुनिवर अच्छे कवि हुए हैं। स्वयं पूज्यश्री जयमलजी राजस्थानी भाषा के प्रौढ़ कवि थे। आचार्य श्री रायचन्दजी महाराज की कृतियां भी बड़ी उत्कृष्टस्तर की मानी गई हैं। मैंने राजस्थानी के साथ-साथ संस्कृत-प्राकृत में भी कुछ रचनाएं कीं। हां, तब तक प्रकाशन की कोई कल्पना भी मन में नहीं थी और न ऐसा वातावरण ही था। काव्य कृतियां—अधिकतर स्तुति-प्रधान या उपदेश-परक ही अधिक रचा करता था।

आचार्यपद : ग्रहण और विसर्जन

जयगच्छ की परम्परा में आठवें आचार्य थे श्रद्धेय श्री कानमलजी महाराज । वि० सं० १९८५ में उनका स्वर्गवास हो गया । उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् नये आचार्य की व्यवस्था नहीं हुई । स्व० गुरुदेव स्वामी जोरावरमलजी यद्यपि आचार्य नहीं थे, किन्तु उनका प्रभाव, वर्चस्व व विद्वत्ता किसी प्रकार कम नहीं थी, यही कारण था कि लोगों को यह अनुभूति भी नहीं हुई कि आचार्य का निर्वाचन करना चाहिए । उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस स्थान की पूर्ति स्वामी श्रीहजारीमलजी करते रहे, अतः तीन वर्ष तक यों ही गाड़ी चलती रही । वि० सं० १९८८ पाली में छह संप्रदायों का मुनि - सम्मेलन हुआ, उसमें संप्रदाय की सुव्यवस्था के लिए स्वामी श्री हजारीमलजी को प्रवर्तक एवं मुनि श्रीचोथमलजी महाराज को मंत्री नियुक्त किया गया ।

कुछ वर्षो पश्चात् जब मेरा अध्ययन पूर्ण हुआ तो लोगों की नजर मुझ पर टिकने लगी । कुछ श्रावकों ने स्वामीजी से कहा भी—अब ये (मैं) सब प्रकार से योग्य हैं तो संप्रदाय का आचार्यपद रिक्त क्यों रखा जाय । लोगों की बात स्वामीजी स्वयं भी अनुभव करते थे । पर मेरा स्वभाव कुछ दूसरा था । मैं अनुशासन में रहना जानता था, पर दूसरों पर शासन करना मेरी आदत नहीं थी । यह मेरे स्वभाव की विचित्रता ही थी कि मैं बड़ों के साथ ही नहीं, किन्तु अपने से छोटों के साथ भी बहुत विनम्र, सरल और आत्मीय सम्बन्ध रखता था । ज्ञान की रुचि थी, अध्ययन की लगन थी, पर प्रशासन में कभी मुझे दिलचस्पी नहीं रही, इसलिए मैं मानता हूं प्रकृति ने मुझे शासक नहीं, सिर्फ साधक रहने के लिए ही निर्मित किया । पर सम्प्रदाय के ज्येष्ठ मुनियों की इच्छा और वरिष्ठ श्रावकों का आग्रह इतना बल पकड़ गया कि अनचाहे भी मुझे वि० सं० २००४ में जयगच्छ के नोंवे आचार्यपद का भार स्वीकारना पड़ा । नागौर में बड़ा भारी समारोह हुआ और खूब उत्साह व जय-जयकार के साथ मुझे आचार्यपद की चादर दी गई ।

भगवान महावीर ने एक वचन कहा है—

महयं पलिगोव जाणिय जाविय वंदण-पूयणा इह

संसार में यश-प्रतिष्ठा, वंदना और पूजा की भावना एक बहुत बड़ा दलदल है, जो साधक इसमें फंस जाता है, उद्धार होना कठिन है ।

पता नहीं, किन कटु अनुभवों के संदर्भ में भगवान ने यह सत्य उद्घाटित किया था, पर मुझे ऐसा अनुभव हुआ, वंदना-पूजा-प्रतिष्ठा-शासन और प्रभाव जमाने की परिपाटी साधक जीवन के अनुकूल कम है । दूसरों को अनुशासन में रखना, अपनी संप्रदाय का गौरव बढ़ाना, और दूसरी संप्रदायों को प्रभावहीन करने की चेष्टा- यह सब शांतिप्रिय, एकांतशील , कम बोलनेवाले और सब के साथ विनम्र रहनेवाले व्यक्ति के लिए बड़ी ही टेड़ी खीर है । आचार्यपद पर आसीन होने के बाद मेरा नाम भी 'मिश्रीमल' की जगह जसवन्तमल (यशवंत-यशस्वी) कर दिया गया, पर मेरा मिश्री-सा स्वभाव कैसे बदल जाता ? नाम बदल जाने पर भी स्वभाव नहीं बदला और आचार्यपद का दायित्व उठाने के बाद मेरे अन्तर्मन में एक बैचेनी, उथल-पुथल और शांति के लिए तड़फ मचने लगी । इसमें संप्रदायों की आपसी खींचातानी भी मुझे बड़ी अप्रिय लगी, फलस्वरूप मैंने आत्मशांति एवं संघऐक्य के हित में आचार्यपद का विसर्जन करने का निर्णय कर लिया । मेरे इस निर्णय से कुछ लोग नाराज भी हुए पर बड़े स्वामीजी मेरी बात से सहमत थे और उन्हीं के प्रभाव बल पर मैंने आचार्यपद का त्याग कर दिया ।

उनदिनों श्रमणसंघ के गठन की वड़ी गर्म चर्चाएं चल रही थीं। श्रमणसंघ बने, समस्त स्थानकवासी श्रमण एक आचार्य के झंडे के नीचे एक ही परम्परा में आवद्ध हो—चारों ओर यह हवा बन रही थी। मेरे आचार्यपद त्याग से इस हवा को ओर वेग मिला। वि० सं० २००९ सादड़ी में वृहद् साधु-सम्मेलन हुआ, उसमें समस्त सम्प्रदायों से एक होने का आह्वान किया गया, हमने अपनी सम्प्रदाय का श्रमणसंघ में विलय घोपित कर दिया। फिर एक के वाद एक गों अनेक सम्प्रदायों के गादीधर इस संगठन में अपना विलय करते गये और "अखिल भारतीय वर्धमान स्थानकवासी श्रमणसंघ" का गठन हुआ। इतिहास में यह अभूतपूर्व एकता थी। एकता त्याग और वलिदान चाहती है, यदि त्याग वास्तविक न होकर दिखाऊ या जवर्दस्ती परिस्थितियों से विवश होकर किया जाता है तो वह स्थायित्व नहीं पकड़ सकता। श्रमणसंघ की एकता में जो सम्प्रदायों व पदों का त्याग हुआ वह हृदय से कम, विवशता से अधिक हुआ, ऐसा मेरा अनुभव है, इसी कारण नारंगी की तरह ऊपर से एक दिखाई देने पर भी भीतर में सव फांके अलग-ललग अनेक वनी रही, और कुछ समय बाद उनमें पुनः विस्फोट, अलगाव होना प्रारम्भ हो गया। खैर यह विपय यहां अधिक चर्चा का नहीं है। हमने अपना विलय विवशतावश नहीं, किन्तु एकता वनाने के लिए ही किया था और आज भी मैं अतन्र मन से श्रमणसंघ की एकता के लिए हर प्रकार का वलिदान करने की भावना रखता हूं।

मुनियों का संगम

श्रमण संघ के सम्मेलनों से एक वात वहुत अच्छी हुई। स्थानकवासी परम्परा के अनेक विद्वान, प्रभावशाली संत राजस्थान से दूर, पंजाव, हरियाणा, गुजरात, वम्वई के प्रदेशों में विचरते थे। उनके वे ही क्षेत्र थे। राजस्थान उनकेलिए परदेश था और राजस्थानवालों के लिए वे परदेशी थे। इन सम्मेलनों में विद्वान् मुनिजनों का एक दूसरे से साक्षात्कार हुआ, निकटता स्थापित हुई और राजस्थान में उनका विहार होने से विचार व ज्ञान का आदान-प्रदान भी हुआ। उनके नये विचारों की हवा ने राजस्थानी मुनियों की परम्परागत विचारश्रेणी को प्रभावित किया और एक युगीन परिवर्तन की दिशा में मोड़ दिया। मैं जिन प्रमुख मुनियों के सम्पर्क में आया, वे हैं शतावधानी पं० श्रीरतनचन्दजी महाराज, उपाचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज, कविरत्न उपाध्याय श्रीअमरचन्दजी महाराज आदि। शतावधानीजी महाराज एवं उपाचार्यजी महाराज के सान्निध्य मे मैं कम रहा, किन्तु कविरत्न उपाध्याय अमरचन्दजी महाराज का सान्निध्य मुझे वहुत मिला। मैं इसे अपना सौभाग्य ही मानता हूं कि उनका स्नेह-सौजन्य मुझे उनके आत्मीय परिवार में ले गया। उनके सम्पर्क मे मैंने आगमों के भाष्य, चूर्णि आदि ग्रन्थों का अनुशीलन भी किया। उनकी विद्वत्ता वड़ी गहरी है, सूक्ष्म प्रतिभा, तर्क पटुता और वाक्चातुर्य उनका गजव का है। वे किसी भी वात को जव समझाते है तो ऐसा लगता है—एक-एक कली खोलकर रख रहे हैं, गंभीर-से-गभीर वात भी हृदयंगम हो जाती है। संगठन व समन्वय मे तो वे पुराने व नये के वीच एक सेतु का काम करते है। श्रमण सम्मेलनों में देखा—सर्वत्र उनकी प्रतिभा, समन्वय वुद्धि, मिलन-सारिता का जादू वोल रहा था। उन दिनों में, आचार्य न होकर भी आचार्य के समान प्रभाव उनका श्रमण संघ पर छाया हुआ था, ऐसा मुझे आज भी याद है। छोटों के साथ स्नेह, वड़ों के साथ विनम्रता, विचारों की स्पष्टता और अभिव्यक्ति की कला—मैंने उनसे सीखने की चेप्टा की। कुचेरा में वे चिकित्सा के लिए चातुर्मास स्थिर रहे, तव हम वहुत दिन तक साथ रहे थे। कवि श्री जी के पत्रों में आज भी उन दिनों की मधुर-स्मृतियां यदा-कदा ताजा होती रहती है।

स्वामीजी का महाप्रयाण

वि० सं० २०१८ में मेरे परम श्रद्धेय गुरुभ्राता स्वामीश्री हजारीमलजी महाराज का साया भी मेरे सिर पर से उठ गया। वहुत अल्पकालीन वीमारी के वाद चैत्रकृष्णा दशमी को चांदावतों का नोखा में उनका स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास के पहले उन्होने मुझे अनेक शिक्षाएं दी थी। उन्हें पूर्ण संतोप था कि स्व० गुरुदेव ने उन्हें मेरी शिक्षा-दीक्षा की जो जिम्मेदारी सौंपी थी वह अच्छी प्रकार सम्पन्न हुई। मेरे प्रति उन्हें पूर्ण संतोप था, इसलिए प्रसन्नता और निराकुलता के अन्तिम क्षणों में वे कृतकृत्यता अनुभव करते रहे।

गुरुदेव के महाप्रयाण के पश्चात् स्वामी श्री व्रजलालजी का वही स्नेह मुझे मिला, जिससे मुझे वड़े स्वामीजी के अभाव को भुलाने में वड़ी शक्ति मिली।

मरुधरा के एक तेजस्वी संत का सान्निध्य भी मैं कभी नहीं भूल सकता। वे हैं मरुधरकेशरी प्रवर्तक श्री मिश्रीमलजी महाराज। हम दोनों की गुरु परम्परा सहोदर की है, अतः प्रारम्भ से ही उनका हमारा अत्यन्त नैकट्य और आत्मीयभाव रहा है। श्री मरुधरकेसरीजी मिश्री की तरह जितने मधुर हैं, उतने ही कठोर भी! अन्याय, असत्य और रूढ़ियों के प्रति वे सदा ही वड़े कठोर रहे हैं। किन्तु साथ ही जैसे पत्थर की चट्टानों के वीच में निर्मल मधुर जलस्रोत छिपा रहता है, वैसे ही उनके हृदय में असीम प्रेम, स्नेह, सौजन्य और माधुर्य छलकता रहता है। वड़े स्वामीजी के स्वर्गवास के पश्चात् तो मुझे उनका स्नेह व सौजन्य वहुत ही मिला हैं। राजस्थान के अंचलों में, शिक्षा, साहित्य आदि के प्रचार में उन्होंने जो भगीरथ कार्य किये हैं, वे न केवल स्थानकवासी जैनसमाज के लिए, किन्तु राजस्थान व मरुधरा के लिए भी गौरव है। मेरा सौभाग्य ही है, कि एक के वाद एक तेजस्वी, वर्चस्वी व स्नेही मुनिवरों का स्नेह, सद्भाव व कृपा मुझ पर वरसती रही है। मैं इस माने में वड़ा ही भाग्यशाली रहा हूं।

स्वर्गीय स्वामीजी श्री चौथमलजी महाराज के सौजन्यपूर्ण स्नेह का मुझे स्मरण होता है तो रोमांच हो आता है। वे सदा ही मुझ पर प्रेम की वर्पा करते रहे। वर्तमान में विराजित स्वामीजी श्री रावतमलजी महाराज की स्नेहमयी कृपादृष्टि भी मेरे जीवन का एक संवल वनी हुई है। महासती उमरावकुंवरजी 'अर्चना' का सौजन्य व उनका साहित्यिक क्षेत्र में सहकार भी मेरे लिए चिरस्मरणीय रहेगा।

मेरे अध्ययन के पश्चात् साहित्य-निर्माण में पं० इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री, पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल वहन कमला 'जीजी' और श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' का भी उल्लेखनीय सहयोग मिलता रहा है। कमला जीजी और श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' का स्नेह, सद्भाव व सहकार तो आज भी मुझे प्राप्त है। और मैं विश्वास रखता हूं कि साहित्य निर्माण की दिशा में मैंने अभी जो कुछ किया है, उससे अधिक भविष्य में कर पाऊंगा और सभी सहयोगियों का सहकार मिलता ही रहेगा। निर्माण की दिशा में व्यक्ति अकेला कुछ नहीं कर सकता, चाहे कितना ही समर्थ हो! अनेक हाथों का सहयोग ही इस रथ को आगे गतिशील वनाए रखता है। स्नेह एवं सहयोग में मुझे विश्वास है, और यही मेरे जीवन की अव तक की पृष्ठ भूमि है।

▣ देवेन्द्र मुनि, शास्त्री

पण्डित मुनि श्री मधुकर जी स्थानकवासी जैन समाज के एक लब्ध प्रतिष्ठित सन्तरत्न हैं। उनका वाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व चित्ताकर्षक और मन-मोहक है। मंझला कद, गेहुआँ वर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झांकती हुई तेज आंखें, दुवला-पतला मुस्कराता हुआ आकर्षक मुख मण्डल, श्वेत खादी के परिधान से परिवेष्टित शरीर, यह है उनका वाह्य व्यक्तित्व, जिन्हें लोग मिश्रीमलजी 'मधुकर' के नाम से जानते हैं, पहचानते हैं। प्रथम दर्शन में ही दर्शक भाव-विभोर हो जाता है।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना दिल को लुभानेवाला, मन को मोहनेवाला है उससे भी वढ़कर है उनका आन्तरिक व्यक्तित्व। एकवार भगवान् महावीर ने सच्चे साधक के आन्तरिक जीवन का विश्लेषण करते हुए कहा था—'सच्चे साधक का जीवन जैसा भीतर में होता है, वैसा ही वाहर होता है और जैसा वाहर होता है वैसा ही भीतर।

भगवान् महावीर के उस जीवनदर्शन के अनुसार मधुकर मुनि जी का जीवन एक सच्चे साधक का जीवन है, वे खण्ड-खण्ड जीना पसन्द नहीं करते। उनके जीवन में निरन्तर ध्वनित होने वाली संगीत के समान एक लय है, एक रस है, एक तान है, उनके जीवन में न बनावट है, न दिखावट है और न सजावट है।

सामाजिक मंच पर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए एक अभिनेता की तरह सजावट कर भूमिका अदा करनी पड़ती है। सस्ती प्रतिष्ठा, और जय-जयकार प्राप्त करने के लिए तिकड़मवाजी और न जाने कितने हथकण्डे करने पड़ते हैं। मैंने मधुकर मुनि जी को अत्यन्त निकट से देखा है, उनमें वह द्वंध, दिखावट और बनावटपन नहीं है। यह सत्य है कि वे एक सम्प्रदाय के सन्त है, तथापि वे सभी सम्प्रदायों की विशेषताओं का आदर करते हैं। सहिष्णुता व स्नेह के आधार से उन सव में नैकटच स्थापित करना चाहते हैं। वे मानवतावादी हैं और जन-जन के मन सुसंस्कारों को जागृत कर अनैकता व दुराचार व भ्रष्टाचार को हटाना चाहते हैं। अनुभव की कसौटी पर कसा हुआ यह पूर्ण तथ्य है कि उनमें अपराजेय साहस का भाव है और चिन्तन की गहराई है, दूसरे के मनोभावों को समझने का सामर्थ्य है और अयाचित स्नेहार्द्रता के कारण उनका आन्तरिक व्यक्तित्व और भी अधिक महत्त्वशील हो गया है।

मैं व्यावर, जोधपुर, सादड़ी, सोजत, साण्डेराव और जयपुर आदि स्थलों पर उनके साथ रहा हूं, साथ में वर्षावास किया है, अनेकबार उनसे विचार-चर्चाएं की हैं, मैंने अनुभव किया है कि वे संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं, प्राकृत-साहित्य के गम्भीर अभ्यासी हैं, और साथ ही काव्य रसिक व काव्य निर्माता भी है। मधुर प्रवक्ता हैं, तथापि उनमें अहंकार नहीं है, उनका केवल नाम ही 'मधुकर' नहीं है, पर उनका मन भी मधुर है और वचन भी मधुर है, इसी कारण लोग उन्हें 'मिठी मिश्री' भी कहकर पुकारते हैं। मधुकर मुनि जी तात्विक (विद्वान्) हैं, पर साथ ही सात्विक भी हैं।

मुनि श्री एक प्रभावशाली वक्ता और अच्छे साहित्यकार भी हैं। उनके प्रवचनों में, शब्दों का आडम्बर नहीं होता है और न कला की कमनीयता ही रहती है। वे जो भी वोलते हैं वह न केवल सरस और सुवोध ही होता है, अपितु उसमें विचारों की स्पष्टता भी होती है। कठिन से कठिन विषय को बहुत ही सीधे-सादे शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। अपनी बात को सरलता से समझाने के लिए कथा-कहानियों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में करते हैं। उनके कहानियां और रूपक बड़े ही रोचक और शिक्षाप्रद होते हैं।

वे सदा समन्वय की भाषा में वोलते हैं, समन्वय की दृष्टि से सोचते हैं, और समन्वय की दृष्टि से ही लिखते हैं। समन्वयमूलक नीति और रीति से ही वे जन-मन के प्रिय बने हैं, यही करण है कि वे जो बात कहते हैं वह दूध की तरह सीधी गले के नीचे उतर जाती है। उनकी वाणी में ओज है, हृदय में पवित्रता है और साधना में उत्कर्ष है, उत्साह उनका अनुपम सहचर है।

विज्ञान और विनाश की इस कसमसाती वेला में भी वे मानव की असहिष्णु हृदय-भूमि को नैतिक हल से जोतते हैं और उसमें प्रेम और धर्म के बीजों को बोते हैं। शास्त्रों के निचुड़े अर्क से उन्हें सींचते हैं, क्षेत्रज्ञ की तरह उनकी रखवाली करते हैं। यही उनके जीवन श्री सफलता की कुन्जी हैं।

मैंने मुनि श्री के साथ लम्बी विचार चर्चाएं की हैं, मुझे अनुभव हुआ कि मुनि श्री प्राचीन परम्परा को उचित महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु उन्हें यह स्वीकार नहीं है कि प्राचीनता के साथ सत्य का गठवन्धन है और अर्वाचीनता के साथ नहीं।

वे सर्वथा न प्राचीनता के समुत्थापक हैं और न सर्वथा अर्वाचीनता के ही सम्पोषक है। वे प्राचीनता और अर्वाचीनता दोनों को समान महत्त्व देते हैं, वशर्ते कि उसमें सच्चाई और औचित्य हो। सच्चाई रहित न प्राचीनता उनके लिए उपादेय है और न अर्वाचीनता ही। सच्चाई प्राचीनता में भी हो सकती हैं और अर्वाचीनता में भी। प्राचीनता मात्र हेय नहीं है और न अर्वाचीनता मात्र उपादेय ही है, दोनों में हेय और उपादेय का अंश रहा हुआ है। प्राचीनता के हेय अंश को छोड़ने में और अर्वाचीनता के उपादेय अंश को स्वीकार करने में कभी भी नहीं सकुचाते हैं। वे प्राचीनता और अर्वाचीनता को नहीं, पर समीचीनता को मानते हैं।

मुनि श्री के जीवन की महिमा और गरिमा का जितना ही वखाण किया जाय उतना ही कम है। वे जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्ति हैं। जब से मेरा सम्पर्क आया है, तब से मैंने उन्हें सदा जागृत व तत्पर पाया। उनके जीवन में शैथिल्य कभी भी देखने में नहीं आया। मुझे उनके सानिध्य से लाभ हुआ है। इस मंगलमय अवसर पर मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में अर्पित करता हूं।

●●

विनय, विचार व विवेक से समृद्ध

एक जीवंत और प्राणवंत व्यक्तित्व

श्री मधुकर मुनि

● राजेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ

मैंने श्री मधुकर मुनिजी के सम्बन्ध में गुरुदेव श्री से तथा अन्य लोगों से बहुत कुछ सुना था, किन्तु दर्शन का अवसर मुझे नहीं मिला था। पूज्य गुरुदेव राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के साथ वम्बई कांदावाड़ी का सन् १९७१ का शानदार वर्षावास समाप्त कर हम साण्डेराव राजस्थान प्रान्तीय सन्तसम्मेलन में उपस्थित होने के लिए गुरुदेव श्री के साथ साण्डेराव पहुँचे, उसी दिन स्वामी जी श्री व्रजलालजी महाराज व मधुकर जी महाराज भी पधारे, दोनों का एक साथ नगर में प्रवेश हुआ। उस दिन प्रथमवार मैंने मधुकर मुनि जी को देखा, मुझे लगा जिनकी मैंने इतनी यशोगाथा सुनी है, क्या दुवले-पतले और छोटी कायावाले यही मुनि मधुकर है ? उन्हें निहारकर नेत्रों ने परितृप्ति का अनुभव किया। पाश्चात्य विचारक कारलाइल ने लिखा है कि "किसी महापुरुष की महानता का पता लगाने के लिए यह देखना चाहिए कि वह अपने से छोटे के साथ कैसा वर्ताव करता है। यदि वह अपने से छोटों के साथ मधुर और स्नेहपूर्ण वर्ताव करता है तो वह महान् पुरुष है। "मुझे लिखते हुए हार्दिक आह्लाद होता है कि मधुकर मुनि जी वस्तुतः एक महापुरुष है, क्योंकि प्रस्तुत परीक्षण प्रस्तर पर कसने से वे मुझे महापुरुष प्रतीत हुए। उन्होंने मेरे साथ अत्यन्त मधुरता के साथ वर्ताव किया। और अनेक विषयों पर मेरे साथ वार्तालाप किया।

उनके प्रवचन, उनके लेखन, और उनके कार्य-कलापों से सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट होता है कि उनका अध्ययन विशाल है। जैनधर्म और दर्शन का अध्ययन उनका विस्तृत है, साथ ही वैदिक और बौद्धधर्म का अध्ययन भी गम्भीर और तलस्पर्शी है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उनका परिज्ञान वहुविध और वहुव्यापी है। संस्कृत और प्राकृत जैसी प्राचीन तथा कठिन भाषाओं पर उनका अधिकार है। हिन्दी और राजस्थानी भाषाओं में वे धाराप्रवाह वोल सकते हैं, लिख सकते हैं।

मैंने मुनि श्री से समाज और संस्कृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की, उत्तर में मुनि श्री ने कहा—मैं समाज और संस्कृति का तादात्म्य सम्बन्ध मानता हूं। जो कुछ भी संस्कृति है, वह समाज के धरातल पर ही पनपती है, विकसित होती है।'

संस्कृति क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में मुनिश्री ने कहा—विकृति, संस्कृति और प्रकृति ये तीन शब्द हैं। आत्मा अनादिकाल से विकृति में घूम रहा है। विकृति को नष्ट करने के लिए जो कुछ साधना की जाती है, वह साधना ही वस्तुतः संस्कृति है और संस्कृति ही अन्त में प्रकृति वन जाती है। प्रकृति का अर्थ है वस्तु का मूल स्वरूप। हमारे जीवन के विकास का क्रम है—हम विकृति से संस्कृति की ओर जाते हैं और फिर प्रकृति की ओर।

साहित्य और कला के सम्वन्ध में मैंने मुनिश्री से पूछा तो मुनिश्री ने कहा—साहित्य और कला मानव जीवन के लिए वरदान है, साहित्य और कला का सम्वन्ध परस्पर घनिष्ट है। ये दोनों मानव जीवन और विचारों को सरसब्ज करनेवाली सरिताएं हैं जो जीवन की समतल भूमि पर एक साथ प्रवाहित होती है।

विज्ञान के सम्वन्ध में मैंने उनसे अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा कि आप विज्ञान को मानव समाज के लिए वरदान मानते हैं या अभिशाप ?

उन्होंने कहा—विज्ञान अपने—आप में एक शक्ति है, वह अच्छी भी हो सकती और बुरी भी हो सकती है। जापान में हिरोशिमा और नागासाकी में जव हम विज्ञान का वीभत्स रूप देखते हैं, मानव और अन्य जीव जन्तुओं को छटपटाते हुए देखते हैं तव विज्ञान एक अभिशाप के रूप में नजर आता है किन्तु विज्ञान का दूसरा पक्ष कल्याणकारी और शुभ है। रेडियो टेलिविजन, विद्युत, चिकित्सा और कृषि आदि के सम्वन्ध में विज्ञान ने मानव जाति का अत्यधिक उपकार भी किया है। आज का मानव अनन्त आकाश में पक्षी की तरह उड़ सकता है। सागर के विराट् वक्षस्थल पर मछली की तरह तैर सकता है और धरती पर रेल और कार के द्वार दौड़ सकता है, यह सारा विज्ञान युग का ही चमत्कार है। विज्ञान को जन्म देनेवाली मानव बुद्धि है। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग करना उस पर निर्भर है। यदि विज्ञान का धर्म के साथ समन्वय किया जाय तो विज्ञान का कल्याणकारी रूप ही रहेगा।

मुनि श्री ने आगे कहा—केवल विज्ञान का ही नहीं, जगत के किसी भी वस्तु के दो पक्ष हो सकते हैं शुभ और अशुभ, सत् और असत् अतः उसकी उपेक्षा करना न न्यायसंगत है और न तर्कसंगत है। मानव को विज्ञान के अशुभ और असत् पक्ष की ओर न देखकर उसके शुभ और सत् पक्ष की ओर देखना चाहिए।

मैंने पुनः प्रश्न किया, धर्म और विज्ञान में क्या अन्तर है ? जीवन के लिए अधिक उपयोगी कौन है ?

मुनि श्री ने उत्तर में कहा—दोनों ही उपयोगी है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों की आवश्यकता है। धर्म अन्तर्मुखी है और विज्ञान वहिर्मुखी है। विज्ञान प्रकृति के सत्यों को उपलब्ध कर उसको जीवन के लिए उपयोगी वनाने के लिए उपयोगी रहता है, जवकि धर्म अन्तर के विकारों को नष्ट कर आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करता है। इसप्रकार एक वाह्य जीवन के लिए उपयोगी है तो दूसरा अन्तरजीवन के लिए। दोनों की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। दोनों का मधुर समन्वय ही जीवन को पूर्ण वनाता है। राष्ट्रपिता गांधीजी ने भी कहा है—धर्म से अनुप्राणित एवं धर्म से अनुशासित विज्ञान मानव जाति का हित ही करेगा, अहित नहीं।

इसप्रकार अनेक विषयों पर उनसे वार्तालाप हुआ। मुनि श्री के विचारों की गहनता, व्यापक अध्ययन व अनुभव को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई।

पण्डित मुनिश्री की सुदीर्घचारित्रपर्याय और श्रुत-सेवा के उपलक्ष में एक विराट् अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, यह आह्लाद का विषय है। मुनि श्री लम्वे समय तक आचार और विचार की ज्योति जलाते हुए जन-जीवन को प्रशस्त पथ प्रदर्शित करते रहें यही मेरी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि है। ●●

६

निष्कपट व्यक्तित्व, चेहरे पर गम्भीरता की स्पष्ट रेखाएं, विविध विषयों का सुन्दरतम ज्ञान एवं चिन्तन मनन की विभूति, वाणी में मधुरत्व, भाषा एवं भावों की मौलिकता ! ये कुछ ऐसी विशेषताएं है—मुनि मधुकरजी में। जो श्रोताओं को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

गत वर्ष माध्यमिकशाला-कुचेरा में आपका प्रवचन हुआ था। मैं तो क्या, सभी अध्यापक बन्धु एवं छात्र वर्ग आपके प्रवचन से प्रभावित थे।

३१ दिसम्बर १९७२; वर्ष का अन्तिम दिन ! रविवार का अवकाश ! और मैं मधुकरजी के दर्शनार्थ स्थानक पहुंचा !! आग्रह किया—शाला में प्रवचन के लिए। सहजभाव से मुनि श्री ने उत्तर दिया—"स्वास्थ्य ठीक नहीं—मैं तो यदा कदा इधर विहार करता ही रहता हूं—फिर कभी !!

मैं बैठ गया। महाराज श्री लेखनकार्य में व्यस्त थे। मैंने सकुचाते हुए कहा—ये कुछ प्रश्न है मेरे—जिनके उत्तर आपसे चाहता हूं।

मुनि श्री के सौम्य चेहरे पर मुस्कराहट आगई—हंसते हुए बोले—"क्या छात्रों की भांति आज मेरी भी परीक्षा लेने का इरादा है ?"

मैंने कहा—घबराइये मत ! सम्पूर्ण जीवन एक परीक्षा ही तो है—और आप तो संयमरूपी कठिन परीक्षा में भी सफलता की चरम सीढी पर है। और इतना कहकर मैंने पहला प्रश्न कर ही डाला—"वैराग्य का क्या अर्थ है ?"

गम्भीर प्रशान्त वाणी में मधुकरजी का उत्तर था–वैराग्य का अर्थ–भोगों के प्रति अनभिरुचि'।

मैंने कहा—ठीक है—तो फिर आपने अचानक वैराग्य क्यों धारण कर लिया ? उत्तर था—"माताजी की सद्प्रेरणा के कारण।"

मैंने तुरन्त अगला प्रश्न किया—अधिकतर साधुओं के सान्निध्य में रहने का मुझे मौका मिला है ! प्राय: मैंने पाया है; वे श्रमण जीवन से ऊब गये है। क्या कारण है ? आप तो ऐसा कुछ अनुभव नही करते ? उत्तर में मुनि श्री ने स्पष्ट किया—"साधुओं में संयम के प्रति निष्ठा का अभाव ! परन्तु मैं तो अपने संयमी जीवन से पूर्णत: सन्तुष्ट हूं।"

क्या आप मानते हैं कि अपके सुदीर्घ साधना पथ से किसी का गहरा सम्पर्क रहा है; तथा आपने उनसे कुछ पाया है ?

मधुकर जी ने फरमाया—"हां ऐसा तो है ही ! स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव एवं अभी विराजित परम श्रद्धेय कविवर श्री अमरचन्दजी महाराज साहब, जिनसे मैंने बहुत कुछ पाया है।"

तो महाराज साहब अब बताइये—कि कौन सी वह गुत्थी है जो मानव को लोक कल्याण में नहीं लगने देती ? जन साधारण को यह भ्रम हो गया है कि जैन साधु अपना कल्याण चाहते हैं, दूसरों का नहीं ! क्या यह सत्य है ?

मुनि श्री कुछ विराम के बाद बोले—"स्वार्थवृत्ति ही मानव को लोक कल्याण में नहीं लगने देती ! रही जैन साधु की बात - सो आज तक का इतिहास साक्षी है – जैन श्रमणों ने अपनी आध्यात्मिक साधना के आधार पर अधिकतम लोकोपकार ही किया है। उनके लोकोपकार का माध्यम सदा से उपदेश देना रहा है। आज भी जैन श्रमण पदयात्रा द्वारा स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अन्य साधकों की अपेक्षा अधिक लोकोपकार करते हैं।"

मेरा अगला प्रश्न था—कुप्रथाएं समाज में सड़ाँध फैलाती है। समाज का ही दूषित वर्ग राष्ट्रोन्नति की गति अवरुद्ध करता है। इसी सन्दर्भ में दहेज प्रथा, वृद्ध विवाह, मानव का येन केन प्रकारेण शोषण आदि आदि—मानवता के लिए कलंक है। क्या कभी श्रमण वर्ग ने इन दुष्प्रवृत्तियों की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया है ?

मधुकर जी के भव्य ललाट पर चिन्तन की रेखायें स्पष्ट होगई। वे-बोले—"हां—साधु वर्ग को इस ओर ध्यान देना अतीव आवश्यक है। सुसंस्कृत साधुजन इस क्षेत्र में अपना पदार्पण सजगता से करते भी हैं। परन्तु जब तक प्रत्येक साधु अपनी मर्यादा के अनुसार इस ओर अपने को नही जुटा सकेगा; तब तक जन-जन में ऐसे सुधारों के होने की सम्भावना नहीं है !"

मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया, बोला—सही है ! महावीर, बुद्ध, गांधी आदि ने हिंसा का तीव्र विरोध किया था—आज भी किया जा रहा है ! क्या हिंसा घटी है ? मेरे विचार से तो 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की !—'

महाराज श्री ने कहा—"तत्कालीन महान्-पुरुषों की उत्क्रान्ति का प्रभाव अपने-अपने समय में जन साधारण पर अवश्य पड़ा है। इधर जन-समाज में जो कुछ भी एक दूसरे के अधिकारों के संरक्षण की भावना जागृत हुई है - यह गांधी युग की अहिंसा की देन है ! जन जन में स्वार्थान्धता एवं वितृष्णा अत्यधिक तीव्र गति से बढ़ रही है। ऐसी विषम स्थिति में क्रान्तिकारी कदम के उठाये बिना हिंसा का मर्ज मिटना संभव नहीं है।"

मैंने कहा—आपका उत्तर तथ्यपूर्ण हो सकता है—परन्तु मैं तो यह दोष वर्तमान धर्माचार्यों का ही मानता हूं। क्योंकि वे अपनी वाणी का यथेष्ट प्रभाव जनसाधारण पर नहीं डाल सके हैं। खैर—यह अपने स्वतन्त्र विचार हैं। अब आप यह बताइये—कि आपने आचार्य का गरिमापूर्ण पद पाकर भी त्याग दिया ! निस्सन्देह आप पदलोलुप नहीं है। आपमें यश के प्रति अनिच्छा है। अब श्रमण संघ अगर आग्रह करे और इस पद पर आपको पुनः आसीन करे तो संघ एकता के लिए आप क्या प्रयास करेंगे ?

मधुकरजी की वाणी में दृढ़ता थी—वे वोले—"अभी तक मेरी यह मनोभावना ही नहीं है; फिर भी यदि अकस्मात् मेरे लिए ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाय; तो मेरी ओर से संघ एकता के लिए भी संभव प्रयास अवश्यमेव किये जायेंगे। संघ एकता के लिये अब तक अनेक प्रयास किये गये—परन्तु उनसे वस्तुतः असफलता ही हाथ लगी। इससे मेरी यह धारणा वन गई है कि संघ एकता आना फिलहाल संभव नहीं है।"

प्रत्येक व्यक्ति धर्म-धर्म चिल्लाता है—आप यह स्पष्ट कीजिये कि धर्म क्या है? राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल धर्म को आधार मानकर किया जा सकता है?

मुनिश्री पुनः विचारमग्न हो गये। स्थिर होकर वोले—"धर्म का अर्थ है—कर्त्तव्य पालन एवं अपने-अपने उत्तरदायित्व को पूर्णतः निभाना! यही वह सूत्र है, जिससे राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं का निराकरण संभव है। इससे राष्ट्रोत्थान की गति भी तीव्र होगी।"

मैंने अगला प्रश्न किया—स्वतन्त्रता प्राप्ति के २५ वर्षों के पश्चात् भी देश के नागरिकों में राष्ट्रीयता की कमी है। विशेषतः छात्र वर्ग में अनुशासनहीनता वढ़ रही है। क्या कारण है? कुछ ऐसे विन्दु वताइये— जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वशासन सीखे एवं राष्ट्रीयता का विकास हो?

जीवन के सुदीर्घानुभव के वल पर मुनिश्री ने समझाया—"कि जव तक शासन व्यवस्था सुन्दरतम नहीं होगी; तव तक नागरिकों और छात्र वर्ग में अनुशासन प्रियता कभी नहीं पनप सकेगी। यथा राजा तथा प्रजा। तो अनुशासन में रहने के मुख्य विन्दु हैं—सेवा, संयम, स्नेह, सहयोग, सदाचार, सुसंस्कार एवं विनम्रता! इन्हीं से राष्ट्रीयता का विकास भी संभव है।"

मधुकरजी महाराज साहव कुछ थकान महसूस कर रहे थे। मैं चौंका! समयावधि सीमा लांघ रही थी। क्षमा कीजिये; मुझे आपकी अस्वस्थता का ध्यान ही नहीं रहा। मैंने सविनय कहा। मुनिश्री वोले—"कोई वात नहीं—वैसे ही पिछले दिनों कुछ जुखाम था—पूछिये और कुछ?

और मुनिश्री के इस कथन के वाद मैंने चलते-चलाते अन्तिम प्रश्न रख ही दिया—वादों का युग है। इधर कई नये वाद जन्म ले रहे हैं—यथा—समाजवाद; साम्यवाद; प्रगतिवाद; गांधीवाद आदि ! भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में कौनसा वाद उपयुक्त है?

महाराजश्री ने वतलाया—"जिन वादों में मूलतः सत्य की गुंजाइश हो उनके प्रति अपने दिल में आदर की भावना रखना आवश्यक है। यह समन्वय की दृष्टि से ही संभव है। अतः जैनदर्शन समन्वयवाद को ही उत्तम मानता है।"

ये कुछ प्रश्न मेरे और सटीक उत्तर मधुकरजी के। जी चाहता था—कि मैं प्रश्न करता रहूं और मुनिश्री उत्तर देते रहें। वन्दन के पश्चात् मैं घर की ओर रवाना हुआ—यह सोचता हुआ कि साक्षात्कार के वे मधुर क्षण जीवन में कभी विस्मृत हो सकेंगे?

निस्सन्देह मधुकरजी महान त्यागी है, समाज के सजग प्रहरी और है सद्साहित्य के प्रणेता! ऐसे आधार स्तम्भ श्रमणरत्न पर जन-जन को गर्व है और आशायें !!!

●●

चीनी भाषा के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ ताओ-उपनिषद् में एक जगह कहा है—"हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नहीं होते, और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास लायक नहीं होते।"

हृदय की गहराई से जो वाणी निकलती है, उसमें स्वाभाविकता होती है, सहजता होती है। जैसे कुएं की गहराई से निकलनेवाले पानी में शीतलता भी सहज होती है, उष्मा भी सहज होती है और निर्मलता भी ! सहजता के साथ व्यक्त होने वाली वाणी ही सहज रूप में प्रभावशील होती है। जो उपदेश आत्मा से निकलता है, वह आत्मा को छूता है, जो सिर्फ जीभ से निकलता है, वह कानों तक पहुंचता है, और ज्यादा प्रभावशील हुआ तो लोगों की जीभ तक; पर जीभ से निकला वचन, हृदय तक नहीं पहुंच पाता, वह हृदय को छू नहीं सकता, वेध नहीं सकता, क्योंकि उसके पीछे चिन्तन, भावना और आचार का वल जो नहीं है।

वचन और प्रवचन

हम साधारण वाणी को वचन कहते हैं, और संतों की, विचारकों की वाणी को प्रवचन ! ऐसा क्यों ? यही तो कारण है कि उनकी वाणी में भावना, विचार, चिन्तन और जीवन का दर्शन होता है। वे जो वोलते हैं, वह निरर्थक वकवास नहीं होती, उसमें अर्थ होता है, तीर-सी वेधकता होती है।

प्रसिद्ध जैन आचार ग्रन्थ वृहत्कल्पभाष्य में कहा है—

गुणसुट्ठियस्स वयणं घय परिसित्तुव्व पावओ भवइ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहूणो जहपईवो।[1]

गुणवान व्यक्ति का वचन घृत-सिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी एवं पथदर्शक होता है जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित (तैल शून्य) दीपक की भांति निस्तेज और अन्धकार से परिपूर्ण !

प्रसिद्ध जैनसन्त श्री मधुकर मुनिजी की भाषणशैली, प्रवचनकला पर विचार करते हुए हम यह स्पष्ट देखते हैं कि उनके प्रवचनों में जीवन का गहरा चिन्तन है, मनन है, और अपने ही अनुभवों का, सदाचार का सुदृढ़ पृष्ठवल है। उनका नाम मधुकर है, मधुकर अर्थात्—भ्रमर ! भ्रमर की गुणरसिकता तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु उसके गुन्जन की मधुरध्वनि भी कम चित्तार्पक नहीं होती। इसीप्रकार श्री मधुकर मुनि के प्रवचनों में, गुणज्ञता, चिन्तनशीलता के साथ-साथ माधुर्य भी है। नदी की धारा की भांति उसमें गति है, और अग्नि की ज्वाला की भांति उसमें विचार-आचार का तेज व प्रकाश भी परिस्फुट होता है। उनके प्रवचन-साहित्य के अध्ययन के आधार पर मैं इन तथ्यों को सोदाहरण प्रस्तुत करती हूं।

श्री मधुकर मुनिजी का प्रवचन साहित्य अभी अधिक मात्रा में प्रकाशित नहीं हुआ है। ५-६ पुस्तकें उनके प्रवचनों की तथा कुल ६-७ पुस्तकें कथा-कहानियों की प्रकाशित हुई है। प्रवचन साहित्य में उनके चिन्तनशील मस्तिप्क का स्पप्ट प्रतिविम्व देखा जा सकता है।

मुनि श्रीजी के प्रवचन साहित्य के विपय में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध विचारक संत उपाध्याय श्री अमरमुनि जी लिखते हैं -

"मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' का 'साधना के सूत्र' के रूप में प्रवचन सूत्र मेरे समक्ष हैं। देखता हूं कितने सुन्दर भाववाही प्रवचन हैं, मन को सहसा छू लेते हैं, छू ही नहीं लेते, अन्तर में काफी गहरे उतर जाते हैं। मुनि श्री का अध्ययन विशाल है, चिन्तन गहरा है, दृष्टि उदार एवं व्यापक है, प्रवचन शैली सहज है, सुवोध है, मधुर भी है। काफी दूर तक श्रोता को साथ लिए चलते हैं और उसके अन्तर्मानस में एक ऐसी प्रेरणा छोड़ जाते हैं जो उसके जीवन में अनुगुंजित रहती है, समय के लम्बे प्रवाह तक।"[2]

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी की यह समीक्षा यथार्थ है।

अन्तर की ओर शीर्पक से उनके प्रवचनों के दो भाग मेरे समक्ष है। और **साधना के सूत्र** (प्रवचन) भी। इनके अध्ययन-अनुशीलनसे मुझे लगा—इस मधुर प्रवक्ता संत की वाणी में तेज और माधुर्य एक साथ छलक रहा है। भाषा में चुटीलापन भी है और विचार प्रवणता भी। उनके प्रवचनों के कुछ अंश देखिए—उन्हीं की भाषा में।

हृदय की पवित्रता

जव तक हृदय पवित्र नहीं होता, तव तक जीवन में पवित्रता कैसे आयेगी ? और जव तक जीवन में पवित्रता नहीं आई, तव तक धर्म का आचरण कैसा ? मलिन एवं अपवित्र हृदय से किये गये

---

१ वृहत्कल्प भाष्य २४५

२ साधना के सूत्र की भूमिका पृ० ६

हजारों क्रियाकाण्ड, लाखों सामायिक एवं प्रार्थनाएं जप-तप सभी बेकार हैं 'भस्मनिहुतं'—अर्थात् राख में घी डालने जैसा है। घर के एक कौने में यदि गन्दगी का ढेर पड़ा सड़ रहा है तो वहां चाहे जितनी अगरवत्तियां जला दें, सुगन्धी महक नहीं सकती, वदबू ढंक नहीं सकती। यही स्थिति जीवन की है। यदि मनमें, जीवन में मलिनता है, अशुद्धि एवं अपवित्रता है तो पहली बात तो धर्म उस जीवन को स्पर्श भी नहीं कर सकता। और यदि कोई धर्म का दिखावा भी करे तो धर्म का तेज उस जीवन में प्रकट नहीं हो सकता। मन की अपवित्रता धर्म की तेजस्विता को दवा देती है।"[१]

सरलता

हृदय की पवित्रता जब होगी तब जीवन में स्वयं ही सरलता की पावन धारा बहने लगेगी। सरलता पूर्वक क गई सभी धर्म क्रियाएं सफल होती है, इस विषय में वे कहते हैं—

—"शुभ क्रियाएं स्वर्ग के दरवाजे की अदृश्य चाबियाँ है। साधक अपनी साधना को सफल बनाने के लिए जो-जो क्रियाएं करता है, वे सम्यक् तभी कहलाती हैं जब उन्हें शुद्ध मन से और शुद्ध श्रद्धा के साथ किया जाय। साधना करते समय यदि मनोबल कमजोर होगया और मन की पवित्रता में कलुपता घुलगई तो साधना दिखावा ही रह गई, सारा गुड़-गोवर हो जाता है।"[२]

साहस व उत्तरदायित्व की मात्रा

साहस में ही श्री—एवं शक्ति का निवास है, इस तथ्य को उजागर करते हुए मुनि श्री कहते हैं—

"हिम्मत हार जाना असफलता की निशानी है, निराश तथा साहसहीन व्यक्ति न तो शरीर सम्बन्धी और न आत्मा सम्बन्धी किसी भी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता है।"[३]

साहस के साथ उत्तरदायित्व निभाने की बात भी आती है। सामाजिक व्यक्ति समाज से किनारा-कसी करे तो वह अपनी भी नाव डुवोता है और समाज की नाव को भी धक्का देता है। इस बात को मुनि श्री जी यों स्पष्ट करते हैं—

"सद्‌गृहस्थ का जीवन एक महावृक्ष की तरह माना गया है, जिसकी डालियों पर हजारों प्राणी अपना घोंसला बनाए जीवन गुजारते हैं, सैकड़ों हजारों प्राणियों का आधार होता है, और उसकी छाया में प्राणियों को जीवन मिलता है। वह वृक्ष यदि यह सोचे कि ये डालियां, शाखाएं, पत्तियां और फल-फूल निरे भार हैं इनसे मुझे क्या करना है, मैं तो अकेला नंगा खडा रहूंगा तब भी अपना जीवन गुजार लूंगा तो? इससे न उन प्राणियों को आश्रय मिलेगा और न वृक्ष की शोभा बढ़ेगी! वृक्ष का वृक्षत्व इसी में है कि वह अपने फल-फूल शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार करके हजारों जीवों को आश्रय देता रहे।"

इसी प्रकार हमारा जीवन है, जो स्वयं का विकास करता हुआ दूसरों के विकास में सहायक बने। निराश्रितों को आश्रय दे, शक्ति हीनों को शक्ति दे, और जिन्हें पोपण की आवश्यकता है, छाया की जरूरत है उन्हें संपोपण एवं शीतल छाया से रक्षित करें।"[४]

---

१. साधना के सू पृ० ३। २. अन्तर की ओर भा० १।पृ० ३। ३. अन्तर की ओर भाग १।पृ० १०७।
४. साधना के सूत्र पृ० ३३७

करे सेवा : पावे मेवा

सेवा मनुष्य जीवन का धर्म है। पर मनुष्य इसे भूलकर सेवा के क्षेत्र में भी सिर्फ बातें बनाने लग गया है। आज सेवा का उपदेश, प्रोपेगण्डा तो बहुत होता है, किन्तु वास्तविक सेवा बहुत कम हो पाती है। मुनि श्री कहते हैं—सेवा करो, सेवा का व्यर्थ उपदेश करना छोड़ दो। "प्रायः देखा जाता है कि किसी बीमार या पीड़ित व्यक्ति को देखकर लोग या तो उससे दूर भागते हैं, या फिर उसे उपदेश देते हैं—घबराओ मत ! यह तो कर्मों का भोग है, तुमने जो कर्म किए हैं, उन्हें भोगना ही पड़ेगा, धीरज रखो ! शुभ कर्म उदय में आयेंगे तो अपने-आप ठीक हो जाओगे !" आपका उपदेश तो ठीक है, पर सोचिए, यही उपदेश बीमारी के समय या संकट के समय कोई आपको दे तो ? आप क्या कहेंगे—उपदेश तो मैं भी जानता हूं पर मुझे तो इस समय उपदेश की नहीं, चिकित्सा, दवा और डाक्टर की जरूरत है। सेवा और सहयोग की जरूरत है। "जहां सेवा की जरूरत है वहां कोरे उपदेश से काम नहीं चल सकता।"[१] धर्म का प्रचार उपदेश से उतना नहीं होता, जितना सेवा से होता है। सेवा करनेवाला सब का प्रिय होता है।"[२]

मधुर वाणी

मुनि श्री जी स्वयं तो मिष्टभाषी हैं ही, किन्तु समाज को भी सदा मधुर-मिष्ट-शिष्ट बोलने की प्रेरणा देते हैं—

'वचन एक मूल्यवान रतन है, इसका प्रयोग बहुत ही विचारपूर्वक करना चाहिए। वचन ऐसा बोलना चाहिए जो मिष्ट हो, शिष्ट हो ! सुननेवाले का हृदय प्रफुल्लित हो उठे और वह आपकी बात से तुरन्त सहमत हो जाये।"

इसी प्रसंग पर मुनि श्री जी एक लोकउक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

बड़े वर ने कहा —कानी भाभी ! पानी पिला।

भाभी गुस्से में आकर बोली—काले कुत्ते को पिलादूंगी, पर तुझे नहीं पिलाऊंगी।

तभी छोटा देवर आया और बोला—रानी भाभी ! पानी पिलाओगी ?

भाभी हंसती हुई उठीं—मेरे देवर राजा ! पानी नहीं, तुझे बादाम का शर्बत पिलाऊंगी।

वाणी की सभ्यता और असभ्यता का यह परिणाम हमारे दैनिक जीवन में रोज अनुभव किया जाता है, असत्य वाणी से पद-पद पर अपमान मिलता है, द्वेष मिलता है, सभ्यवाणी से प्रेम और सन्मान।"

हां, सिर्फ मीठी बात के नाम पर मुंहरखी या चापलूसी नहीं होनी चाहिए। बात मीठी भी हो, सारपूर्ण भ।

जो बात कहो, साफ हो, सुथरी हो, भली हो।
कड़वी न हो, खट्टी न हो, मिसरी की डली हो।[3]

सदाचार और नैतिकबल

समाज में सदाचारी व्यक्ति आदर्श होते हैं, उनके द्वारा समाज का मार्गदर्शन भी होता है, और गौरव भी बढ़ता है। इस बात को, ईसामसीह की प्रसिद्ध उक्ति के सन्दर्भ में मुनि श्री जी यों व्यक्त करते हैं—

---

१. साधना के सूत्र पृ० ३६१-३६२। २. वहीं, पृ०-३६३। ३. साधना के सूत्र पृ० ७२।

'सदाचारी मनुष्य इस विशाल पृथ्वी पर भले ही थोड़े हों, किन्तु वे नमक की तरह समूची पृथ्वी का स्वाद वदल सकते हैं, समाज का वातावरण वदल सकते हैं।'[१]

सदाचारी व्यक्तियों द्वारा समाज का नैतिक वल प्रखर होता है। मुनिश्रीजी की भाषा में—

"जैसे दूध में मिस्री मिलाने से, खिचड़ी में घी मिलाने से, उसका स्वाद एवं गुण वढ़ जाता है, वैसे ही शिष्ट व्यक्ति समाज में रहते हैं तो समाज की ख्याति एवं गौरव ऊंचा उठता है। समाज का गौरव जव ऊंचा उठाता है तो धर्म की प्रभावना भी होती है, राष्ट्र का नैतिक वल एवं गौरव भी ऊंचा उठता है।"[२]

सदाचार की प्रतिष्ठा

आज व्यक्ति सदाचार को श्रेष्ठ तो मानता है, पर समस्या यह है कि उसके सामने सदाचार को नहीं, भ्रष्टाचार को प्रतिष्ठा मिल रही है। जय राम की बोली जा रही है, और पदासीन रावण को किया जा रहा है, इसीस्थिति ने समाज में सदाचार का मानदंड गिराया है, उसकी प्रतिष्ठा कम की है। इस स्थिति को वदले विना, देश और समाज की उन्नति संभव नहीं है। मुनिश्री जी कहते हैं—

"समाज का वहुसंख्यक वर्ग गतानुगतिक होता है, देखा-देखी करने वाला होता है। यदि पापी को, दुराचारी को, भ्रष्टाचारी को समाज के ऊंचे पद पर वैठा देखेंगे तो सहज ही लोगों के मन में यह धारणा वन जायेगी कि देखा, भ्रष्टाचार व पाप करने से ही प्रतिष्ठा मिलती है। और वे कहने लग जाते हैं—**'रोटी खाणी शक्कर से दुनिया ठगणी मक्कर से'** तो इस प्रकार के विचार, व्यवहार एवं धारणा से समाज में अन्याय की, भ्रष्टाचार की वृद्धि होती है, दुराचार को प्रोत्साहन मिलता है और समाज धीरे-धीरे रसातल में पहुंच जाता है।"[३]

अनीति का धन

मुनिश्री समाज में नीति और सदाचार की प्रतिष्ठा पर अधिक वल देते हैं। जैन गृहस्थ का आदर्श अकिंचनत्व या सर्वथा त्याग नहीं, किन्तु इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को सीमित करना तथा नीतिपूर्वक अर्थार्जन करना है। गृहस्थ को इसीलिए **'धम्माजीवी'** कहा है—अर्थात् वह धर्म (न्याय) पूर्वक अपनी जीवनचर्या करता है। इस जैन आदर्श को मुनि श्री की ही भाषा में पढ़िए—

"जैनधर्म यह नहीं कहता कि गृहस्थ को धन नहीं कमाना चाहिए, भिखारी और दरिद्र वने रहने की वात भी जैनधर्म नहीं सिखाता। वह कहता है, धन भले ही कमाओ! पर अन्याय से मत कमाओ! गृहस्थ जीवन के लिए अर्थ और काम आवश्यक है, पर, दोनों पर न्याय और नीति का, धर्म और अध्यात्म का नियंत्रण रहना चाहिए।"[४]

अनीति से कमाये हुए धन को असारता वताते हुए विचारक मुनिजी कहते हैं—

"अनीति से अर्जित धन अपने साथ अनेक विपत्तियां लाता है। वीमारी, संकट, कलह और वैमनस्य से जीवन को दुःखमय ही वनाता है। मैंने वहुत से व्यक्तियों को कहते सुना है—"महाराज! धन तो कमाया है, पर सुख नहीं मिला। साल में हजारों रुपये तो डाक्टर ले जाते है, हजारों ही वकील की जेव में चले जाते हैं। कभी कचहरी, कभी अस्पताल! वस, रात-दिन इन्हीं का चक्कर रहता है।"

---

१. वहीं, पृ० ५१। २. साधना के सूत्र पृ० ४९। ३. वहीं पृ० ५०। ४. साधना के सूत्र पृ० २३।

७

मैं पूछता हूं—जीवन में धन तो आया, पर इसके साथ सुख क्यों नहीं आया ? आपने कभी सोचा इस बात पर ? घर में बढ़िया डनलप का पलंग व गद्दा आ गया, पर आंखों की नींद कहां हराम हो गई ? घर मे बिस्कुट, दूध, फ्रूट, मक्खन आदि की भरमार है, पर स्वास्थ्य चौपट क्यों हो रहा है ? यहां आपके हृदय से आवाज उठेगी—नीति की कमाई नहीं है। पाप का पैसा है। बरकत नहीं करता।"[१]

कल का प्रश्न; आज सुलझाइए

हमारे भारत में अतीत को देखने की आदत है। लोग अपने पूर्वजों की बड़ाई तो करते हैं, अतीत की स्मृतियां ढोते हैं, किन्तु भविष्य को देखने—समझने का कष्ट कम करते हैं। मुनिश्री जी हमें भविष्य द्रष्टा बनने की सलाह देते हैं—"ज्योतिषी को लोग भविष्य द्रष्टा मानते हैं, पर सच्चा भविष्य द्रष्टा तो वह है, जो अपने जीवन, समाज एवं धर्म का भविष्य देखकर उसका विकास करता है, उसे ऐसे मार्ग पर ले जा सकता है, जहां कल आने वाली आपत्तियां, संकट और दुर्भाग्य उस पर आक्रमण नहीं कर सके। और वह भविष्य में पैदा होनेवाली नई-नई परिस्थितियों का ज्ञान के साथ मुकाबला कर सके।"[२]

इस प्रकार श्री मधुकर मुनिजी के विचारों में एक गहरी चिन्तनशीलता, विवेचन प्रवणता एवं धर्म तथा नीति की जीवंत प्रेरणा छिपी हुई है। उनके प्रवचनों में बासीपन नहीं है, न विचारों में, भावों में और न भाषा में।

मुनिश्री जीवन में व्यवहार को, धर्म के आचरण को मुख्यता देते हैं, न कि उपदेश को। आज हम लोगों की आदत है, बोलते हैं, पर करते नहीं, धर्म का उपदेश तो बहुत करते हैं, पर उसे जीवन व्यवहार में नहीं उतारते। लोगों की इस आदत पर एक गहरा व्यंग्य कसते हुए मुनि श्री कहते हैं—

"यदि क्रिया में विवेक न हो तो वह क्रिया विक्रिया हो जाती है, और यदि ज्ञान के साथ क्रिया न हो तो वह ज्ञान अज्ञान की श्रेणी में पहुंच जाता है। आज लोगों के पास ज्ञान तो है, पर क्रिया की कमी है। लोग चाहते हैं, सिर्फ बातों से ही काम चलता रहे। आज की पद्धति है—

हमें कहना आता है, करना नहीं आता,
हमें बोलना आता है चलना नहीं आता।
आचरण की एक पाई भी नहीं रोकड़ में,
मगर बातों के चैकों से चालू है खाता ॥[3]

श्री मधुकर मुनिजी के प्रवचन अभी मात्रा में कम प्रकाशित हुए है। संकलित—अप्रकाशित प्रवचन काफी विशाल परिमाण में है। उनका आधुनिक शैली से संपादन होकर प्रकाशन होना चाहिए। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा, विचारशीलता और दीर्घदृष्टि से समाज को बहुत लाभ होगा ऐसा मुझे विश्वास है। ●●

---

१. वहीं पृ० २४। २. वहीं पृ० ३४६। ३ एक अप्रकाशित प्रवचन—'आज का जीवन दर्शन' से।

मुनि श्री नेमिचन्द्र जी

प्राचीन कथा साहित्य को नया-
परिवेष देने का सबल संकल्प....

संसार में जितने भी धर्म-संस्थापक, धर्म-प्रवर्त्तक या धर्म प्रचारक हुए हैं, सभी ने अपने प्रचार का सरलतम माध्यम कथाओं को बनाया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि तत्त्वज्ञान, दर्शन या सिद्धान्त की आचरणीय बातें आम जनता के दिमागों में *कथा-कहानी के जरिये ही ठसाई जा* सकती हैं। अन्यथा, जनता शुष्क बातें सुनते-सुनते ग्रन्थों अथवा शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ते ऊब जाती है। उनका मन उन कठिन बातों को सुनने या पढ़ने से घबरा जाता है, जी उचटने लगता हैं, आँखों में नींद की झपकी आने लगती है। परन्तु कहानी अपनी कोमलकान्त पदावली से जनमन नयन को सहसा आकर्षित कर लेती है। बालक से लेकर बूढ़े तक, अपढ़ ग्रामीण से लेकर धुरन्धर विद्वान तक, गृहकार्यों में व्यस्त गृहिणी से लेकर राजनीति के दावपेंचों में उलझे रहनेवाले राजनेता तक को समानरूप से सलौनी, प्रिय, आकर्षक और सरलता से हृदयंगम हो जानेवाली तथा कभी नहीं ऊबाने वाली साहित्य की अगर कोई विधा है तो वह है—कहानी। यही कारण है कि मानव सभ्यता के अरुणोदय से लेकर मध्याह्नकाल तक कहानी जितनी लोकप्रिय और मधुर थी, आज भी वह उतनी ही लोकप्रिय है और मधुर भी। इसीलिए दर्शनकारों की अपेक्षा ईसप और विष्णुशर्मा आदि कहानी लेखक अधिक लोकप्रिय हुए हैं।

महानदी की तरह जैनकथा साहित्य

कथा-कहानी की दृष्टि से जैन साहित्य एक विराट महानदी रही है, जिसमें हजारों प्रकार की कहानियाँ विविध रस धाराओं के रूप में चलती-बहती रही हैं। किसी कहानी में वैराग्य की रसधारा

तो किसी में बालक्रीड़ा एवं मातृ-स्नेह की वात्सल्य रस धारा है तो किसी में चरित्र की उज्ज्वल और शुभ्र तरंगें हैं तो किसी कहानी में नीति कुशलता की उर्मियाँ प्रवाहित हो रही हैं। कहीं बुद्धि की कौतुक क्रीड़ाओं की लहरें अठखेलियाँ कर रही हैं तो कहीं दया, अहिंसा आदि सिद्धान्तों की करुण रस धाराओं के रूप में वह रही हैं। कहीं-कहीं पर वीररस की उछलती हुई कल्लोलें कल्लोल कर रही हैं।

परन्तु इतने विशाल जैनकथा साहित्य को यदि पुरानी क्लिष्ट और लंबे-लंबे समासवद्ध शब्दों से पाठक के मन को ऊबा देनेवाली भाषा और शैली में ही रखा जाए तो वह या तो सिर्फ पंडितजन-भोग्य रह जाता है या प्रकाशित होने पर ग्रन्थालय की अलमारियों की ही शोभा बढ़ाता है। वह लोक-भोग्य सर्व सुलभ और हृदयंगम नहीं हो पाता। ऐसे क्लिष्ट समासश्लिष्ट कथा-साहित्य से आम जनता कोई लाभ नहीं उठा पाती। उन क्लिष्ट तथा दुर्बोध कथाओं से धर्म प्रचारकों का कथा कहने का जो उद्देश्य है, वह सफल नहीं होता। ऐसा कथा-कथन केवल पांडित्य प्रदर्शन हो जाता है।

जैन आगमों, उनकी प्राचीन टीकाओं, भाष्यों, चूर्णियों एवं विविध ग्रंथों में अगणित कथाएँ भरी पड़ी है, लेकिन है, वे सब प्राकृत या संस्कृत जैसी दुर्बोध-भाषा में या समासवद्ध क्लिष्ट शैली में। आम जनता झटपट उन्हें समझ नहीं सकती।

अब तक के प्रयास

मध्यकाल में कुछ आचार्यों और साधुओं ने उन्हीं कथाओं के आधार पर लोकरंजन के साथ सरस शैली में उपदेश देने की दृष्टि से कुछ कथाएं पद्यवद्ध की हैं, विविध मधुर तर्जों में ढालें, चौपाइयाँ या गीतिकाएँ बनाई हैं। वह एक युग था, जब लोगों को वे पद्यवद्ध काव्यमय रचनाएँ अच्छी और रोचक लगती थीं। परन्तु वर्तमान युग में जनता गद्य शैली को ज्यादा पसन्द करती है और गद्य में भी सरल और सरस भाषा शैली को अपनाती है।

मैं समझता हूं जैनकथा साहित्य के महानद में से कई-सौ कथाएँ सर्वप्रथम उपदेशप्रासाद (भाषान्तर सहित) के रूप में सर्वप्रथम कई भागों में प्रकाशित हुई हैं। उसके बाद मैंने वा० मो० शाह के द्वारा आधुनिक शैली में लिखित जैन कथाएँ पढ़ीं। तत्पश्चात् पं० धीरजलाल टोकरशी शाह द्वारा गुजराती भाषा में नई सरल सरस शैली में लिखी जैनकथाएँ करीब १०० पुस्तिकाओं के रूप में देखीं। हिन्दी भाषा में जवाहर किरणावली में उदाहरण माला तीन भागों में तथा सत्य हरिश्चन्द्र, सती राजीमती महासती चंदनवाला, रुक्मिणी विवाह, पांडवचरित, रामवनगमन आदि पुस्तकें सुन्दर और रोचक शैली में प्रकाशित हुई, इसी प्रकार जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज, श्री चन्दनमुनिजी महाराज, राष्ट्र संत कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज की ओर से कथामालाएँ अत्यन्त रोचक और मधुर शैली में प्रकाशित हुई हैं। इधर में मुनि महेन्द्रकुमारजी (तेरापन्थी) ने भी जैन कहानियां २५ भागों में लिखी हैं। इन सब लेखकों की कलम से जैनकथा साहित्य ने एक नई करवट ली। अलंकार समास आदि आभूषणों और घेरेदार लंबे-लंबे घघरे पहनी हुई कथारानी का प्राचीन आभूषणों और समासों के लंबे घघरों को उतार कर नये सरस, सरल, रोचक और सादे-सीधे वेश-विन्यास और परिधान में सजाने का इन सब कथाकारों ने प्रयास किया है।

नया परिवेष देने का सबल संकल्प

इसी सिलसिले में श्रद्धेय मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, 'मधुकर' ने अपनी कुशल कथा-शिल्पिता का परिचय दिया है। उन्होंने प्राचीन जैनकथा साहित्य के जर्जर ढांचे में नये प्राण फूंकने का

काम किया है। श्रद्धेय मधुकर मुनिजी महाराज ने पुरानी कथाओं में मानो मिश्री-सी घोलकर उन्हें बहुत ही मधुर और लोकभोग्य बना दी हैं। जिन कथाओं में पुरानी क्लिष्ट कल्पनाओं से असंगति-सी जान पड़ती थी, उनमें नई स्फूर्तिदायक, युगसंगत या व्यवहारसंगत कल्पनाओं के दीपक संजोकर उन्हें सजीव बना दी हैं। कथाओं में यत्रतत्र वर्णित उपदेश भी इस सरसता से झंकृत हो उठा है। अब तक उनकी लेखनी से निबद्ध जैनकथामाला के ६ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। लगभग ४० भागों में जैनकथाओं को नया परिवेष देने का उनका शुभ संकल्प है। मुनि श्री मधुकरजी की लेखनी के जादूई स्पर्श से प्रत्येक कथा इतनी मुखर और मधुर हो उठती है कि पाठक इन्हें पढ़ते समय ऊबता नहीं। बालक, युवक और वृद्ध बालिकाएँ, युवतियाँ और वृद्धाएँ सभी इन कथाओं को पढ़ कर जीवन में सुन्दर प्रेरणा ले सकती हैं।

उदाहरण के तौर पर देखिए—जैन कथामाला प्रथमभाग में वैराग्यमूर्ति सुन्दरी का चरित्र-चित्रण कितना सुन्दर बन पड़ा है। '……सौन्दर्य सदा सुखदायी ही नहीं, दुःखदायी भी हो जाता है, यौवन मधुर ही नहीं, कटु भी हो जाता है। सुन्दरी को पहली बार यह अनुभव होने लगा। विचार ही विचार में करवटें बदलते-बदलते उसे नींद की झपकी लग गई और वह बिना कुछ खाये-पीये भूखी ही सो गई।'…… "सुन्दरी एक प्रकार से स्वतन्त्र थी। पर स्वतन्त्रता के साथ उसमें विवेक भी था। आजादी का उपयोग उसने भोग के लिए नहीं, किन्तु आत्मसाधना के लिए किया।" कितनी सुन्दर प्रेरणा है, इन पंक्तियों में। साथ ही आगे चलकर युग की प्रेरणा भी है—"सुन्दरी का सत्याग्रह सफल हुआ। उसकी आँखें अपूर्व उत्साह से चमक उठीं। ……'

इसी भाग में घोर दुःख के समय धैर्य की देवी दमयंती के साहस का कितने प्रेरक शब्दों में ग्रन्थित किया है—"………साहस को बटोरा—'भाग्य ने, पूर्व कर्मों ने, दुःख के दिन दिये हैं तो इन्हें रो-रो कर काटो, चाहे हंस-हंस कर, काटने तो होंगे ही। फिर रोने-धोने से दुःख घटता नहीं, बढ़ता ही है। मैं वीर-रमणी हूं, धर्म और तत्व को समझा है तो अब उसको जीवन में उतारना चाहिये। दुःख को हिम्मत से जीतना चाहिए।" इसी भाग में महामाता कौशल्या के प्रकरण में राजा दशरथ के मुँह से कितने सुन्दर उद्‌गार निकलते हैं—'अगर इस संसार में स्वार्थ और ईर्ष्या के दो दोष नहीं होते तो संसार के इन स्वर्गीय सुखों को देवता भी नष्ट नहीं कर सकते। इन्हीं दोषों के कारण संसार के सुख नष्ट हो गए। शान्ति की लता छिन्न-भिन्न हो गई, प्रेम और स्नेह की सरिताएँ सूख गईं। काश ! मेरा परिवार इन दोषों से बच कर अपने कुलधर्म का पालन कर पाता। ……'

"माताजी ! राम जितना सुकुमार है, उतना ही कठोर भी है। वह आपका पुत्र है। आपके संस्कार ही उसके जीवन की नींव हैं। उसके लिए वन, उपवन और राजभवन समान हैं। आप कुछ भी चिन्ता न करिये। बस, एक आशीर्वाद का हाथ मेरे सिर पर रख दीजिए।"—राम की मातृभक्ति का कितना अनूठा परिचय दिया गया है, इन पंक्तियों में।

जैनकथामाला भाग दो में कुन्ती के मातृत्व में सुखों के प्रति अनासक्ति का कितना सुन्दर चित्रण है—"अब तक के इतिहास में यह बड़ी अद्‌भुत बात थी कि एक राजमाता अपने पुत्रों के लिए इतना भयंकर कष्ट उठाकर बारह वर्ष तक उनके साथ वन-वन में घूमती रहे। पुत्र स्नेह के साथ ही कुन्ती के मन में एक दूसरा विचार भी था जिसके कारण उसने वन-वन में घूमने का निर्णय किया। उसके मन में सुखों के प्रति आसक्ति न थी। वह सुख को बंधन मानती थीं। प्रभु स्मरण और आत्मसाधना के

मार्ग में बढ़नेवाले को सुख छोड़कर दुःख का कठोर मार्ग स्वीकार करना होता है। दुःख में ही सच्ची प्रभुभक्ति होती है, यह कुन्ती का विश्वास था।"

तीसरे भाग में महासती सुभद्रा के कथाकथन में बड़े अनूठे उपदेशात्मक वाक्य हैं—"अपना मतलब साधने के लिए मनुष्य धर्म और भगवान् को भी धोखा दे सकता है।" सुभद्रा का मनोविश्लेषण देखिये–'बुद्धदास असहिष्णु तो इतना था कि किसी को अपनी धर्माराधना करते फूटी आँखों से भी नहीं देख सकता। जिसे सोना समझा, वह मिट्टी निकला। जब पति की यह स्थिति तो ननद और सास की तो बात ही क्या? स्त्री जितनी धर्मपरायणा होती है, उतनी ही परधर्म-असहिष्णु भी।"······ "सुभद्रा ने भी दृढ़ निश्चय कर लिया था, चाहे जो हो जाये, वह धर्म को नहीं छोड़ेगी। मनुष्य को सबसे प्यारी अपनी जान होती है, किन्तु जान से भी प्यारा ईमान (धर्म) होता है।"·······विपत्ति और संकटों से मुकाबला करने की हिम्मत उसने अपने धर्म-गुरुओं से पाई थीं। चौथे भाग में भ० ऋषभदेव के मुख से अपने पुत्रों को उपदेश देने के प्रसंग में तो कमाल का चित्रण है—"पुत्रों! जब पेट में दाह लगी हो; गला सूख रहा हो; उस समय स्वप्न में पानी पीने से क्या किसी की प्यास बुझती है? और जो प्यास सरोवरों और सागरों से भी तृप्त नहीं हुई, क्या वह गीले घास को निचोड़ कर उसकी दो-चार बूंद पी लेने से भी तृप्त हो सकती है? ·· इसी प्रकार संसार में तृष्णा की यह विडम्बना है!"

इसी कथामाला के पांचवें भाग में भगवान् वासुपूज्य के द्वारा परम्परा के हूबहू पालन का कितना मधुर विरोध है?—"पिताजी, क्या यह आवश्यक है कि पूर्वजों ने जैसा किया, वैसा ही करना। उससे भिन्न, नवीन कुछ भी नहीं करना? बुद्धिमान पुरुष लकीर के फकीर नहीं होते·······"

भाग ६ में भगवान् महावीर के नयसार के भव के प्रसंग चित्रण को एक नया मोड़ दिया है—"भाई! भोजन करने से पहले मैं अतिथि को कुछ खिलाया करता हूं। अतिथि देवता होता है। अतः उसको खिलाकर खाना ही मेरा धर्म है!" मुनियों पर नयसार की भावभक्ति का असर और उनके हृदय के आशीर्वचन कथाकार के शब्दों में देखिये—"यह गाँव का भावुक भक्त बड़ा ही प्रसन्न है। उसकी आँखों में कितनी सरलता और कितनी विनम्रता है? कितना महान है इसका सेवाभाव? ऐसे हृदय में तो धर्म सहज रूप में रहता ही है। मानसभूमि तो पवित्र है, सिर्फ ज्ञान—बोध का बीज अपेक्षित है।"

ये और इस प्रकार के सरस, सुन्दर, सरल और अनुपम शब्दों का चयन करके कथालेखक श्री मधुकर मुनिजी ने अद्‌भुत कलम कौशल का परिचय दिया है। वास्तव में इन सब कथाओं को नया रूप, नये वेश देने में मधुकरजी म० ने कलम तोड़ दी है। कथाओं की भाषा मुहावरेदार और प्रसंगवश कहावतों से परिपूर्ण है। मुनिश्री कथाओं पर कलम की पैनी नोक से कांट-छांट करने में तथा प्रसंगवश नई कलम लगाने में काफी सफल हुए हैं।

वास्तव में मुनिश्री मधुकरजी संस्कृत-प्राकृत भाषा के तथा आगमों के गंभीर विद्वान् है; विचारक हैं। जैन कहानी-साहित्य के वे पुराने अध्येता एवं उपदेशक रहे हैं, इसलिए कथामर्मज्ञता उनके अन्तस्तल में उतर गई है। यद्यपि सभी कहानियाँ बहुत पुरानी और जैनजगत् में काफी प्रसिद्ध भी हैं, फिर भी उन सबको मौलिकता के साथ नवीन भाषा शैली में आधुनिक मुहावरेदार हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न जो किया है, इसके लिए मुनिश्रीजी म० बधाई के पात्र हैं। आशा है, अपनी कलमकला-कौशल से वे भविष्य में भी इसी तरह प्राचीन कथा साहित्य को नई पोशाक सजा कर जैन समाज के सामने प्रस्तुत करते रहेंगे; मधुकर की तरह श्री मधुकर मुनिजी शब्द पुष्पों का चयन करने में तो सिद्धहस्त है ही।
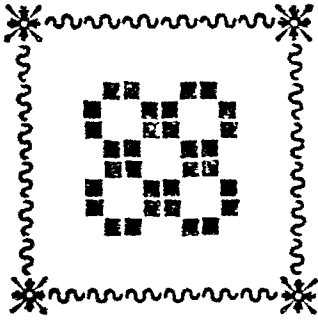
जैन कथा साहित्य को श्री मधुकर मुनिजी का योगदान

—डा० बशिष्टनारायण सिन्हा, एम. ए. पी-एच. डी.
दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ

कथा हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इससे आनन्द प्राप्त होता है। पर कहा जा सकता है कि सभी कथाएँ सुखान्त ही तो नहीं होतीं। कथाएँ दुःखान्त भी होती हैं। हाँ! ऐसा कहना भी कुछ गलत नहीं है। कथा से सुख प्राप्त होता है अथवा दुःख यह तो एक पक्ष है। इसका जो अन्य पक्ष है, वह है किसी विषय को हमारी समझ के अनुकूल बनाना। पठन-पाठन अथवा लेखन के क्षेत्र में दो चीजें प्रधान हैं—विषय और विषय का प्रस्तुतीकरण। विषय कितना भी कठिन क्यों न हो, यदि उसके प्रस्तुत करने का ढंग मनोरंजक है तो वह सहल हो जाता है, पाठक अथवा श्रोता उसे आसानी से समझ लेता है। कथा वही सहल मार्ग है जिसके द्वारा कठिन से कठिन विषय भी रुचिकर बन जाता है। इसी वजह से कथा ने सभी संस्कृतियों से सभी साहित्यों में अपना विशेषस्थान बना लिया है। साहित्य प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, उसमें कथा-साहित्य तो होता ही और यदि ऐसा नहीं है तो निश्चित ही वह साहित्य अधूरा है। वैदिक साहित्य के वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि में अनेक कथाएँ मिलती हैं। बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं का तो कहना ही क्या। ऐसे ही जैन ग्रन्थों में भी कथाओं का एक अनुपम भंडार दिखाई पड़ता है। ज्ञाता धर्मकथा, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन-सूत्र, विपाकश्रुत आदि में नाना प्रकार की कथाएँ पाई जाती हैं।

जैनकथा साहित्य को भाषा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्राकृत-कथा-साहित्य तथा संस्कृत-कथा-साहित्य। ऐसे समराइच्चकहा में हरिभद्रसूरि ने कथा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए उसे चार भागों में विभाजित किया है—अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और संकीर्णकथा। वे कथाएँ जो अर्थोपार्जन के लिए प्रेरित करती हैं उन्हें अर्थकथा की कोटि में रखते हैं। जिन कथाओं के सुनने अथवा पढ़ने से वासना जागृत होती हैं, उन्हें कामकथा की संज्ञा दी जाती हैं, जिन कथाओं से व्यक्ति का धार्मिक संस्कार जाग उठता है, उन्हें धर्मकथा के नाम से संबोधित करते हैं। जिन कथाओं में अर्थ, काम, धर्म का प्रतिपादन हो, जिन्हें लौकिक प्रसिद्धि प्राप्त हो वे संकीर्ण कथा की कोटि में रखी जाती हैं। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में प्रधान तौरसे कथा के तीन ही प्रकार बताए हैं–अर्थकथा, कामकथा और धर्मकथा। लेकिन, आगे चलकर धर्मकथा को उन्होंने चार भागों में विभाजित किया है—आक्षेपिणी, विक्षेपिणी. संवेदनी तथा निर्वेदनी। इस प्रकार कथाओं का यह विभाजन उनके प्रधान लक्षण को देखते

हुए किया गया है। किन्तु हरिभद्रसूरि ने अपने विभाजन में चौथे प्रकार की संज्ञा 'संकीर्ण कथा' दी है जबकि संकीर्ण कथा में उन्होंने अर्थ, काम और धर्म तीनों ही लक्षणों अथवा उद्देश्यों का समावेश दिखाया है, यह वात समझ में नहीं आती। यदि चौथे विभाग का नाम 'संकीर्ण कथा' न देकर वे 'विस्तृत कथा' देते तो ज्यादा अच्छा होता। आचार्यप्रवर ने कथाओं पर विचार करते हुए श्रोताओं के भी तीन वर्ग वनाए हैं—अधम, मध्यम और उत्तम।

काल के दृष्टिकोण से प्राकृत कथासाहित्य का समय करीव-करीव ईसा की चौथी शताव्दी से सोहलवीं-सत्रहवीं शताव्दी तक माना जाता है जिनमें कथाओं के वहुविध रूप सामने आते हैं। अभी जिन रूप अथवा विभागों की चर्चा हुई है वे तो मात्र कुछेक आचार्य के अनुसार हैं। वास्तव में देखा जाए तो कथाओं के अन्य भी विभिन्न रूप मिलते हैं, जैसे कथा, अन्तर्कथा, आख्यान, आख्यानिका, उदाहरण, चरित आदि। जैनकथाओं में प्रेमाख्यानों को भी स्थान मिला है, जिससे उनकी लोकप्रियता काफी वढ़ गई है। जैनविद्वानों का मत है कि जव ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों से प्राप्त कथाओं से समाज का मन भरगया और लोग उनमें अरुचि दिखलाने लगे तव जैनाचार्यों ने वैसी कथाओं का सृजन किया जो लोगों को अपनी तरफ आकर्पित करने में सवल एवं सफल सिद्ध हुईं। उन कथाओं में ऋतु, प्राकृतिक छटाएं, जलक्रीड़ा, सामाजिक आचार-व्यवहार, जैसे जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, यहाँ तक कि स्त्रीहरण, साथ ही धार्मिक गतिविधियों, जैसे मुनियों का नगर में पधारना, सामान्यजन का दीक्षा लेना आदि के मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किए जाने लगे। इतना ही नहीं वल्कि चरित्र-चित्रण के रूप में राजा, मंत्री, सेनापति सारथी आदि के भी वर्णन कथाओं में समावेशित हुए। इन कारणों से जैन कथा साहित्य का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ जिसके प्रमुख स्तम्भों में भद्रवाहु, जिनदासगणि, अभयदेव, शीलांक, भावविजय, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों के नाम आते हैं।

किन्तु आज जैन कथा साहित्य का यह भव्य प्रासाद ध्वस्त प्रायः है ऐसा कहा जाए तो कोई अनुचित न होगा। क्योंकि समय के प्रवाह में वहुत सी कथाएं एवं कथासंग्रह लुप्त हो गए। जो अभी प्राप्त हैं वे भी जन जीवन से दूर है। क्योंकि वे प्राकृत अथवा संस्कृत में हैं, जिन्हें पढ़कर आनन्द लेना अथवा किसी प्रकार का ज्ञान अर्जित करना सामान्यजन के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः समय की मांग है कि उन कथाओं को जो ज्ञान के गम्भीर सागर और आनन्द के निश्छल निर्झर की तरह हैं, हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगु आदि जनभापाओं में प्रस्तुत किया जाए। इस कार्य में आज के कतिपय जैन विद्वान तन-मन-धन से रत हैं। उदाहरण स्वरूप मुनि महेन्द्रकुमारजी ने जैन कहानियों के रूप में पच्चीस भाग प्रकाशित किए हैं; उपाध्याय अमरमुनिजी ने जैन कथाओं के पाँच भाग प्रस्तुत किए हैं। यह कार्य निश्चित ही वड़े महत्व का है। इससे जैन कथासाहित्य का अस्तित्व कायम रह पाएगा, उसकी जड़ दृढ़ होगी। इससे जैन साहित्य का उद्धार तो होगा ही, सामान्य जन को भी आनन्द का एक अच्छा साधन उपलव्ध हो सकेगा। इस तरह जैन कथा साहित्य का पुनरुद्धार करने वालों में श्रीमधुकरमुनिजी मूर्धन्य हैं। इन्होंने सम्पूर्ण जैन कथा साहित्य को हिन्दी में प्रकाशित करने की योजना वनाई है, जो अनुमानतः पच्चीस से चालीस भागों में सम्पन्न होगी। अव तक इस योजना के अन्तर्गत छः भाग प्रकाशित हो चुके है, जिनमें महासतियों तथा तीर्थङ्करों के चरित्र प्रस्तुत किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्रथम भाग :

१. भगवती ब्राह्मी
२. वैराग्यमूर्ति सुन्दरी
३. धैर्य की देवी दमयन्ती
४. महामाता कौशल्या
५. महासती सीता
६. महासती राजीमती

द्वितीय भाग :

१. महासती कुन्ती
२. महासती द्रौपदी
३. महासती पुष्पचूला
४. महासती प्रभावती
५. महाती पद्मावती
६. महासती मृगावती
७. महासती चन्दनवाला

तृतीय भाग :

१. महासती शिवा
२. महासती सुलसा
३. महासती सुभद्रा
४. महासती अंजना
५. महासती मदनरेखा
६. महासती चेलना
७. महासती शीलवती

चतुर्थ भाग :

१. भगवान ऋषभदेव
२. भगवान अजितनाथ
३. भगवान संभवनाथ
४. भगवान अभिनन्दन
५. भगवान सुमतिनाथ
६. भगवान पद्मप्रभ
७. भगवान सुपार्श्वनाथ
८. भगवान चन्द्रप्रभ
९. भगवान सुविधिनाथ
१०. भगवान शीतलनाथ

पंचम भाग :

११. भगवान श्रेयांसनाथ
१२. भगवान वासुपूज्य
१३. भगवान विमलनाथ
१४. भगवान अनन्तनाथ
१५. भगवान धर्मनाथ
१६. भगवान शान्तिनाथ
१७. भगवान कुंथुनाथ
१८. भगवान अरनाथ
१९. भगवान मल्लिनाथ
२०. भगवान मुनिसुव्रत
२१. भगवान नमिनाथ
२२. भगवान नेमिनाथ

षष्ठ भाग :

२३. भगवान पार्श्वनाथ
२४. भगवान महावीर

प्रस्तुत कथाओं के माध्यम से मात्र महासतियों तथा तीर्थङ्करों के जीवन के विषय में ही जानकारी प्राप्त नहीं होती है, वल्कि इनसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि विभिन्न नैतिक एवं धार्मिक विधाओं पर प्रकाश पड़ता है और इन चरित्रों को पढकर पाठक तप, त्याग आदि के साधना-पथ पर चलने को प्रेरित होता है। इन कथाओं को इनके विषय के अनुसार 'धर्म कथा' की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनकी भाषा इतनी सरल और सरस है कि इन्हें पढ़ते समय पाठक स्वभावतः आगे बढ़ता जाता है। जिस प्रकार तैलयुक्त धुरी से लगा हुआ चक्र विना किसी रुकावट के नाचता जाता है अथवा जिस प्रकार सुरम्य छटाओं के बीच से गुजरनेवाले पथिक का मार्ग सुगम हो जाता है वैसी ही वात इन कहानियों तथा इनके पाठकों के साथ है। पाठक चाहे बहुत बड़ा विद्वान हो अथवा सामान्य प्रचलित शब्दों तथा वाक्यों को समझकर अपना काम चलानेवाला व्यक्ति, सबका मन इन कथाओं को पढ़ने के समय समान ढंग से आगे फिसलता जाता है। जैन कहानियां भी मैंने पढ़ी है, किन्तु भाषा, शैली की रम्यता, प्रवाहपूर्णता और कथातत्त्व का जीवनस्पर्शीरूप जो मुनिश्री मधुकरजी की जैन-कथामाला में निखरा है, वह अभी तक किसी अन्य जैन मुनि की कहानियों में देखने को नहीं मिला। और भला ऐसा हो भी क्यों नहीं, जबकि इन कहानियों को मुनि मधुकरजी का माधुर्य और श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' की सरसता प्राप्त है। मधु तो सहज ही सरस होता है और उसमें अलग से एक अनोखी सरसता उड़ेल दी जाए तब तो कहना ही क्या। इन कथाओं का रसास्वादन जब पाठक करना प्रारम्भ कर देता है तो वह पढ़ता जाता है, पढ़ता जाता है पर उसका मन नहीं अघाता। सच कहा जाए तो यही किसी कहानी अथवा कहानीकार की उत्कृष्ट भाषा एवं शैली है, भले ही कोई साहित्यिक मापक उसे अपनी माप के अनुसार कुछ और संज्ञा दे। मुनिमधुकरजी जैन वाङ्मय के मर्मज्ञ तथा जैन संत समाज के निष्ठावान साधक और प्रभावशाली धर्म प्रसारक है, किन्तु इन कहानियों में इन्होंने निश्चित ही अपने को एक सफल एवं सिद्ध-हस्त कहानीकार सावित किया है। इतना ही नहीं, वल्कि मुनिजी ने इस कार्य से अपने नाम को भी सार्थक किया है। जिस प्रकार मधुकर कठिन डालियों पर लगे हुए विभिन्न पुष्पों से पराग एकत्रित करके मानव समाज को एक अद्भुत सुखकारी वस्तु मधु प्रदान करता है वैसे ही मुनिजी ने विभिन्न कठिन शास्त्रों से कहानियों का संग्रह करके समाज का बहुत बड़ा उपकार किया हैं। मुनिश्री के कथासाहित्य की एक विशेषता यह भी है कि अब तक जिन कथाओं को अन्य लेखकों ने भाषा का नवस्पर्श नहीं दिया था, मुनिजी ने उन्हीं कहानियों को प्राणवती भाषा में नवजीवन दिया है। लगता है वे पिष्टपेषण नहीं करते किन्तु कथा-कहानियों के माध्यम से समाज व साहित्य को कुछ नया, कुछ मौलिक विचार-चिन्तन देना चाहते हैं। भविष्य में कथा साहित्य में उनके द्वारा अब तक अछूती अप्रकाशित कहानियों का पुनरुद्धार होगा और—आशा है इनका योगदान अपने सफल समापन के बाद जैन कथासाहित्य के लिए एक अनुपम देना होगा।

'अप्पा अप्पम्मि रओ' के मूर्त्तिमान् आदर्श

—पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

चार दशक बीत गए। शनैः शनैः किन्तु अजस्रगति से काल चला जा रहा है, भविष्यत् वर्तमान और वर्तमान भूत बनता जा रहा है और दुनिया को जैसे खबर ही नहीं! इस बीच कितनी छोटी-मोटी घटनाएं घटित हुईं। कैसे-कैसे प्रसंगों ने जीवन को भिन्न-भिन्न रंगों से रंग दिया! मगर वह घटना मानो आज भी ताजा है।

ई० सन् १६३२ की बात है। मैं ब्यावर जैन गुरुकुल में धर्माध्यापक के पद पर नियुक्त होकर वहां पहुंचा था। एक सप्ताह भी न बीता था। ब्यावर के एक वयोवृद्ध, जीवदया के अनन्य अनुरागी, सेवाव्रती और संघ तथा संतों के परमोपासक सेठ मूलचंदजी मोदी गुरुकुल में आये और मुझसे मिले। यों तो ब्यावर के कितने ही भाई गुरुकुल के प्रति गहरी प्रीति रखते थे और मोदीजी उन्हीं में से एक थे और अकसर गुरुकुल की सार-संभाल करने आते-जाते हो रहते थे, किन्तु उस दिन वे विशिष्ट उद्देश्य से ही मिलने आए थे।

मुनिश्री हजारीमलजी महाराज, श्री ब्रजलालजी महाराज और श्री मिश्रीमलजी महाराज (उस समय आपका 'मधुकर मुनि' उपनाम प्रसिद्धि में नहीं आया था) के साथ ब्यावर में ही विराजमान थे और बालियाजी के बंगले में ठहरे थे। मधुकर मुनिजी का अध्ययन उन दिनों चालू था। मोदीजी ने मुनिश्री का परिचय दिया और मिलने की प्रेरणा दी। मैं बालियाजी का बंगला जानता नहीं था। उन्होंने दिशानिर्देश करते हुए बतलाया कि पांच मिनिट का रास्ता है!

मुनिश्री की सेवा में गया तो चलते-चलते दस मिनिट हो गए, फिर पन्द्रह मिनिट हो गए, तब कहीं वह बंगला मिला। बाद में पता चला कि पांच मिनिट से मोदीजी का अभिप्राय था—थोड़ा—समय! प्रथमबार उसीसमय उक्त 'त्रिमूर्ति मुनित्व' के दर्शन हुए। उक्त तीनों मुनियों के पारस्परिक सम्बन्ध जितने सात्विक, मधुर और प्रशस्तवात्सल्य से परिपूर्ण रहे है, उसे देखते हुए उन्हें त्रिमूर्ति मुनित्व की संज्ञा से ही अभिहित किया जा सकता है। मुनित्व इसलिए कि साधुता उनमें साकार दृष्टिगोचर होती थी और त्रिमूर्त्ति इस कारण कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध आत्मीयता से परिपूर्ण थे। खेद है कि आज वह त्रिमूर्त्ति खण्डित है और उपप्रवर्त्तक श्री ब्रजलालजी महाराज तथा पं० प्रवर श्री मधुकरजी महाराज ही हमारे मध्य में हैं। उन्हें उपर्युक्त अभिप्राय से 'द्विमूर्त्ति' कहा जा सकता है। विगत चालीस वर्षों का निकट और गाढ़ सम्पर्क मेरी इस धारणा को ही परिपुष्ट करता है। वास्तव में दोनों मुनियों में जो सौमनस्य दिखाई देता है वह अन्यत्र विरल-अतिविरल है और उनकी उदारता भद्रता एवं सहज आचार का परिचायक है!

अनेकोंवार सुनना पड़ता है कि अमुक साधु का अमुक साधु के साथ मेल नहीं बैठता—प्रकृति नही मिलती। तभी हृदय कह उठता है—यह भी कोई साधुता है !

मुनिश्री व्रजलालजी महाराज को श्रमणसंघ ने उपप्रवर्त्तक पद से विभूषित किया, यह उनकी आचारनिष्ठा का द्योतक है। वे जैनतत्वज्ञान के साथ ज्योतिप विपय के विशेपज्ञ हैं। अपने आपमें मग्न रहनेवाले, अल्पभाषी और कोमल तथा सरल हृदय के धनी हैं। मुनियों के लिए आगम में आनेवाला **'अल्लीणे गुत्ते'** विशेपण उनके लिए सर्वथा उपयुक्त है। इधर-उधर के प्रपंचों से विलग रहना उनकी प्रकृति का अग है। अनेकों वार के अनुभव ने वतलाया है कि मधुकर मुनिजी के प्रति उनका अनन्य धर्मानुराग है।

श्री मधुकर मुनि व्याकरण, साहित्य, दर्शन, आगम आदि विपयों के विशिष्ट विद्वान् सन्त हैं। लेखक भी है, विद्वान् भी हैं। उनके हृदय और मन में किसी प्रकार की दुविधा नही। जैसे हृदय नवनीत-सा कोमल उसी प्रकार मन भी पवित्र विचारों के सौरभ से सरावोर !

प्रचुर परिचय के आधार पर निस्संकोच कहा जा सकता है कि समग्र स्थानकवासी समाज में मधुकर मुनि जैसे विद्वान् अंगुलियों पर गिनने योग्य भी नहीं हैं। फिर भी उनकी विश्रुति-ख्याति जितनी व्यापक होनी चाहिए उतनी नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि उनका विहारक्षेत्र वहुत सीमित रहा है। द्वितीय और प्रधान कारण है कीर्त्ति के प्रति उनका घोर उपेक्षाभाव। वे अल्पसन्तोपी है, महत्वाकांक्षी नहीं। ख्याति और कीर्त्ति मानो उनके लिए आधि और व्याधि है !

एक घटना मेरी स्मृति में अव भी ताजा है। मधुकर मुनिजी श्री जयमलगच्छ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किये गए थे। यह चुनाव, जहां तक मेरी जानकारी है, सर्वसम्मत था। किन्तु अपने पूर्वोक्त निस्पृहभाव के कारण वे उस पद पर अधिक समय तक नहीं रहे। पदवी को व्याधि समझकर उन्होंने वड़ी नम्रता और सहजवृत्ति के साथ श्री संघ को अर्पित कर दिया—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते।' भगवन् ! अपनी वस्तु आप ही संभालो।

व्यावर से कुछ भाई आचार्यपद न त्यागने का अनुरोध करने के लिए आपकी सेवा में तिंवरी ग्राम गए। मैं उनका कुछ काल तक अध्यापक रहा हूं अतः मेरे होने से उनका अनुरोध प्रवल होगा, इस विचार से वे मुझे भी साथ ले गए। सच यह कि मैं स्वयं भी यही चाहता था कि वे इस सम्मान्य पद पर प्रतिष्ठित रहें। वहुत कुछ कहा गया, दवाव डाला गया पर मधुकरजी महाराज टस-से-मस न हुए। **'लहुभूयविहारिणो'** (हल्का होकर रहना) यह भावना उनकी रग-रग मे गहराई के साथ व्याप्त हो चुकी है। यही कारण है कि वे जिन-शासन की प्रभावना भले करते हों, पर अपने व्यक्तित्व की प्रभावना नहीं कर सके।

कभी-कभी गुण और दोप में भेद करना वड़ा ही कठिन हो जाता है। कोई गुण जव तक अपनी परिधि में रहता है, गुण कहा जाता है और परिधि से वाहर चला जाते ही दोप वन जाता है। उदारता की अति, उड़ाऊपन और मितव्ययिता की अति, कृपणता कहलाती है। मधुकरजी के निस्पृहाभाव को, कीर्ति के प्रति अकामभाव को और लोकैपणा के प्रति विरक्तिभाव को साधुता की दृष्टि से वड़ा से वड़ा गुण कहा जा सकता है पर लौकिक दृष्टि से क्या कहा जाय ! (शेष पेज ५७ पर)

लोकोत्तर पथ-प्रदर्शक

● **वैद्य रघुवीरसहाय शर्मा** (श्री जिनेश्वर औषधालय, कुचेरा)

इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत की संस्कृति ने आध्यात्मिक महान पुरुषों को सर्वदा पूज्य माना है। सम्राटों के राजमुकुटों व बड़े-बड़े धनपतियों से लेकर साधारण गृहस्थों तक ने सन्तों की चरण धूलि से अपने को पवित्र व सौभाग्यशाली समझा है।

सन्तों का जीवन आदर्श और पवित्र होता है। वह संसार के सभी प्रलोभनों तथा सांसारिक सुखों को तृणवत् त्यागकर अपने जीवन को तपस्या, सद् उपदेश, आत्मसाधना, व जन कल्याण के लिए अर्पित कर देते हैं। आत्मा की चरम उन्नति—काम, क्रोध, लोभ इत्यादि शत्रुओं को पराजित कर जीवन को तपस्या से पवित्र बनाना सन्तों के जीवन का प्रधान लक्ष्य होता है। समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझने का उच्चतम भाव सन्त हृदय में ही होता है। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर सन्त-जन प्राणी मात्र के कल्याण कार्य में जुटे रहते हैं।

सन्त, लोकोत्तर पथ-प्रदर्शक ही नहीं, प्रत्युत्त सांसारिक—काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि बुरी भावनाओं को अपने सदुपदेशों से मोड़ देकर सुमार्ग पर लाने का कार्य भी करते हैं।

आजकल की भौतिक उन्नति तथा आर्थिक होड़ की चकाचौंध को युग में विलुप्त होती हुई जो भी मानवता यत्र-तत्र-दृष्टि गोचर होती है उसका श्रेय भी सच्चे साधुओं को ही है।

सन्तों की आराधना, उपासना तथा उनका गुणगान करने से जीवन पवित्र होता है। तथा राजस् तामस् भाव दूर होकर चित्त में सात्विक उदात्त और आध्यात्मिक दिव्य भावनाओं का आविर्भाव होता है। मुनिद्वय की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती का आयोजन भी इसी भावना का प्रतीक है।

पृष्ठ ५६ का शेष :—

क्या विश्रुत व्यक्तित्व किसी भी 'मिशन' को अग्रसर करने में सहायक नहीं होता?

जो कुछ हो, मधुकर मुनिजी एक सच्चे सन्त की तरह कीर्त्तिकामना से सर्वथा मुक्त हैं, लोकैषणा उनसे दूर रहती है और वे **'अप्पा अप्पम्मि रओ'**—अपने आपमें लीन रहनेवाले हैं। साधुवाद है ब्यावर-संघ को, जिसने उन्हें अभिनन्द स्वीकार करने को मना लिया।

हार्दिक कामना है—मुनियुगल चिरकाल तक साधुता की निर्मल ध्वजा को ऊंची रक्खें और संघ तथा शासन के गौरव की वृद्धि करते रहें।

श्वेताम्बर स्थानकवासी सन्तों के आचार्य श्री जयमलजी महाराज के सम्प्रदाय के समुज्ज्वल रत्न मुनिद्वय उच्चकोटि के शान्त, दान्त तपोधन अध्यात्मनिष्ठ, सरल एवम् त्यागी महात्मा हैं। संसार से पद्मपत्रवत् पूर्ण निर्लिप्त तथा विरक्त रहते हुए सम्पर्क में आनेवाले विशेष तथा साधारण सभी व्यक्तियों से उनकी सुख-सुविधा के विषय में साधारण संतोषजनक वार्तालाप कर सबको शान्ति का उपदेश देना मुनिद्वय की विशेषता है।

पूज्य स्वामी श्री वृजलालजी महाराज साहब तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध महात्मा है। आपने अल्प वयस् में ही बाल ब्रह्मचारी के रूप में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षोपरान्त जैनशास्त्र, तथा अन्य शास्त्रों का सांगोपाङ्ग अध्ययन किया और शास्त्रों की शिक्षा को जीवनचर्या में परिणत किया।

मोती जैसे सुन्दर सुलेख के लिए साधु समाज में आपकी प्रसिद्धि है। आपके श्रीमुख पर ब्रह्मचर्य का देदीप्यमान तेज तथा सच्चे साधुत्व की आभा है। आकांक्षा रहित सन्त सेवा आपके जीवन की परम विशेषता है। आपके सहयोग, सेवा, सत्प्रयास एवम् अनुग्रह पूर्ण भावना से ही मुनि श्री 'मधुकर' जी महाराज ने उच्चकोटि का अध्ययन और मनन करके अपने जीवन का निर्माण किया है।

मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर' जी का जीवन बाल्यकाल से ही वैराग्य की ओर अग्रसर हुआ। फलस्वरूप लगभग दस वर्ष की अल्पायु में ही आपने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षोपरान्त आपने जैन शास्त्र, प्राकृत संस्कृत, व्याकरण, साहित्य दर्शन, इत्यादि का उच्चतम अध्ययन किया। आप हिन्दी के अधिकारी विद्वान है कविता में भी आपकी अच्छी गति है। आपने न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ इत्यादि कई परीक्षायें उत्तीर्ण की है। कई जैन ग्रन्थों का संकलन तथा 'जयवाणी इत्यादि' का सुन्दर सम्पादन भी किया है। 'अन्तर की ओर' आदि आपके प्रवचनों के कई संग्रह पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुए हैं, जो मानवजीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देने में सहायक है। इसके अतिरिक्त पच्चीस से ऊपर अन्य धार्मिक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें 'साधना के सूत्र' एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है, जो जैन समाज के ही लिए नहीं, अपितु सभी धर्मावलम्बियों के लिए समान रूप से पठनीय विचारणीय व उपादेय है। आपकी लेखनी में प्राचीन ग्रन्थों के सार के साथ नवीन विचारों की पुट है। जो चिन्तन में नवीनमार्ग दर्शन करती है।

"मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ! जैसे विराट ग्रंथराज का निर्माण भी मुनिद्वय (श्री वृजलालजी महाराज साहब व आप) की सुप्रेरणा तथा सहयोग से ही पूर्ण हुआ।

मुनिद्वय, (स्वामी वृजलालजी महाराज साहब एवम् पंडित प्रवर मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर') की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर ऐसे त्यागी तपस्वी, साधुत्व भावना से ओत-प्रोत सरल मानस संतों के श्री चरणों में भावभीनी श्रद्धाञ्जली तथा कोटिशः वंदन!

स्वामीजी श्री व्रजलालजी एवं श्री मधुकर मुनि जी के वर्षावास की सूची

स्वामीजी श्री व्रजलालजी महाराज के वर्षावास : वि० सं० १९७१—पाली
१९७२—कुचेरा
१९७३—तिंवरी
१९७४—पाली
१९७५—कुचेरा
१९७६—ब्यावर
१९७७—तिंवर
१९७८—हरसोलाव
१९७९—ब्यावर[1]

मुनिद्वय के संयुक्त चातुर्मास—

वि० सं० ई० सन्	स्थान	विशेष विवरण	
१९८० (१९२३)	पाली	पूज्य गुरुदेव के साथ	
१९८१	नागौर	,,	,,
१९८२	कुचेरा	,,	,,
१९८३	ब्यावर	,,	,,
१९८४	तिंवरी	,,	,,
१९८५	नागौर	,,	,,
१९८६	ब्यावर	स्वामी श्री हजारीमलजी के साथ	
१९८७	तिंवरी	,,	,,
१९८८	कुचेरा	,,	,,
१९८९	ब्यावर	,,	,,
१९९०	जयपुर	,,	,,
१९९१	जोधपुर	,,	,,
१९९२	तिंवरी	,,	,,
१९९३	पाली	,,	,,
१९९४	कुचेरा	,,	,,
१९९५	ब्यावर	,,	,,
१९९६	मेड़ता	,,	,,
१९९७	पाली	,,	,,

नोट—वि० सं० १९८० से मुनिद्वय के चातुर्मास साथ ही होते रहे हैं, अतः उनकी सूची साथ में ही समझें।

वि० सं०	स्थान	विशेष विवरण	
१९९८	कुचेरा	स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज के साथ	
१९९९	ब्यावर	"	"
२०००	जोधपुर	"	"
२००१	कुचेरा	"	"
२००२	नागौर	"	"
२००३	डेह	"	"
२००४	कुचेरा	"	"
२००५	भोपालगढ़	"	"
२००६	तिंवरी	"	"
२००७	ब्यावर	"	"
२००८	ब्यावर	"	"
२००९	विजयनगर	"	"
२०१०	अजमेर	"	"
२०११	कुचेरा	"	"
२०१२	जयपुर	"	"
२०१३	नोखा	"	"
२०१४	जोधपुर	"	"
२०१५	तिंवरी	"	"
२८१६	ब्यावर	"	"
२०१७	मेड़ता	"	"
२०१८	कुचेरा	"	"
२०१९	नागौर	स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज के साथ	
२०२०	महामंदिर	"	"
२०२१	रायपुर	"	"
२०२२	पुष्कर	"	"
२०२३	ब्यावर	"	"
१०२४	कुचेरा	"	"
२०२५	जोधपुर (मारवाड़)	"	"
२०२६	अजमेर	"	"
२०२७	जयपुर	"	"
२०२८	पाली	"	"
२०२९	गोठन	"	"

संदेश
अभिनन्दन

शुभ कामनायें

संदेश • शुभ कामनाएं • अभिनन्दन

जैन मुनि का जीवन ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना का जीवन है। ऐसा जीवन जीना ही जीवन की सार्थकता है। जैन शासन ने अनेक गुणी व्यक्तियों को उत्पन्न किया है। जैन धर्म गुणप्रधान है। उसने प्रमोद भावना को महत्व दिया है। गुणी व्यक्ति के गुण का समर्थन और प्रकटीकरण सचमुच प्रशस्त कार्य है। इस दृष्टि से मैं मुनिद्वय के अभिनन्दन - माध्यम को ज्ञान - दर्शन - चारित्र के गुणोत्कीर्तन का प्रसंग मानता हूं।

—आचार्य श्री तुलसी

स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज तथा मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज अपनी संयम साधना के क्रमशः उनसठ (५९) वर्ष व पचास वर्ष पूर्ण कर रहे हैं, यह प्रसन्नता का विषय है। मुनि-द्वय का अनेक प्रसंगों पर मिलन होता रहा है और श्रमण-संघ सम्बन्धी विचार-विमर्श में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनका सौम्य एवं सरल स्वभाव, ज्ञान, साधना एवं श्रुत-सेवा की उत्कट भावना, संयम का अनुराग तथा श्रमण संघ के प्रति उनकी निष्ठा प्रशंसनीय है। उनके साधनामय जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर समाज ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना में प्रगति करें इसीमें समारोह की सार्थकता होगी।

मुनिद्वय अपने ज्ञान, दर्शन एवं संयम मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ते रहे और समाज को युगों तक उनसे मार्गदर्शन मिलता रहे यही मंगल भावना है।

—आचार्य श्री आनन्द ऋषि

(श्रीव०स्था०जैन श्रमण संघके महामहिम आचार्य)

RAJ BHAVAN
Madras-22
11th January 1973

I am glad to know that an Abhinandan Granth is proposed to be released to commemorate the services of Swami Sri vrajalalje and Muni Sri Misrimalji 'Madhukar' to Jainism. I offer my pranams to them on the occasion.

—K. K. Shah
(Governor of Tanil Nadu)

शत-शत अभिवन्दना !

उप प्रवर्तक स्वामी जी श्री ब्रजलाल जी महाराज साहब व पण्डितरत्न मुनि श्री मधुकर जी महाराज साहब का दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती अभिनन्दन समारोह ब्यावर में श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ के सानिध्य में मनाया जा रहा है—यह जानकर मुझे प्रसन्नता है—अतीव प्रसन्नता है।

दोनों मुनिराजों के साथ मेरा गुरु-परम्परा का एक विशिष्ट सम्बन्ध है। इस नाते मैंने उन्हें निकटता से देखा है—परखा है।

बचपन से लेकर इस अवस्था तक उनकी सेवा करने का लाभ मुझे अनेक बार मिला है। दोनों मुनिराजों का संयमी जीवन विशुद्धतम है। ज्ञान की गरिमा व क्रिया-निष्ठा में दोनों मुनिराजों की गुरु-परम्परा सदा से अति उत्तम रही है। मुनिद्वय ने उसमें चार-चांद लगाए—जैन जगत् के लिए यह एक अनुकरणीय बात है।

दोनों मुनिराजों का आदर्श जीवन जैसा अब तक रहा है, वह सदा बना रहे, रत्न त्रयमें अभिवृद्धि करते रहें और उनके विशुद्ध संयमजीवन से लाभ उठाकर जन-मानस आचार-विचार में निरन्तर अग्रसर बने—यही मेरी हार्दिक कामना है।

(पद्मश्री)—मोहनमल चौरड़िया
अध्यक्ष : श्री अ० भा० स्था० जैन कांफ्रेंस
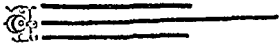
मुनिश्री ब्रजलालजी महाराज एवं मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' जी के दीर्घचारित्र पर्याय एवं श्रुत सेवा के उपलक्ष में अभिनन्दन ग्रन्थ निकाल रहे है यह जानकर प्रसन्नता हुई। आपका यह कार्य अत्यन्त सराहनीय है। दोनों मुनिवर, त्यागी, वैरागी एवं विद्वान है। दोनों महापुरुषों का जीवन अनुकरणीय है। ऐसे तपस्वी वंदनीय महापुरुषों का जितना अभिनन्दन किया जाय, उतना थोड़ा ही है।

श्रमण संस्कृति के उन्नयन में आप विमल विभूतियों ने जो सहयोग प्रदान कर उसके संरक्षण-संवर्द्धन में कारणीभूत बने है, वह विस्मृत नहीं किया जा सकता।

मैं इस कार्य की हार्दिक सफलता चाहते हुए मुनिद्वय के पुनीत पादपद्मों में हार्दिक वन्दन-अभिनन्दन करते हुए श्रद्धा के सुमन समर्पित कर रहा हूं।

—(सेठ) अचलसिंह एम पी.

श्रमण संघीय उप-प्रवर्तक वयोवृद्ध स्वामी श्री १००८ श्री ब्रजलालजी महाराज साहब की सेवा का जोधपुर में तीनों ही चातुर्मास में जो मुझे सौभाग्य प्राप्त हुवा था उसमें मैंने मुनिश्री की रुचि तथा दिनचर्या साधुपणा संग्रह करनेवाली पाई है। मुनिश्री ज्ञान, दर्शन और चारित्र के धर्मी है। मुनिश्री की कंठकला बहुत सुन्दर है और भजन, वाणी, जीवन में आध्यात्मिक रस उत्पन्न करने वाली है।

ऐसे मुनिराज को मेरा बार-बार अभिनन्दन है।

—माधोमल लोढ़ा
मंत्री श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ, जोधपुर (राज०)
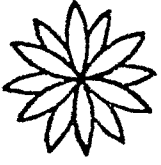
द्वय मुनि-अभिनन्दन !

● प्रवर्तक मरुधरकेशरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

सवैया

मन मोहन माधव मोद भरी व्रज मंडल को विकसाय दियो।
शिशु खेल सुमेल किये कितने लखि भक्त हिये हर्षाय रियो।
नर रूप विरूप कियो तिन को मद मार महायश पाय लियो।
व्रजलाल गुनि मुनिराज बनी वह नाम यथारथ सिद्ध कियो?

दोहा

वह रागी व्रजराज था, यह त्यागी व्रजलाल।
यदुवंशी व्रजराज है, ये जय गच्छ व्रजलाल ॥२॥
वह व्रज कमला के पति, यह व्रज करुणानाथ।
उन कर वंशी हाथ थी, इनके लेखन हाथ ॥३॥
वह व्रज गौ प्रतिपाल था, यह प्राणी रिछपाल।
वह त्रिजग का ताज था, यह संयम में लाल ॥४॥
तेज वस्यौ व्रज लाल तन, हेज ग्रह्यो मिसरेज।
ज्ञान-क्रिया को रूपधर, सारद संग हमेश ॥५॥
मिश्री ज्यों मधुमय वनै, बने सुकाव्यन वीर।
मल्ल होय सार्थक किया, नाम वाह मति धीर ॥६॥

छप्पय

ले 'तिवरी' अवतार, भला तीनों गुण पाया,
संयम रू समभाव, शांतता वर सरसाया।
मन वच तन त्रय योग, वरी वस माल कमाया
सव दर्शन से प्रेम युक्ति, युत कर समझाया।
कृति कला साहित सरस, ललित लिपी मन हारनी,
जन्म देय माता वनी, रत्नकुक्ष की धारणी ॥७॥
क्रोध गयो कुमलाय, मान विलखानन होगो,
माया रही मुरजाय, लोभ सारो सुख खोगो।
विकथा ह्वी वेमार, चुगल वनग्यो ना-जोगो,
निंदा गिरी निराहट, ईर्षा भूलि छोगो।
मिश्री मुनि की शांतता, पेखी कुमता भाग की,
किम ठहरे खलदल बठे, ज्योति जग रही त्याग की ॥८॥

दोहा

चारित्र बल से वन प्रवल, बने चिरायु राज।
'मिश्री' व्रज-मिश्री प्रति, चाहत सर्व समाज ॥

● ●
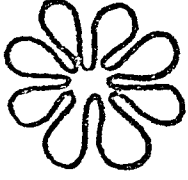
मधुकर जी री कई केणी ?

● प्रवर्तक मुनि श्री अम्बालालजी महाराज

मधुकर जी तो बस मधुकर जी है, मधुकर जी री होड़ कुण कर सके ?

सीधा सादा सरल, सिद्धान्त में अटल, आचरण में निर्मल, मधुकर जी साधु समाज में जागती जोत है।

घणा वर्षां सूं मधुकर जी सूं म्हारो सम्बन्ध है, नरी दाण साथे रेवा रो काम पड़यो, श्रमण संघ रा मामला में नरी दाण चर्चा की और बात-चीत में भी वणां ने समझवारो मोको मिल्यो। पण कदी भी म्हारा मन पर वणां रो ओछो प्रभाव नी पड़यो।

म्हारी वणां रे प्रति जो उच्च धारणा है, वणी में कदी भी फरक नी आयो। क्रोध की तो झलक ही नी देखी, पण वाणी में कड़काई तक नजर नीं आई। "साधु सोहंत्ता अमृत वाणी" या उक्ति मधुकर जी में हमेशा प्रकट मिली।

हर वक्त, हर टेम मुलकतो-हंसतो चेहरो, मीठी मीठी-वातां ने शास्त्रानुसार सुन्दर विचार ये खास विशेषता है जो म्हारे ध्यान में आई।

मधुकर जी रो व्यवहार बहुत उत्तम है, जो उत्तम निश्चय रो परिचायक है।

आहार-विहार और दिनचर्या में वणां रा अन्तर बाह्य साधु पणा रो पक्को सबूत मिले।

मधुकर जी री सब सूं बड़ी विशेषता मिलनसारिता है।

मधुर वचन ने नम्र व्यवहार सूं पराया ने आपणो बणावता अणां ने देर नी लागे।

मधुकर जी महाराज दीखवा में बड़ा भोला-भाला दीखे, पण असल में अतरा भोला है नी जतरा लोग जाणे, आपणा ज्ञान दर्शन-चारित्र री साधना में बडा सावधान है **हिरिमं पडिसंलीणे** हो वासूं वणारा व्यवहार में तूफान नी है, शान्ति है, सज्जनता है, यो ही वणारो भद्रपणो है।

मधुकर जी री दृष्टि साफ और शास्त्रानुसार नजर आई, अणीज वास्ते वणां पर म्हारी बड़ी श्रद्धा है।

वीतराग वाणी रा अभ्यासी श्री मधुकर जी महाराज बड़ा स्वाध्यायी, ग्रन्थकार ने अच्छा वक्ता है। पूज्य श्रीजयमलजी महाराज साहब की पवित्र परम्परा रा सपूत चमकता-दमकता हीरा श्री मधुकर जी महाराज वर्तमान साधु समाज में महत्त्व पूर्ण चारित्रवान सन्त है, वणा री चारित्र पर्याय रा पचास वर्ष निरन्तर आध्यात्मिक उन्नति में बीत्या या बड़ी हर्ष और प्रमोद री बात है। समाज वणां रो ऊणी अवसर पे अभिनन्दन करे यो ठीक ही है, मूं भी हृदय सूं सात्विक अभिनन्दन करतो थको आशा करूं के श्री मधुकर जी महाराज घणां वर्षां तक जीवन्त संयम का प्रतीक वण ने जैन समाज और श्रमण संघ रो मार्ग प्रदर्शन करे।

●

● उपाध्याय श्री अमरमुनि

कृषिप्रधान भारत का संस्कृति स्वरूप ऋषि-प्रधान रहा है। यहां सत्ता, वैभव एवं ऐश्वर्य के उन्नत शिखर भी त्याग, वैराग्य एवं साधना के चरणों में झुकते रहे हैं। यहां सभ्यता के आदिकाल से जीवन का लक्ष्य सत्ता व ऐश्वर्य नहीं, किन्तु साधना व वैराग्य रहा है। भारतीय मस्तिष्क मूलतः शान्ति का इच्छुक है, और उस शांति का उत्स त्याग व साधना है। यही कारण है, कि आत्म-साधना के पथ पर चलने वाला साधक ही भारतीय जीवन का आदर्श, श्रद्धेय और वन्दनीय माना जाता रहा है। साधकों का वन्दन-अभिनन्दन मूलतः त्याग-प्रधान जीवन दर्शन का अभिनन्दन है।

मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई है कि राजस्थान के दो प्रसिद्ध संत मुनि श्री व्रजलाल जी एवं श्री मधुकर मुनि जी का सार्वजनिक अभिनन्दन श्रद्धालु जनता द्वारा आयोजित हो रहा है, दोनों मुनिवरों की सुदीर्घ दीक्षा पर्याय के पचास व तदधिक वर्षों की परिपूर्णता पर !

मैं इन दोनों मुनिवरों के निकट परिचय में रहा हूं निकट ही नहीं, बहुत निकट ! स्थविर शिरोमणि स्वामी व्रजलाल जी की सहज सरलता, दृढ़ सेवा निष्ठा और अनाविल आत्मीयता की मधुर स्मृतियाँ मुझे आज भी गद्गद कर देती है। अस्वस्थता के दुर्दिनों में वे मेरी स्वास्थ्य-चिकित्सा में निकटतम सहयोगी रहे हैं और मैं उन्हें डाक्टर साहब के नाम से सम्बोधित करता था। कितने मीठे होते थे जीवन के वे क्षण !

मुनि श्री मधुकर जी वास्तव में मधुकर वृत्ति के प्रतीक हैं। वे गुणग्राही, सेवा भावी और मधुर भाषी होने के साथ ही एक अच्छे प्रवक्ता, कवि व लेखक भी हैं। अध्ययनशीलता व जिज्ञासावृत्ति ने उनकी प्रतिभा को अच्छा निखार दिया है। राजस्थान के महान् तपोधन, बहुश्रुत एवं सुविश्रुत जैनाचार्य पूज्य श्री जयमल जी महाराज की प्राचीन संत परम्परा के वे सुयोग्य प्रतिनिधि संत हैं।

दोनों मुनिवरों के इस मंगलमय अभिनन्दन प्रसंग पर मेरा हार्दिक अभिनन्दन !

मंगलमूर्ति मुनिद्वय तुम हो,
जैनजगत के शशधर, दिनकर।
युग-युग तक चिरकाल तुम्हारी,
स्वर्णाभा चमके मंगलकर ॥

●

प्रवर्तक मुनिश्री अम्बालालजी महाराज

परम आदरणीय वयोवृद्ध स्वामी जी श्री व्रजलाल जी महाराज साहब रो समाज सार्वजनिक अभिनन्दन करे, ये समाचार मिल्या। श्री व्रजलाल जी महाराज म्हाणी साधु समाज में वयोवृद्ध दृढ़ संयमी, उत्तम महापुरुष है। पुराणी साधु परम्परा रा नमूना है। कद सूं छोटा पण, गुणां सूं बहुत बड़ा है, अभिनन्दन रा अवसर पे म्हारो भी हार्दिक अभिनन्दन वन्दन मंजूर करें। ●

मुनि श्री नथमलजी

सम्प्रदाय, वेष और आकृति में जो है, वह स्थूल जगत् की प्रतिमा है। उसके भीतर जो है वह चिन्मय है, महतो महीयान् है। उसका मैं अभिनन्दन करता हूं। ●

प्रवर्तक श्री विनय मुनिजी—

जब राजस्थान प्रांत में हमारा विचरण हो रहा था उस समय सरलस्वभावी सौम्यमूर्ति स्वर्गीय श्री हजारीमलजी महाराज और उनके शिष्य रत्न श्री व्रजलालजी महाराज एवं श्री मिश्रीलाल जी महाराज मधुकर से कई दफे मिलने के प्रसंग प्राप्त हुए थे।

ब्यावर में रायली के बंगले में हम कई दिनों तक साथ में भी रहे थे, उस समय उपप्रर्वतक श्री व्रजलाल जी महाराज की सरलता सौजन्यता, एवं सेवा भावना का परिचय हुआ था—ये निरभिमानी एवं कर्तव्यनिष्ठ है।

श्री मिश्रीलाल जी महाराज 'मधुकर' शांत स्वभाव, प्रसन्नवदन एवं विनयमूर्ति है।

दोनों मुनिवरों की सूर्य-चन्द्र जैसी अद्वितीय जोड़ी है।

श्री मधुकर मुनि जी में सहज निस्पृहता वाणी में मधुरता, गम्भीरता, गुणग्राहकता आदि गुणों का वास है।

आपने अल्प समय में आगमों और अन्य ग्रन्थों का तलस्पर्शी ज्ञान सम्पादन कर लिया है और नवीन ज्ञान प्राप्ति में भी सदैव अग्रसर रहते हैं।

आप मुनिद्वय जैन शासन के संतरत्न एवं समाज के देदीप्यमान सितारे हैं।

शासनदेव से यह प्रार्थना है कि ये मुनि द्वय स्वस्थता एवं दीर्घायुष्य प्राप्त करके दिन-दूनी एवं रात्रिचौगुनी समाज, धर्म एवं राष्ट्र की अधिकाधिक सेवा करके स्वपर कल्याण की साधना करे यही मंगलमय शुभ कामना है।

उपप्रवर्तक श्री मोहनलाल जी महाराज

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज एवं विद्वद् रत्न मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में उनका अभिनंदन समारोह आयोजित किया जा रहा है।

दीक्षा के पचास वर्ष की पावन सम्पूर्ति, स्वर्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर उनके हार्दिक अभिनंदन के साथ उनकी गौरवमय हीरक जयन्ती मनाने की मंगल कामनाएं।

वन्दन-प्रसूनाञ्जलिः

प्रसिद्ध वक्ता श्री पुष्कर मुनिजी

कल्याणकांक्षिन् ! करुणानिधान !
प्रशान्तसिन्धो ! सकलात्मबन्धो !
गुणिन् मनस्विन् मतिमन् सुविद्वन् !
वन्दे ऽनिशं तं व्रजलाल साधुम् ! १ !

लिपिं सुरम्यां भवतां विलोक्य,
अतीतकालीनसतामृषीनाम् ।
स्मृति मदीये हृदये प्रबुद्धा,
वन्देऽनिशं तं व्रजलालसाधुम् । २ ।

शान्तस्सुदान्तो व्रतिनां वरेण्यः
प्रचण्डमोहद्विरदं विजेतुम् ।
अयं मुनीन्द्रो मिसरीमलाख्यः
वन्दे मुनीन्द्रं तमहं सुभक्त्या । ३ ।

विभिन्नभाषाः समधीत्य सम्यक्
जैनागमाब्धि गहनं निमथ्य !
चास्ति प्रदक्षो ऽ घतमं विदग्धुं
वन्दे मुनीन्द्रं तमहं सुभक्त्या ! ४ !

प्रेरणात्मक वचन

✱ पूज्यवर स्वामीजी श्री रावतमलजी महाराज

विरले ही व्रजलाल से, शिष्य होय सुविनीत ।
गुरु, गुरु-भ्राता की करी, सच्चम सेव पुनीत ॥१॥

मिष्ट-गिरा मधुकर तणी बरसत अमिय-समान ।
महि-मंडल में करत हैं, सदा स्व-पर-कल्याण ॥२॥

मिसरी सूं मीठी घणी, मधुकर तणी जवान ।
महत कार्य कीने कई जाने जैन-जहान ॥३॥

वंसुरिया वत वचन में, वारू विमल विवेक ।
मरुधर में 'मधुकर' जिसा, कहिए संत कितेक ?४॥

● मुनि श्री प्रतापमलजी महाराज

जैनसमाज द्वारा महामनस्वी मुनिद्वय के आध्यात्मिक साधक जीवन का जो विशाल पैमाने पर अभिनन्दन समारोह मनाया जा रहा है यह जैन समाज के लिए ही नहीं, अपितु प्रत्येक विकास-शील ममाज के लिए गौरव का प्रतीक है ।

मैं मुनिद्वय का हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ अपने आपमें गौरव का अनुभव करता हूं । समाज को ऐसे विद्वद् साधक वृंद से अधिकाधिक मौलिक साहित्य उपलब्धि की आशा है । ●

● श्री माधोमलजी लोढा

श्रमण संघीय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज साहव 'मधुकर' की विशेप सेवा का जोधपुर के तीनों ही चातुर्मास में मुझे सौभाग्य प्राप्त हुवा था । मुनि श्री के प्रवचन जैनधर्म के मौलिक तथा जैन धर्म को व्यवहार में परिणत करवाने के सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं । मुनि श्री के प्रवचन वड़े रोचक, प्रभावशाली और जैनधर्म में विश्वास उत्पन्न करानेवाले हैं । मुनि श्री अनाग्रही और सत्य के खोजी है ।

प्रात: हर रोज सिंहपोल में मुनि श्री के प्रवचन का लाभ उठाने के अलावा मैं हर दोपहर फिर सिंहपोल मुनि श्री की सेवा में जाया करता था—दोपहर की संत संगत तो मेरे लिए जीवन-शुद्धि का एक वास्तविक साधन रहा ।

मुनि श्री में अनुभूतियाँ जागृत है, जिनमें शील, क्षमा, संतोप और सेवाभाव की निर्मल ज्योति जल रही है । मेरे सामने हुई एक घटना है कि मधुकर मुनि पर एक महांन् मुनिराज द्वारा कठोर शव्दों और वाणी के प्रहार किये जाने पर भी मधुकर मुनि का मुखारविन्द हंसता ही दीखने में आया और उनका शांति संतुलन भी ज्यों का त्यों कायम रहा । मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज मधुकर का जैसा नाम है, वैसी ही उनकी मधुर वाणी है और स्वभाव भी । ऐसे मुनिराज को मेरा वार-वार अभिवंदन है ? ●
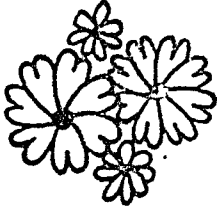
श्रद्धा सुमन-समर्पण

—मुनि श्री रूपचन्द्र जी 'रजत'

रंग ना अनंग मन-संग सत्य ग्रह्यो दृढ़,
धाम-दाम. वाम-क्षण-भंगुर विचार्यौ है।
मात, तात भ्रात जात, ख्वाउ हैं खलक मांही,
जान प्राण गुरु कज-"व्रज" मनवार्यौ है।।
जयते जगत जस "जयमल" गच्छ स्वच्छ,
दच्छ वच्छ "फकीर" को जोरावर धार्यौ है।
गुरुभ्राता "हजारी" के हाजरो में हरपल,
नेकन सिकन भाल सेव सर सार्यौ है।।१।।

व्रज मुनि लेखन दीपज्यो, तिमिर कटे तत्काल।
दर्श-पर्श-द्विधा मिटे, व्रज-रज ज्यों गोपाल।।
इक अक्षर में वारते-विविध भान्ति का रत्न।
कंठाभरण समान है—ग्रहै कोई कर यत्न।।

करमें कलम करी-आखर तै मोति लरी,
धरी ना प्रमाद रूपै चूंप सुं लिखावे है।
क्रियावन्त कमनीय, सरल सुसंजमीय,
कमनीय मस्त आप, भावुकता भावे है।।
नर नाहर सो निडर निरभीख ह्वै आप,
स्पष्ट साफ तोल - वोल रोल ना सुहावे है।
वाल व्रह्मचारी घोर, कौकिल सो कंठकोर,
भोर में भजन नित - चितसुं सुनावे है।।२।।

उप अधिकारी आप है, श्रमण संव में सूर।
"व्रज्जलाल" सुखमाल मुनि, भरियो गुण भरपूर।।
संघ सकल मिलके करे, अभिनन्दन उत्साह।
रजकण ज्यूं "मुनिरजत"आ, करी भेट कविताह।।

जैन सुधा - निधि में खिले, जैनागम अरविन्द।
धर्म विटपवर विज्ञका—मधुकर नित मकरन्द।।
सारभूत संसार में, समदर्शी सत संत।
वरणे वैरिखानते, ता विच "मिश्री" तंत।।

पेख्यो पंडितपूर, शूर सत्य संयम सिरै।
हसित वदन हजूर, क्रूर कदाग्रे नाग में।।

लेखक ललित ललाम, धाम-धर्म रो सद्गुणी।
शान्तदान्त अभिराम; नाम मधुर मन भावणो ॥
गयवर ज्यों गेरोह, पेहरो आतम रामरो।
सज्जन शिर सेरोह, मिहर विधा व्योम रो ॥

विज्ञ है विनोदी वारू, धिषणा को धाम धनी—
रीपणा को खर खोज—क्षमता से खोयो है।
परेच्छा लब्ध वन क्षुब्ध ना वन्यों है कभी—
सभी से सनेह साध ज्ञान मन मोयो है ॥

यथा नाम तथा गुण, मिष्ट इष्ट शिष्टन को,
संयम गरिष्ठ 'रूप' वरिष्ठ गुण लोयो है ॥
आगम के अनुसार—साहित्य सृजन कर—
भव्यन के भाव भूवि-धर्म बीज वोयो है।
धन्य "मधुकर मुनि" नैन जैन कोयो है ॥

मधुकर चित्त मयूर ज्यों, हर हिरदय अहि हार।
सार-सूप-संभाल शिव-राखे चाखे प्यार ॥
मधुकर-मधुकरि ध्यानकर, मधुर तवत चाहेय।
मधु संचय मन में भर्यो, मन मत अवगाहेय ॥

मुनिराजन में मुनिराज महा, जिन स्वर्ण जयन्ति सम्मान गहा।
जिनके पद श्रावक संघ सदा, मुनि संघ सुमंत्री सुतंत्री कहा ॥
ज़स जाहिर भारत देशन में, लघुमत्तभणै "मुनि रज्जत" हा।
सनमान सु "व्यावर" संघ मिली जुकरे "अभिनन्दन ग्रंथ" अहा ! ॥

धीमन्त श्री मधुकर मुने, गुणगणसमूह के सदन हो।
श्रद्धायुत समर्पित करूँ, हार्दिक अभिनन्दन हो ॥

पंच महाव्रत सद्गुरु से वर संस्कृत - प्राकृत को शुचि ज्ञाना।
ग्रन्थ लिखे निज लेखिन से जिन आतम शोधन को हित नाना ॥
"श्री मिसरी मुनि" को उपदेश लगे सबको मृदु मिश्री समाना।
या हित भेंट करे अभिनन्दन ग्रन्थ चतुर्विध संघ स-माना ॥१॥

शिशु गण यश गाते, आपका एक नाद।
बुधजन सव देते, आपको साधुवाद ॥
"श्रमण रजत" याते-यों कहै निर्विवाद।
"मधुकर मुनि मिश्री-मल्ल" है पूज्यपाद ॥२॥

● श्री रतन मुनि

श्री स्वामी व्रजलालजी महाराज साहब एवं मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर' की श्रुत सेवा एवं संयम-साधना के क्रमशः उनसठ (५६) व पचास वर्ष पूर्ण होने पर उनका अभिनन्दन किया जा रहा है यह एक शुभ प्रयास है। वस्तुतः ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करनेवाला साधक अभिनन्दनीय होता है।

उनकी संयम-साधना और श्रुतसेवा ऐसी उच्च है, जिस पर समाज गर्व कर सकता है। उनके जीवन का प्रत्येक पृष्ठ इतना उज्ज्वल-समुज्ज्वल है कि जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, उनके प्रति श्रद्धा से विनत हो उठता है।

सहस्र-सहस्रजनों के श्रद्धा केन्द्र होने पर भी जिन्हें गर्व छू नहीं पाया हो, जो पद और प्रतिष्ठा के व्यामोह से सर्वथा परे रहकर श्रमण संघ की एकता के प्रति पूर्ण समर्पित रहे हों, ऐसे सन्तजन सचमुच ही अभिनन्दनीय हैं।

जिनकी वाणी मधु के समान मिष्ट और हृदय नवनीत के समान संवेदनशील हो, उनके प्रति कौन श्रद्धावनत नहीं होगा ?

वाणी से संतोष देनेवाले तो जीवन में अनेक मिल सकते हैं, किन्तु समय पर साथ देनेवाले विरले ही होते हैं। आपके द्वारा जो सहयोग का सम्बल मुझे मिला, वह मेरे जीवन का अविस्मरणीय अंग बन गया है। आचार्यश्रीजी का वरदहस्त जो मुझे प्राप्त है, उसका श्रेय मुनिद्वय को ही है।

आपका साधनामय जीवन अनेक साधकों के लिए आलोक बनकर युग-युग तक पथ प्रदर्शित करता रहे यही मंगलकामना है। ●

● श्री कुन्दन ऋषि

सरलता साधना का प्राण है। धर्म सरल चित्त में ही स्थित रहता है। स्थानांग सूत्र में मानव-जीवन की प्राप्ति के लिये सरलता को आवश्यक माना गया है और ऐसी सरलता की प्रतिमूर्ति है स्वामीजी श्री व्रजलालजी म० एवं मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर'।

श्रद्धेय मधुकर मुनिजी के पुनीत दर्शनों का प्रथम सौभाग्य मुझे सम्वत् २०२० के अजमेर सम्मेलन के कुछ दिन पूर्व ब्यावर में प्राप्त हुआ। नाटा कद, गेहुंआ वर्ण और प्रसन्न मुख-मुद्रा जिस पर सौम्यता और सरलता सहज रूप से झलकती है। उस समय मेरी दीक्षा को डेढ़ वर्ष ही हुआ था। वन्दन करते समय स्नेहमयी वाणी में पूछ बैठे—क्या नाम है ? अध्ययन क्या चल रहा है ? कितनी आत्मीयता एवं सद्भावना थी उनके इस प्रश्न में।

पुनः आपके दर्शन का सुअवसर जैतारण (मारवाड़) में प्राप्त हुआ। आप संघ ऐक्य पर भाषण दे रहे थे। वहां मुझे आपकी वक्तृत्व शैली और विचार गाम्भीर्य का पता चला। सांडेराव सम्मेलन के अवसर पर पुनः आपसे मिलना हुआ। इस अवसर पर मुझे आपकी युवकों-सी कार्यक्षमता और अनुभवी वृद्ध सी समन्वय करने की योग्यता का परिचय मिला।

वे अपनी साधना के पचास वर्ष पूर्ण कर रहे हैं, यह हम सभी के लिये प्रसन्नता का विषय है। उनकी साधना का आलोक भावी पीढ़ी के लिये प्रकाश स्तम्भ का काम दे, इसी सदभावना के साथ। ●

मुनि-द्वय के प्रति

—चन्दनमल 'चांद' एम. ए. साहित्यरत्न
प्रवन्ध सम्पादक : जैन जगत 'मासिक'

वन्दनीय है साधना, वन्दनीय है ज्ञान,
आत्म-साधना से सदा, मानव वना महान।

सरल, तरल, निष्कम्प है, स्वामी व्रज के लाल,
दूर रहे संकीर्णता, हृदय अगाध विशाल।
धन्य आपकी साधना, अद्भुत कौशल ज्ञान,
निर्भय, निर्मल, सन्त का, गाऊं मैं गुणगान।
'मिश्री' से 'मधुकर' वने, सरल, मधुर स्वभाव,
मग्न साधना में रहे, उर में है समभाव।
लेखन, वाचन, काव्य में, सदा रहें जो लीन,
आत्म-साधना में वही, सन्त वने प्रवीण।
नया पुराना जोड़कर, सेतु वने विशाल,
अमर रहेंगे सन्त वे, छू न सकेगा काल।

कलाकार को कवि हृदय, देता है सम्मान,
अभिनन्दन स्वीकार करें, ग्रहण करें वहुमान।

राजहंस की जोड़ी

—श्री चन्दमुनि (वरनाला)

जिनशासन का शांत-सरोवर लहराता शीतल-संयम जल!
शम-संवेग विनय की वीचि जहां उछलती रहती अविरल।
शोभित होते, मन को मोहते शुभ्र कांति-सद्‌गुण मुक्ता दल,
राजहंस सम द्वय-मुनि उसमें संयम-क्रीड़ा करते प्रतिपल॥

सेवा-समता-सरलता विनय-वुद्धि के धाम।
श्री व्रज मुनि के चरण में 'चन्दन' करत प्रणाम।
मधुकर मधुकरवृत्ति धर रहते सद्‌गुण लीन।
'चन्दन' श्रुत-संयम-निरत, मुनिवर वड़े प्रवीण।
चिरं जीवतु द्वयमुनि, करते जग उद्धार।
अमरकीर्ति गाता रहे, सुख-पाता संसार!

✲ असीम शुभ कामनाएँ ✲

परमज्योतिविद पं० रत्न मुनिश्री
—कुन्दनमलजी महाराज साहब

जय वंशावतंश भव्यजनशरण्य, विद्वद्वरेण्य मुनिद्वय श्री १००८ श्री व्रजलालजी महाराज साहब एवं सौम्यावतार श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर' के तपःपूत साधक जीवन के रूप में क्रमशः ५६ एवं ५० वसन्तों की संपूर्ति पर मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूं। विद्वद्वरेण्य श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब का तो साधक जीवन में प्रवेश ही शांत दांत विद्वद्वर्य गुरुदेव श्री घूलचन्द जी महाराज साहब एवं स्वनाम धन्य संगठन के अग्रदूत पं० रत्नगुरुदेव श्री पन्नालालजी महाराज साहब के नेतृत्व में भिनाय क्षेत्र में हुआ है, अतः आपका तो विशेष तादात्म्य सम्बन्ध है।

मुनिद्वय का तपोमय जीवन अनुकरणीय एवं प्रेरक रहा है तथा साहित्य सृजन में आपका अनवरत, एकनिष्ठ सहयोग प्रशंसनीय रहा है। इस अवसर पर पुनः हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ, मैं यह कामना करता हूं कि आप चतुर्विध श्री संघ को आध्यात्मिकता का अमृतरस-पान कराते हुए अगरत्व की ओर निरन्तर बढ़ाते रहें।

श्रद्धा के शब्द-कुसुम

—श्री शादीलालजी जैन
अध्यक्ष—भारत जैन महामण्डल–बम्बई

स्वामी श्री व्रजलालजी एवं मुनिश्री मिश्रीमलजी "मधुकर" के सुदीर्घ चारित्र पर्याय एवं श्रुत-सेवा के उपलक्ष्य में अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना निःसन्देह एक महत्वपूर्ण कार्य है। साधना और सेवा का उचित मूल्याकंन होना ही चाहिए। हमारा जैन समाज महान तपस्वी साधु-साध्वियों एवं आदर्श श्रावकों से आज भी भरा-पूरा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम ऐसे रत्नों को न केवल जैन समाज के समक्ष बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत करें।

यद्यपि प्रत्यक्षरूप से मुनि-द्वयों से मेरा कभी सम्पर्क हुआ हो ऐसा स्मरण नहीं, किन्तु उनके जीवन की साधना, सरलता और अध्ययन के सम्बन्ध में प्राप्त जानकारी से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं। साधक के लिए साधना जितनी अपेक्षित है, उतनी ही सरलता और हृदय की विशालता भी। अब वक्त आ गया है कि हम आपसी मतभेदों को भूलकर अनेकान्त के सिद्धान्त को सर्वप्रथम जैन समाज में ही उतारें और विश्व के समक्ष प्रेम, बंधुता, अहिंसा आदि के उदाहरण प्रस्तुत करें।

भारत जैन महामण्डल इस दिशा में समन्वय की एक कड़ी बनकर जो लघुप्रयास कर रहा है वह आप जैसे मुनियों के मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद से अधिक गतिशील होगा ऐसी आशा है। मैं अभिनन्दन समारोह की सर्वांगीण सफलता चाहता हुआ अपनी श्रद्धा के शब्द-कुसुम अर्पित करता हूँ।

मुनि मधुकर सप्तक

—गणेश मुनि शास्त्री
साहित्यरत्न

मधुर कीर्ति है, मधुर मूर्ति है, मधुर वृत्ति मन मधुकर है,
जीवन मधुर-मधुर वाणी है, मधुर प्रेम रस सागर है।
मधुर-मधुर सद्गुण सुमनों से, लेते सदा मधुर है,
गुण है वैसा नाम मनोहर, मिश्री मुनिजी मधुकर है ॥

फूल-फूल पर फिर-फिर करके, मधुकर मधु ही लेता है,
किंतु भूलकर कभी नहीं वह, कष्ट फूल को देता है।
मुनिवर उत्तम भिक्षाचर वे, मधुकरी ही करते हैं,
नहीं सताते किसी जीव को, ऐसा जीवन जीते हैं ॥

तप संयम से पूर्ण अहिंसक, जीवन है झरने जैसा,
झुके देवगण पद-पद्मों में, वह भी मानव है ऐसा।
मुनि को मधुकर सम कहते हैं, अनासक्ति है भाव कहा,
मुक्तिपथ के अनुगामी में, भव्यों का मन सदा रहा ॥

धरती-सी है क्षमा मृदुता,-मात कमल को करती है,
बालक-सी है हृदय सरलता, जन-जन का मन हरती है।
पवित्रता की शीतल गङ्गा, ब्रह्मचर्य में बहती है,
उनके सुयश गीत गाने, को, सुरबालाएँ सजती हैं ॥

उन्नीसो सित्तर संवत में मिगसिर सुद चौदस आई,
जन्म लिया तिवरी में मिश्री, नूतन संदेशा लाई।
संवत उन्नीसो अस्सी में, वही वीर पथ पथिक चला,
वैशाख सुदी दसमी की दीक्षा, भणाय में था भाग्य खिला ॥

गुरु जोरावर कुल कानन में, मधुकर मधु के स्रोत बहाये,
संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी आदि, भाषाओं का ज्ञान बढ़ाये।
पञ्चवीस पुस्तक अंकन कर, जीवन में श्रम भवन बनाया,
साहित्य क्षेत्र के खेत गगन में, चार चाँद है आप लगाया ॥

त्याग तपस्या यति धर्म से, जीवन का मूल्यांकन हो,
तथारूप श्रीश्रमण चरण में, सम्यग्दर्शन वंदन हो।
तीर्थपति का तीर्थ अमर है, जन-जन का नव जीवन हो,
'गणेश' सदा उसकी वृद्धि में, सफल ग्रन्थ अभिनन्दन हो ॥

संत का अभिनन्दन करेगा देश....!

● साध्वी श्री उज्ज्वलकुमारी जी म०

हमारा देश भारतवर्ष आज भौतिक साधनों में, सैनिक बल में, आर्थिक समृद्धि में तथा विज्ञान के विकास में विश्व के अनेक देशों से पिछड़ा हुआ होने के बावजूद भी वह महान देशों में गिना जाता है। इसका क्या कारण ? इसके पास एक ऐसी समृद्धि है कि जिसके कारण समग्र विश्व के विचारशील विद्वान उसका आदर करते है। उस समृद्धि की बदौलत आज भी इस देश का स्थान सर्वोपरि है। इसलिये हम महान गौरव की अनुभूति करते हैं।

वह समृद्धि हमारी आध्यात्मिक संस्कृति है। भौतिकवाद से संत्रस्त विश्व को किसी समय यह आध्यात्मिक संस्कृति ही शांति दे सकेगी। इसलिये हमें इस अध्यात्मसंस्कृति को सजीव और स्फूर्त बनाये रखना जरूरी है। यह पुनीत संस्कृति भारत के संतपुरुष तथा ऋपी-मुनियों की तपस्या और अनुभूति की देन हैं। और उन्हीं की साधना से यह आज भी जीवित है। इसीलिये संतपुरुष हमारे लिये अभिनंदनीय है, अभिवंदनीय हैं।

अध्यात्म संस्कृति को जीवित रखने के लिये और फैलाने के लिये अपने विचार, वाणी और वर्तन से पूरा योगदान देनेवाले सरलात्मा, अध्यात्म योगी श्रीव्रजलालजी महाराज तथा उदात्त एवं उदारविचारशील मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर', इन मुनिद्वय का श्रुत सेवायें तथा स्वर्ण जयती उपलक्ष्य में अभिनन्दन समारोह कर जो आयोजन किया है, वह भी अभिनन्दनीय है। अहर्निश साधना की अखण्ड ज्योति प्रज्ज्वलित रखनेवाले संत ही हमारी संस्कृति के प्राण हैं। संतों का अभिनन्दन करने वाला देश ही उन्नति के शिखर पर आरोहण कर सकता है—

संत का अभिनन्दन करेगा देश
जिनका है उपकार अशेष,
धारकर संस्कृति का परिवेश।।

तप, त्याग और वैराग्य ही भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्व है। हमारे सन्तों ने इन मौलिक तत्वों को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है।

स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज एवं मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' इन मुनियुगल के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ है फिर भी मेरे पुज्य गुरुदेव आत्मार्थी श्री मोहनऋपीजी महाराज तथा यथा नाम तथा गुण प्रवर्तक मुनि श्रीविनयऋपीजी महाराज के कथन से परोक्ष परिचय जरूर हुआ है। आपके विचारों की विशालता, हृदय की उदारता, वाणी की मधुरता, स्वभाव की सरलता और सौम्यता, व्यवहार में नम्रता इत्यादि सद्‌गुण सुमनोंका सौरभ से आकर्षित होकर के यह कतिपय श्रद्धा-सुमन मैं समर्पित करती हूं। ●●

भारतीय जन-जीवन की आकांक्षा

● साध्वी श्री सरलाजी सिद्धान्ताचार्य

हमारे देश में महान् विभूतियों, धर्म प्रचारकों-समाज सुधारकों-त्यागी महात्माओं की एक लम्बी शृंखला है। इन विभूतियों की कीर्त्ति-रश्मियाँ और व्यापक आत्मीयता देश जाति और स्थानीयता के घेरे से बाहर दूर-सुदूर देशों और भूखण्डों में भी मानवीय सहानुभूति और मानवोचित आत्मीयता का प्रसार करके संसार को मार्ग प्रदर्शन करती रही हैं। निश्चय ही इन पर किसी एक देश अथवा जाति का अधिकार नहीं रह जाता; क्यों कि ऐसे महापुरुष स्थानीय सीमाओं से परे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो जाते हैं।

इसीप्रकार वर्त्तमान युग में समाज सुधारक-युग चेता उदात्त-विचारक एवं उदारविचारवान महापुरुष स्वामी श्री ब्रजलालजी एवं मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' का जीवन है। जो धार्मिक जीवन के प्रत्येक परिपार्श्व को त्याग, तपस्या एवं आलोकमय गरिमा-तथा भारतीय जागरण को नवीन स्वर प्रदान कर रहे हैं।

इस युग में मुनिद्वय का अद्भुत व्यक्तित्व है। मुनिद्वय का हिमालय सा शुभ्र और विराट गंगा सा पवित्र और सचेतन-गुलाब सा सुगन्धित और कलात्मक-विद्युत सा गतिमान-तरंगित और आलोकमय-ऐकान्तिकता मुक्त और प्रकाशमान तथा सूर्य सम तेजस्वी और प्रभावित जीवन है।

मुनिद्वय का जीवन साहस, शौर्य एवं धैर्य का जीवंत रूप हैं। साहसी महापुरुषों की गति बड़ी तीव्र होती है। पर कायर और आलसी के लिए सबसे बड़ी अटक उनका अपना मन होता है। जिनके मन में कहीं कोई अटक नहीं है, उन्हें कोई भी अटका नहीं सकता। कहा है—

इरादों से जो टकराए उसे तूफान कहते हैं,
जो तूफानों पे छा जाए, उसे इन्सान कहते हैं।

जोखिम और खतरों के बीच संसार के बड़े-बड़े निर्णय सदैव साहसी लोगों ने ही लिए हैं।

सच तो यह है कि यह धरती वीरों के लिए हैं। **'वीर भोग्या'** वसुन्धरा दुर्बल-कायर व निकम्मे व्यक्तियों के लिए हर मार्ग अवरुद्ध है—हर पदार्थ अलभ्य है। तभी तो कहा है -

दुर्बल को सहज मिटाकर, चुपचाप समय खा जाता,
वीरों के ही गीतों को, इतिहास सदा दोहराता।
वे ही जीवित धरती पर, जिनमें कुछ बल विक्रम है,
भारी घुड़दौड़ यहाँ है, बलपौरुष का संगम है॥

इन मुनिद्वय का जीवन अत्यधिक साहसी एवं पराक्रमी रहा है। इन की तेजोदीप्त मुख मुद्रा पर अन्तर के निर्मल उल्लास एवं आत्म तुष्टि की पवित्र छवि मंदस्मिति के साथ चमक रही है। इन के नेत्रों में असीम ममता, करुणा एवं वात्सल्य की उज्ज्वलआभा दमक रही है। इन की तेजोमय देह से आध्यात्मिक स्फूर्ति-सहिष्णुता-समता-सेवा और गंभीर ज्ञान की पवित्र रश्मियाँ प्रतिक्षण प्रस्फुरित होती हुई दर्शक को प्रथम दर्शन में सहसा प्रभावित कर लेती है।

इन के मन में मानव सेवा की अथक उमंग भरी हुई हैं। वाणी में विश्व बंधुत्व, राष्ट्र प्रेम एवं स्वात्मगौरव की उच्छल उर्मियां लहरा रही हैं।

इन का अभिनन्दन करुणाशील मानवता का अभिनन्दन है। संयम-सेवा एवं समता की साधना का अभिनन्दन है।

सुदीर्घ चारित्रपर्याय के दीर्घजीवन में जिन्होंने ज्ञानाराधना की है—तपस्या से तन, मन को कसा है—संयम सेवा एवं समता की साधना से अन्तर कालुष्य का प्रक्षालन किया है। अध्यात्म जागरण का संदेश मानव मात्र को दिया है। पुनीतकार्यो का दृढ़व्रत लिए भारत के अनेक प्रदेशों की पदयात्रा की है।

इस विशाल देश का जन-जन सुदीर्घ चारित्र पर्याय एवं श्रुत सेवा के उपलक्ष्य में आप का अभिनन्दन कर रहा है, क्यों कि इस की कोटि-कोटि आशा आकांक्षाएँ आप श्री के भव्य महान् व्यक्तित्व के साथ जुड़ी हैं। आप युवकों की प्रेरणा, बालकों की आशा, प्रौढ़ों के मित्र और वृद्धों के स्नेहभाजन हैं। इस देश के जन-जन को आप के महान् जीवन से कर्म और तपस्या की सद्प्रेरणा मिलती है। आप—समाज में संगठन, सद्भाव—मेलमिलाप तथा युगीन विचारों का आलोक प्रकाशित करते हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पवित्र दिन पर अपने हृदय के श्रद्धा-प्रसून श्री चरणों में अर्पित करती हूं तथा जिनेन्द्रदेव से शुभ प्रार्थना करती हूं कि मुनिद्वय दीर्घायु हों।

●

● **महासती राजोमतीजी** (श्री सज्जनकंवरजी म० की सुशिष्या)

जी ओ हजारों वर्ष हजारी हृदय दुलारे
मिथ्या तिमिराछिन्न रवि सम भेदन हारे।
मधुर मधुर रस घोल, भव्य द्रुम संचित प्यारे
धवल धरातल एक महा मानव मत वारे।
सरल आत्म साधार शुभ, पीडित जन सहायक सधर,
धन्य क्षितिजके लाल तुम, मिश्री मुनि पंडितप्रवर ॥१॥

विशद साधना अहा सदा संदेश सुनाती,
सुंदर साहित्य सृजन सुमन माला मन भाती।
तेरी मधुर मुसकान कहो किस को न लुभाती,
वाणी अमृत तुल्य श्रवण-युग को सरसाती।
व्रज मिश्री की युगल यह जोड़ी ताप त्रय हारणी
यश परिमल सारे जगत पसरी ज्यौं शिव-सारणी ॥२॥

अभिनन्दन चतुष्क

● श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

पुष्पोपम :—

जिन शासन के शुभ उपवन में अहा ? फूल खिला हंसता-हंसता।
शुभ संयम सत्य पराग लिये अघ कंटक से टलता-टलता।
अति सुन्दर स्नेह-सुधा सुरभि, निज में, पर में, भरता-भरता।
मधुकर मुनि पावन पुष्प अहा ! लहराए सदा खिलता-खिलता॥

चन्द्रोपम :—

जिन संघ नभांगन में दमका अहा ! भव्य शशि निखरा-निखरा।
शुभ भव्य मनांगण में छिटका, आलोक अहा ? नितरा-नितरा।
निर्दोष विज्ञप्ति सुदीप्ति प्रभा, तम-तोम भगा बिखरा-बिखरा।
शशि पूज्य मधूकर श्रेष्ठ मुनि, पा संघ बना सखरा-सखरा॥

हंसोपम :—

गुण मौलिक नित्य नवीन वरे, वह हंस कहा सबको मिलता।
सद्-मिथ्या पय-जल मिश्रित का, निर्दोष वि भेद सदा करता।
जिन वाक्यसुधा सर में विलसित, कल्लोल करे हंसता-हंसता।
शुभ हंस मधूकर पूज्य मुनि, विचरे शत वर्ष सदा तिरता॥

विविधोपम :—

मधुराई वरी मधु से वह पावन वाक्यसुधा बनकर छलकी।
गंगाजल से पावनता ली वह, अन्दर बाह्य सदा खलकी।
ले ली अमृत ता अमृत से वह, कीर्ति कला बनकर मुलकी।
वह दिव्य विलक्षण मिश्री अहा ! मधुकर मुनि रूप लिये ढलकी॥

शुभोपमा संयुक्त शुभ, गुण चतुष्क गणनीय।
श्रद्धा सुमन सुहावने, भक्त भ्रमर मननीय॥
स्वर्ण जयन्ती शुभदिवस, अभिनन्दन शुभ कृत्य।
पूज्य पाद मधुकर तई, "कुमुद" समर्पित नित्य॥

मुनि द्वय-गुण पंचक

—मुनि रमेश (सिद्धान्तआचार्य साहित्यरत्न)

मुनि द्वय की गौरव गाथा से,
गौरवान्वित समाज है।
पवित्र साधक जीवन पर,
कोटि कोटि नाज है॥

सरस सुहावनी-लुभावनी वाणी,
सुधारती पर काज है।
अगाध आगम के अनुभवी,
कोटि-कोटि नाज है॥

शम-दम और क्षमा का
तुम मन्दिर में राज है।
स्नेह-संगठन के सुधाकर,
कोटि-कोटि नाज है

विमल ज्ञान के निर्मल निर्झर
कमल दल से योगीराज है।
गुण - गरिमा - महिमा पूरे
कोटि-कोटि नाज है॥

सम्यग्दर्शन के शुद्धाराधक,
सम्यक्ज्ञान के साज है।
सम्यग् चरित्र के पवित्र पालक,
कोटि कोटि नाज है॥

जीवन अर्पण

—गुरुदेव के प्रिय शिष्य श्री विनय मुनि

यश-सौरभ जिनका अहो, फैल रहा सब ओर।
व्रज-मधुकर गुरु देव को, वंदन मम प्रति भोर॥
देव! अकिंचन मैं रहा, तव चरणों में आज।
कौन भेंट अर्पित करूँ, फरमाओ गुरुराज!॥
जीवन मम अर्पित करूँ, श्री चरणों में नित्य।
स्वीकृत कर मम भेंट यह, करो मुझे कृतकृत्य॥

संजम-सुख आराम

—कवि कृपाराम जी सांदू (चारण) सिहू–निवासी

जोरावर गुरुदेव रा, शिष्य वड़ा गुणवान।
व्रज मिसरी रे मान रो, जग छायो सन्मान॥
संत-रतन अनमोल ए, इण जगकेरे मांय॥
हाथ जोड़ बनणाँ कराँ चरणां सीस नमाय॥
जुग-जुग जीवो संत वर! करो धरम रो काम।
खुश रेवो पावो सदा-संजम-सुख-आराम॥

गुरु चरणे सादरं समर्पणं

● श्री जसवंतराज जैन न्याय-काव्यतीर्थ

महापूज्यः स्वामी, व्रज-मधुकरः संघ मतिमान् ।
सुखी शान्तो दान्तः, सकल गणराशिः क्षिति तले ।
जनानां दोषान् वै, मधुरवचनैर्वेधिन परः ।
सदा जीयाद्विश्वे, जिनवचनरागी महागुणी ।।१।।
महाव्रताचारी, मदन दमने ऽसौ भटवरः ।
सदा जैनं चैत्यं, मधुरजिनवाक्यैं विकसितम् ।
यशः कीर्तिर्यस्याः, परम जसवन्ता स्मृतिकरा ।
सदा जीयाद्विश्वे, जिनवचनरागी महागुणी ।।२।।

आरती

ओम् जय जय व्रज मधुकर, स्वामी जय जय व्रज मधुकर !
सूर्य-चन्द्र सी जोड़ी, भवि जन क्षेमंकर ।। ओम् ।। टेर ।।

क्षमा शान्ति और सरल स्वभावी, जग के हितकारी । स्वामी
दीन बन्धु विद्या निधि, जैन जगत ज्हारी ।। ओम् ।।१।।
मधुरभाषी मदनाशी, बाल ब्रह्मचारी । स्वामी
दर्शक मन को मोहे, शिक्षा सुखकारी ।। ओम् ।।२।।
ज्ञान ध्यान रत विद्याभ्यासी, सेवा व्रतधारी । स्वामी
विनय विवेक समन्वित, पर हित बलिहारी ।। ओम् ।।३।।
युग युग जीओ युगल जोड़, जय जय जयकारी । स्वामी
"जसवन्त" जग में ख्याति, फैले हरवारी ।। ओम् ।।४।।

दो श्रद्धा फूल

—भोपाल जैन "विरक्त"

वृद्ध विभूपित विशदगुणी, धनिधन्य 'व्रजस्वामी" ।
दीर्घ संजमी क्रान्ति-धर, भ्रान्ति हरण विसरामी ।।
गुण मण्डित-पण्डित-प्रवर, नीरज ज्यों निरलेप ।
मधुकर मुनि अवतार है, आप आनन वच सेफ ।।२।।

यह गुणों का अभिनन्दन है....

● साध्वी श्री चम्पाकुंवरजी

संत किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के एक सजग प्रहरी हैं। अपनी संयम साधना के अग्नि पथ पर आगे बढ़ते हुए वे लोक-हित के लिए भी अपने आपको अर्पित कर रहते हैं। अपने वैराग्य मूलक पुनीत-पवित्र विचारों से वे जनमानस को जगाते और 'वहुजन हिताय-वहुजन सुखाय' अपनी वैचारिक थाती को अभेद-अखेद भाव से लुटाते चलते हैं। स्थविरवर स्वामीजी श्री व्रजलालजी महाराज एक निर्मल सेवा निष्ठ एवं मधुर भापी संत हैं। सरलता उनके जीवन में महक रही है। वे प्रतिपल अपने मन वचन से **जगहिताय, जग सुखाय'** चिन्तन करते हैं।

पूज्य गुरुदेव पं०रत्न मुनिश्री श्रीमिश्रीलमलजी महाराज साहव 'मधुकर' राजस्थान में स्थानकवासी जैन-समाज के एक प्रवल समाज सुधारक, निर्भीक प्रचारक प्रतिष्ठित, यशस्वी तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी संत हैं। आप वालकवय में संजम लेकर ज्ञानार्जन करने में प्रयत्नशोल रहे, जिससे राजस्थान की मरुधरा में उन्होंने अपने आचार-विचारमूलक ज्ञान की मंदाकिनी प्रवाहित की है ! समाज का वैचारिक एवं चारित्रिक धरातल उँचा उठे, समाज विकास एवं प्रगति की मंजिल पर सतत आगे वढ़े —यह उनके मन की भावना रही है। इसके लिए वे सर्वतोभावेन गतिशील तथा प्रयत्नशील रहे हैं।

भारत में संयम त्याग, तप सदाचार मूलक जीवन के उच्च आदर्शों का सदा ही स्वागत सत्कार होता आया है। यह व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति के जीवन की मौलिक विशिष्टताओं तथा तत्प्रेरक सामाजिक उपलब्धियों का सम्मान है। व्यक्ति तो एक माध्यम है। गुण पूजा का एक महत्वपूर्ण एवं जीवित जागृत ढंग है यह एक। श्री गुरुदेव को धर्म प्रचार करते आज पचास वप होने जा रहे हैं और आपकी आयु भी साठ वर्ष के आगे पहुँच रही है। इस अवसर पर श्रावक संघ स्वर्ण जयन्ती का आयोजन करने जा रहे हैं। मैं किन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ, श्रद्धांजलि भेंट करूँ आप चिरंजीवी हों, आयुष्मान् हों जिससे समाज को सद्ज्ञान व सद् प्रेरणा मिलती रहे।

● **कनकमल मुनोत** एम० ए० (पूना)

दीर्घकालीन दीक्षा पर्याय पालन करनेवाले त्यागी, संयमी, विरक्त मुनिवरों के जीवन से हम स्वीकार्य एवं संग्राह्य आदर्श जीवन-प्रसंग प्राप्त कर सकते हैं। उनका अध्ययन, मनन, चिन्तन हमारे लिए विपुल विचार-परिप्लुत साहित्य का साथ देगा। मुनिद्वय के लिए स्वास्थ्य-परिपूर्ण सुदीर्घ आयु की कामना रखते हुए यही आशा करता हूँ कि उनके त्यागमय वैचारिक जीवन का त्यागमय सरस सौरभ विशाल भारत में फैलता रहे....!

● फतहसिंह जैन

सम्पादक : तरुण जैन, जोधपुर

जहाँ तक मैं वयोवृद्ध स्वामी श्री वृजलाल जी महाराज साहव और मधुरवक्ता श्री मुनिश्री मिश्री मल जी महाराज साहव "मधुकर" के सम्पर्क में आया हूं—दोनों मुनिश्री जैन धर्म की विभूति और जीती जागती ज्योति हैं। मुनिद्वय को मेरा वार-वार अभिनन्दन है।

सरलता की दो मूर्तियां

● मदन मुनि 'पथिक'

भारतीय संस्कृति में संत जीवन को एक महान् आदर्श रूप माना जाता है। संयम और संस्कृति की धारा में प्रवहमान संत जीवन व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिये वरदान स्वरूप सिद्ध होता है।

हमारे परम श्रद्धेय पं० रत्न गुरुदेव श्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' सद्‌गुणों की साकार मूर्ति है, आपकी वाणी में का माधुर्य सरल मानस, चारित्र की उच्चता, विचारों का सुलझाव, आदि ऐसे अनेक उच्चतम गुण हैं जिन के कारण आपके जीवन का प्रत्येक व्यक्ति पर अमिट प्रभाव पड़ता है।

आप एक विचारक एवं क्रियानिष्ठ संत है, इसीलिए पुरातन और नूतन विचारों का सुमेल पाया जाता है आप में।

वैसे तो आपके जीवन में अनेकानेक गुण संग्रहित हैं, किन्तु प्रमुख विशेपता यह देखने को मिली कि आप उच्च कोटि के विद्वान् होने पर भी निरभिमानी हैं, हर समय प्रसन्नचित्त प्रतीत होते हैं। अधिक क्या, आप यथा नाम तथा गुण के धारक हैं।

अन्त में हृदय की गहराई से आपका अभिनन्दन करते हुए चरणाम्वुजों में श्रद्धान्जली समर्पित करता हूँ।

● अशोकमुनि 'साहित्यरत्न'

स्वामीजी श्रीव्रजलालजी महाराज की सौजन्यता से मैं कई वार अभिभूत हुआ हूँ। वे अल्पभाषी एवं प्रसंगभाषी हैं। ज्ञानाराधना एवं सेवाराधना में ही उन्होंने अपनी साधना का क्षेत्र चुना हैं, जव-जव भी दर्शन का सौभाग्य मिला है मुझ पर आपकी अमियदृष्टि वरसती ही रही हैं।

श्री मधुकरजी महाराज केवल नाम से ही नहीं, स्वभाव से भी मधुर हैं। उन्होंने अपने आसपास के वातावरण को सदा मधुरता से आप्लावित किया हैं. झंझटों से नहीं घवड़ाते हुए भी क्लेश से दूर रहे हैं। संघर्षों से पीठ नहीं फेरते हुए भी स्नेह से उस पर विजय पायी हैं। आपने अपने पथ में आनेवाले कांटों एवं कंकरो को भी अपने मधुर स्वभाव से उनमें सौरभ छोड़ी हैं। इतने विद्वान, फिर भी निर्भिमानी, कि वालक के साथ रहे तो उसे महसूस नहीं होने दे। **वड़प्पन थोपने की व प्रदर्शन की चीज नहीं हैं'** उनका यह विचारसूत्र हैं।

व्यावर सम्प्रदायों का केन्द्रस्थल है। वहाँ प्राय: राजस्थान के स्थानकवासी सभी क्षेत्रों के श्रावक हैं, तथा पूज्य श्रीहुक्मीचंदजी महाराज के सम्प्रदाय के श्रावकों का भी समुदाय हैं। जहाँ सम्प्रदाय हैं वहाँ कभी कभी साम्प्रदायिकता भी उभरती हैं, और उसके भी दर्शन होते हैं। किन्तु मुझे जहाँ तक स्मृति हैं साम्प्रदायिक संघर्षों के समय भी मधुकर जी महाराज कभी इस संघर्ष में नहीं आये। वे ऐसे प्रसंगों पर भी सव के लिए मधुर वने रहें।

उनकी निस्पृहता अपने आपमें एक उदाहरण हैं। आचार्य जैसे महत्वपूर्णपद को पाकर भी, सम्प्रदाय विशेष के विशिष्ट नेता वनाये जाने पर भी आपके सामने जव शांति एवं विग्रह में से एक मार्ग को चुनने का प्रसंग आया तो आपने शांति को, समाधि को अधिक महत्व दिया, एवं ऐसे प्रसंग पर भी निस्पृहता के साथ उसे त्यागकर आपने कवीर की इन पंक्तियों को चरितार्थ कर दिया :—

> **"दासकवीर जतन कर जोड़ी,**
> **ज्यों की त्यों धर दीनीरे चदरियां॥**

●●
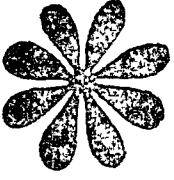
सुयश-चन्द्रिका चमके !

● श्री जिनेन्द्र मुनि, शास्त्री, काव्यतीर्थ

सुयश चन्द्र की चारु चन्द्रिका,,
चमक रही है सब जग में।
पवन वेग से प्रति पल बढ़ते,
अत्म-साधना के मग में ।।

कवि कहते शशि अमृतवर्षी,
किन्तु निशा में बरसाता।
अमृत झरता मुनि चन्द्रानन,
निश-दिन भवि मन हरषाता ।।

जलधर जल बरसाकर जैसे,
अवनि अम्बर धोता है।
वैसे मुनि वाणी वर्षण पा,
पाप-पंक भवि खोता है ।।

मानो स्वयं सरस्वती ने,
वदन-सदन में वास किया।
ज्ञान प्रकाश सुजीवन में,
अज्ञान तिमिर का नाश किया ।।

मन में तन में और वचन में,
नव जीवन पीयूष भरा।
मधुकर नाम मुनि का पावन,
शान्ति सुधा का स्रोत झरा ।।

युग-युग जीवित सुयश आपका,
अमर ग्रन्थ अभिनन्दन हो।
जग-ज्वाला में जलते मानव,
को यह शीतल चन्दन हो ।।

युगल मुनि व्रज और मधुकर,
मधु मुक्ति का वह पाये।
'जिनेन्द्र' उनकी चरण शरण की,
सदा सुखद छाया पाये ।।

● ●

बने सहस्रायु !

● श्री रमेश मुनि शास्त्री

श्रद्धासद्म के दिव्य दीप है।
प्रतिभा के प्रखर प्रभाकर।
कल्याण केन्द्र कारुण्यकांक्षी,
गुणान्वित मधुकर मुनिवर ।।१।।

स्नेहास्पद सदय हृदय है
तपस्तेज से मुख-भास्वर है।
ज्ञान क्रिया का वर्य समन्वय
धर्म गगन सुधाकर है ।।२।।

मन सुमन-सा है मृदुतर,
निर्मद निर्मल निश्छल है।
संयम की उज्ज्वल ज्योति से,
ज्योतिर्मय जीवन प्रतिपल है ।।३।।

अचलता है हिमालय-सी,
करुणा का निर्मल निर्झर है।
चित्ताकर्षक वचन चयन है,
कविकोविद वृन्द प्रवर है ।।४।।

शतायु क्या, मुनिवर्य तुम,
हो सहस्रायु यह है अभिलाषा।
कोटि कोटि अभिनन्दन तेरा,
बने आकाश दीप यही आशा ।।५।।

अर्चना के पुष्प

● श्री हीरामुनिजी "हिमकर"

हमारे ये स्वामी व्रजमुनि गुणों के निकट हैं।
तिरे नै तारे जीवन निरमलो जो करत है ।।
सदा सेवो भावे चरण सुखकारी नित रहे।
भजो रे थे भोला, व्रज गुण हमेशा सुखद हैं ।।१।।

कलाकारी भारी लिखत लिपि नामी सरस जो।
सुकण्ठी वैरागी वरज अनगारी मन भजो ।।
न नावे धोवे उज्ज्वल दिल रखे प्रेम सब से।
सदोरे से शोभे मुखपति मुखे भाव चमके ।।२।।

करे बातें चोखी मधुकर सखा से रस भरी,
सुनावे शास्त्रों की सुखद रसवाली जन कथा।
कथा के ये प्रेमी रसिक जन आते समूह से,
भजे माला स्वामी अब लगन से भाव चढ़ते ।।३।।

व्रज महामुनि को नित वन्दना,
भजन में रत है नित भावना।
जगत में जननी इसडा जने,
पतित पावन पूत सपूत हैं ।।४।।

मरुधरा निज को धन मानती,
तप करे सखरा सब जानते।
मिलनसार विचार रखे सदा,
सरलता मन में रखते मुदा ।।५।

हमारे ये मिश्री मधुकर बड़े ही प्रिय बने,
हमेशा मैं बन्दू चरण मुनि तेरा यश वड़े।
सभा शोभा शाली तव नित बनी है अजब की,
सभी आते देखो निरखत छवी आज गुरु की ।।६।।

मधुकरो मुनिराज कमाल है,
रवि-प्रभा सम दीपत भाल है।
फल रसाल ज ज्ञान ज दान दे,
मधुकरो मुनि आतम ज्ञान दे ।।।७।

जगत में मुनि तो गुण को गहे,
कुसुम की खुसबू भंवराल है।
शुकर की लत को तजदे गुणी,
मधुकरो नित ही रस चाखता ।।८।।

व्रज मधू मुनि के गुण गावजो,
मुगत में सब साथज चालजो।
'हिमकरो' मुनि इसडी कहे,
सुगुण के हम गाहक ही रहे ।।९।।

●

व्रज-मधुकर-माधुरी

—साध्वी श्री चन्द्रावती जैन सिद्धान्ताचार्य

[हरि गीतिका]

सुनते सदा सुर काननों में, कल्प द्रुम होते कहीं,
किंतु सच्चे संत में, प्रत्यक्ष दर्शन है यहीं।
चिन्तामणि चिन्ताहरण, इस विश्व में प्रसिद्ध है,
सुनते उसे देखीं नहीं, पर सन्त में यह सिद्ध है ॥

इस विश्व सरवर में मनोहर, संत खिलते कमल हैं,
सौरभ लुटाते शील सुस्वर, पवन विस्तृत विमल है।
मधु-लोलुपी अलि भक्त जन, आ चरण उनके चूमते,
ढूंढते उनको सदा पर, संत रहते घूमते ॥

संत के मृदु वचन में, स्वयं अहिंसा वोलती.
खाते तथा सोते सदा, उठ वैठते उठ वैठती।
प्रति-पल तथा प्रतिकार्य में, रहती अहिंसा साथ है,
इस लिये तो विश्व के, सम्राट् मुनि जन नाथ है ॥

आ रे अरे गुण गीत गा मन, आज प्यारे सन्तका,
उन को विठाले हृदय में, हो समय भव दुःख अन्तका।
रसना निरर्थक ही मिली, गुरु गीत यदि गाये नहीं,
सुधा सिन्धु प्राप्त कर भी, प्यास बुझ पाये नहीं ॥

नाम मधुकर, काम मधुकर, धाम मधुकर है अहा,
गुण गीत मधु सत्संग पा, मन तृप्त मधुकर है अहा।
हे मुनि, तेरे सुपथ पर, भव्य जन वढ़ते रहे,
सोपान पाकर स्वर्ग के विमान में चढते रहे ॥

व्रज मुनि व्रज-माधुरी में, मधुरता का कोष है,
मधुकर मधु मन प्राप्त करके, खो रहे भव दोष है।
चिन्तनों की चाँदनी में, चमकता मुनिवृन्द है,
जिसने भी परखा सत्य साधु, दर्श आनंद कन्द है ॥

सद्ग्रन्थ अभिनन्दन यही, कीर्ति कथा है कह रहा,
युग-युग सदा सिद्धान्त के, नवनीत का मन्थन रहा।
है सार उसका एक ही हमको वही पद प्राप्त हो,
'चन्द्र' है वह अमर जो, समझा गये पद आप्त हो ॥

अभिनंदन

● श्री सुकनमुनि

विमल गुनि ब्रजलाल मुनि, मधुकर मिश्री राज
परम प्रभावित आप से, सारो जैनसमाज ॥१॥

युग मुनि के युग कर कमल, ये अभिनंदन आज
करता हूँ ; स्वीकारिये, अहो गुणों की ज्हाज ॥२॥

सौभाग्यशाली कित्तीं विशाली, प्रतिभा रसाली मृदु हंस चाली
जय बाग माली सदा खुशाली, होवे चिरायु मनु मोदकारी ॥३॥

पावत ज्ञान सुधारस व नित दान-दया युत भाव दढाई,
भावुक वृंद परीपद पकंज, जीवन धन्य गिने हुलसाई।
कोमलता कमनीय बिराजित, वैननते चखते मधुराई,
धन्य मुनि ब्रजलाल मधूकर होवत मोद लखी सुघडाई ॥४॥

जोरावर जय गच्छ, भयो जोरावर मुनिवर,
जोरावर दौ शिष्य, नियम पालन जोरावर।
जोरावर कृतिकार हस्त - लिपी है जोरावर
जोरावर व्याख्यान, जगत शोभा जोरावर
जोरावर सहित्य में गति जोरावर जान शुभ,
जोरावर गौरव धनी, शांत दांत कांति सुलभ ।५॥

स्वर्णजंयत्ति संघ सब, समारोह के साथ।
मना रहे व्यावर शहर, आयो अवसर हाथ ॥६॥

तिवरी मरुधर के तिलक ब्रज-मिश्री जग दीप।
"सुकन" कहे आनंद वरो सुविधा रहे समीप ॥७।

व्योम राम नभ कर बरस-माधव दशम उजास।
ब्रज-मिश्री सौरभ सुयश ले रहे भव्य विलास ॥८॥

★★
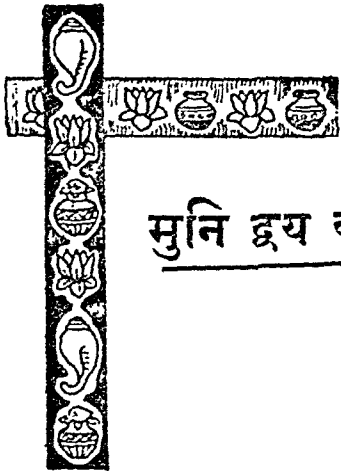
मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे !

—कमला जैन 'जीजी' एम. ए.

मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे !

एक नगर औ एक मुहल्ले में जन्मे हैं दोनों,
समझ प्राप्त कर एक गुरु के शिष्य बने थे दोनों।
एक धर्म औ सम्प्रदाय ही दोनों ने अपनाये,
एक मार्ग पर ही दोनों ने अपने कदम बढ़ाये।

कष्टों औ उपसर्गों की नाना-स्थितियों से गुजरे।
मनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे ।।

मुनि व्रज जैसे शांत स्वभावी संत कहां मिलते हैं ?
भला कभी सर्वत्र कमल के पुष्प खिला करते हैं ?
सागरवत् गंभीर किन्तु नवनीत सदृश कोमल उर।
रखने वाले विरले ही युग-पुरुष मिला करते हैं !

सभी सुगुण एकत्रित होकर उनमें ही आ ठहरे,
मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे ।।

मुनि मधुकर भी केवल दस की अल्प वयस् को लेकर,
संयम के दुःसाध्य पंथ पर चले पूर्ण दृढ़ होकर।
अगम ज्ञान गंगा वारिधि में गोते सदा लगाये,
और चुनिन्दा रत्न अमोलक लेकर बाहर आये।

कौन जान पाया वे कैसे हैं और कितने गहरे ?
मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे।

गुरु भाई हैं भले, राम लक्ष्मण जैसे हैं दोनों,
एक साथ संदेश वीर का फैलाते हैं दोनों।
अनुपम स्नेह - सूत्र में मानों दोनों गये पिरोये,
बढ़ते रहे विकट पथ पर भी साहस-दीप संजोये।

इसीलिए दोनों के सिर पर बंधे सुयश के सेहरे,
मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे ॥

कोटि-कोटि अभिनन्दन मुनि द्वय के चरणों में मेरा,
रवि-शशि सम चमकें शासन में कल्मष काट घनेरा।
आज हमारे अन्तरतम की मात्र यही अभिलाषा,
पड़ें जहां पर युगल-चरण हो जाये वहीं सवेरा।

श्रमणसंघ में सदा आपकी कीर्ति-पताका फहरे।
मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे ॥

स्वर्ण-अक्षरों से अंकित हो इनकी दिव्य कहानी।
पढ़ी सुनी जाये जन-जन के मुख से सदा जवानी।
अमर नाम हो जाए जगतीतल पर इन संतों का,
कण-कण, अणु-अणु में प्रसरित हो इसकी गंध सुहानी।

आकर्षित हो इन्द्र स्वर्ग का पृथ्वी पर आ उतरे।
मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे ॥

यशोगान कर सकूं भला वह शक्ति कहाँ मुझ में हैं ?
ग्रहण कर सकूं कुछ इतनी भी भक्ति कहां मुझमें है।
मस्तक नत करलूँ केवल इतने से तुष्ट बहुत हूँ,
क्योंकि अकिंचनता की बहुतायत ही केवल मुझ में है।

कृपादृष्टि हो गुरुवर्य की किंचित् जीवन सुधरे।
मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे ॥

वन्दना....

श्री पुष्कर मुनिजी म० के सुशिष्य
—रमेश मुनि शास्त्री

आचार्यवर्यो जयमल्लपूज्यो,
मरौ पृथिव्यां प्रथितो बभूव।
व्रजे तदीये व्रजलालसंज्ञो,
नित्यं मुनीन्द्रः प्रगुणैर्विभाति ॥१॥

असारं वेदितुं सारं विवेकी हंससन्निभः।
विजेता सर्वकर्मारीन् संयमी मारमारकः ॥२॥

निपीय मधुरं मर्त्याः मुनीनां वचनामृतम्।
हर्षाब्धावबगाहन्ते भवरोगनिवारकम् ॥३॥

शिरीषपुष्पसंकाशं मृदुलं स्वामिनो मनः।
शीतांशुसदृशं शीतं प्रशान्तं सिन्धु सन्निभम् ॥४॥

विजेतुं मानमातङ्गं मृगेन्द्रो वै महामुनिः।
रवीव राजते ऽजस्रं संयमिव्योममण्डले ॥५॥

तपस्तेजः प्रदीप्तोऽयं प्राज्ञमण्डल-मण्डितः।
तडित्वानिव मेदिन्यां सेचितुं वीरशासनम् ॥६॥

श्रद्धास्पदंस्सदा सौम्यैः जैनसाहित्यसागरम्।
निमथ्य वाक्यरत्नानि दत्तानि जनसंहतिः ॥७॥

विद्यते वियतः क्षीणः, लाञ्छनी मृगलाञ्छनः।
किन्त्वसौ श्रमणाधीशो भासमानोऽनिशं गुणैः ॥८॥

पुष्करगुरुराजानामन्तेवासी विदामियम्।
रमेशाख्यसता भक्त्या कृता कृतिर्लघीयसी ॥९॥

अभिनन्दन के दो शब्द
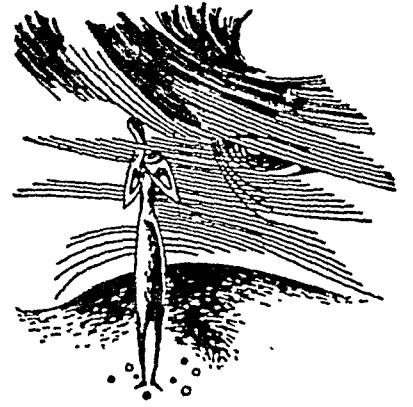
स्वामी श्री ब्रजलाल जी और पंडितरत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी 'मधुकर की दीक्षा स्वर्णजयन्ती के अवसर पर मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है! खुशी है कि यह कार्य व्यावर में सम्पन्न हो रहा है, जो धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना का एक प्रमुख केन्द्र है।

मरुधर में ऐतिहासिक नागौर जिले का ग्राम कुचेरा जो प्राय: सभी सुविधाओं से सम्पन्न है— स्वामी श्री हजारीमलजी म० सा० का प्रमुख क्षेत्र रहा है। उनके सुदीर्घ दीक्षा के करीव १४ चातुर्मास इसी कुचेरा में हुए। एतदर्थ अगर ब्रज मुनि व मधुकर मुनि की साहित्य साधना का क्षेत्र भी कुचेरा ही माना जाय तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। इतने वर्षावास एवं लम्वी अवधि तक यहाँ विराजना कुचेरा संघ के सौभाग्य का ही सूचक है। धार्मिक प्रवृत्तियाँ आज भी जो हमारे क्षेत्र में निरन्तर गतिशील है, आपकी ही, सद्प्रेरणा का सुफल है।

ब्रज-मधुकर है और मधुकर ब्रज। अर्थात् ब्रज, मधुकर का पर्याय सा बनकर रह गया है।

श्रमण श्रेष्ठ—श्वे० स्थानकवासी समाज में अनेक श्रमणों ने अपने पथ प्रदर्शन से समाज का हित किया! श्रमण जीवन का मर्यादित पहलू वर्तमान में अगर आप देखना चाहें तो श्री ब्रज-मधुकर के समीप चले जाइये। पूर्व श्रेष्ठ-श्रमण परम्परा जो चली आ रही है—निसन्देह ये द्वय मुनि उसी श्रृंखला की एक कड़ी हैं।

प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं दृढ़संकल्पी—आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली है जिसने भी आपके दर्शन किये, उसके अन्तर्मन में आपके प्रति असीम श्रद्धा हो गई! आपने जो भी सोचा है किया है! और जो किया है, उसका अनुगमन किया जाता रहेगा।

उद्भट विद्वान एवं मधुर-स्पष्ट वक्ता—स्वामीजी श्रीब्रजलालजी म० सा० की हस्तलिपि कला को देखकर प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्य चकित होता है। कई भजनों एवं गीतों की रचना आपके द्वारा हुई जो वहुत लोक-प्रिय है। ज्योतिप शास्त्र के तो आप पण्डित हैं। शास्त्रों का अथाह ज्ञान एवं उनकी टीका आपके प्रत्येक व्याख्यान में मिलेगी।

मधुकर जी तो जैन मुनियों में गिने चुने सर्वश्रेष्ठ लेखकों व कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। गुरुवरश्री जोरावरमलजी म० के देहावसान के पश्चात् स्वामी श्री हजारीमलजी की छत्र छाया में आपका साहित्यानुराग वढ़ता रहा। गुरु ऋण एवं अपने अकथ परिश्रम से आपने "न्यायतीर्थ एवं काव्यतीर्थ आदि की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। कई ग्रन्थों का सम्पादन! हिन्दी खड़ी बोली में आपकी कई मौलिक रचनाएँ हमारे सम्मुख आई! प्रमुख पत्र पत्रिकाओं में निरन्तर आपका लेखन, आपकी विद्वता का स्पष्ट संकेत है। वक्तृत्वकला इतनी सुन्दर कि विद्वान से विद्वान एवं साधारण से साधारण व्यक्ति भी उससे प्रभावित!

यश की अनिच्छा – आपके मन में यश के प्रति जरा भी लगाव नही । प्रत्येक कार्य लोकोपकार की भावना से ही करते हैं । उपरी दिखावा आप द्वय को पसन्द नहीं । आपके सामने कई ऐसे प्रसंग आये जिनसे आपकी कीर्ति में चारचांद लग सकते थे—परन्तु आपने हमेशा ही कहा है कि—साधक के लिये क्या यश और अपयश ! उसे तो साधना के पथ पर बढ़कर अपना व औरों का कल्याण करना है ।

समय के पावन्द—आपके प्रत्येक कार्य सुनिश्चित समय पर होते हैं । अधिकतर आपका समय ज्ञानाभ्यास में ही लगता है । समय का सदुपयोग करते हैं—मौलिक चिन्तन में ।

सम्प्रदायवाद से कोसों दूर एवं एकता के सजग प्रहरी—श्रमण संघ-एकता का जव आह्वान किया गया—आपका उसमें विशेप योगदान रहा । आपने अपनी सम्प्रदाय परम्परा को श्रमण संघ में मिलाकर एकता का ज्वलन्त समर्थन किया । जैन तो क्या आपके भक्तों में वैष्णव, मुस्लिम, ईसाई तथा अन्य सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति हैं । आपके प्रवचनों में तो इनकी वाहुल्यता ही रहती है ? आप साम्प्रदायिक व्यामोह से दूर मानव जाति में एकता व प्रेम के हामी हैं ।

असीम श्रद्धा के पात्र—चिन्तन एवं मनन की दो विभूतियाँ, वाणी में मधुरत्व, साधना के दिव्य पुन्ज, मौलिक एवं स्पष्ट वक्तृत्व शक्ति, आगमों के ज्ञाता, सरल मानस एवं विनम्रता की प्रतिमूर्तियां, बालक, युवक एवं वृद्धों के पथ प्रदर्शक, मर्यादापालक, क्रोध, छल प्रपंच से परे और श्रमण संस्कृति के अटूट एवं सजग प्रहरी हैं—स्वामी श्री व्रजलाल जी एवं मिश्रीमल जी 'मधुकर' ! छोटे-वड़े सभी के लिए असीम श्रद्धा के पात्र !

कुचेरा श्री संघ भी इस दीक्षा स्वर्ण जयन्ति पर आपका अभिनन्दन कर फूला नहीं समाता है। क्योंकि हमारा क्षेत्र आपका प्रमुख साधना स्थल रहा है । वस्तुतः हमने इन्हें कुछ दिया भी है और अधिक पाया भी ! युग-युग तक आप द्वय मानव मात्र का पथ प्रदर्शन करते रहें यही हमारी शुभ कामनाएँ हैं—

—विनीत

श्री श्वे० स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, कुचेरा (राजस्थान)

हमारे गांव का गौरव....

हमें यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि स्थानकवासी जैन समाज की महान विभूतियां परम श्रद्धेय पूज्य स्वामिजी श्री १००८ श्री व्रजलालजी महाराज साहव पंडितरत्न श्री मधुकरजी महाराज साहव के दीक्षा स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष में अभिनन्दन समारोह होने जा रहा है ।

हमारे गांव को इस वात का गर्व है कि जैन समाज की इन दोनों महान् विभूतियों की जन्म-भूमि हमारा अपना 'तिवरी' ग्राम है ।

यह स्वाभाविक है कि इन दोनों महान विभूतियों ने साधना के क्षेत्र में जो उत्तरोत्तर प्रगति की व समाज को जो साहित्य व उपदेश दिये इसके लिये भी हम अपने आपको गौरवान्वित समझते हैं ।

अतः तिवरी के जैन समाज व तिवरी के समस्त ग्रामवासियों की यह हार्दिक कामना है कि मुनिद्वय साधना के क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रगती के शिखर की तरफ वढ़ते रहे ।

मुनिद्वय के दीर्घायु व प्रगति की शुभ-कामना के साथ ।

—मोहन बोथरा

मंत्री—व० स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, **तिवरी**

● श्री रंगमुनि

स्वर्णजयन्ती युगलमुनि की मना रहे हैं आज।
जयजय व्रज, मिश्री महाराज।
जिन शासन ज्योतिर्धर पुंगव, भक्त हृदय सिरताज ।।टेर।।
व्रजमुनि सरल सौम्य निर्मानी, स्पष्टवक्ता, रग रमि जिनवाणी ।।
चित्त उदार हृदय कल्याणी, आत्मतुल्य समझे सब प्राणी ।।
सतत लीन, प्रभु के सुमिरन से मन में नहीं मिजाज ।।१।।
गुणग्राहक, निर्भय, निर्मायी, सेवा गुण रहा रग - रग छाई ।।
स्नेहभाव सौरभ फैलाई, दिग्दिगन्त जयध्वजा फहराई ।।
अन्तर्जीवन दिव्य भव्य लख प्रमुदित जैन समाज ।।२।।
मधुकर मुनि मिश्री प्रियकारी, साहित्य ज्ञान तलस्पर्शी भारी ।।
कष्टसहिष्णु मुनि श्रेयकारी, शान्त क्रान्ति के अमर पुजारी ।।
विविध भांति साहित्य सर्जन कर दियाज्ञान का साज ।।३।।
स्वर्णजयन्ती पर अभिनन्दन, युगलमुनि पद शत-शत वन्दन ।।
शान्त, दान्त, शीतल जिम चन्दन, सरस्वती के तुम हो नन्दन ।।
जोरावरमल शिष्य युगल पर हमको भारी नाज ।।४।।
दिनदिन बढ़ता प्रतिभा परिमल, क्षीण होत पलपल में कर्म दल ।।
संयम, त्याग, विराग ले संवल, ज्योतिर्मय, निशदिन हो निर्मल ।।
"रंगमुनि" की विमल भावना अन्तर्मन रहा गाज ।।५।।

●——●—— जय व्रज-मधुकर महाराज....! ——●

[श्री पन्नाकुंवरजी म० सा० की शिष्या— महासती राजकुमारी 'प्रभाकर']

मुनि नमभंडल में मुदित, शान्त दान्त शशिरूप।
जोड़ी व्रज-मिश्री जगत—अविचल रहो अनूप ।। १ ।।
लाखों में लाधै नहीं इला संत इस डाय।
मधुकर की मधुराइ पर लाखों रहै लुभाय। २ ।।
जननी जनक न जाणियो नहि जान्यौ जातीय।
इसो उजागर होवसी—मधुकर मुनि मिश्रीय ।। ३ ।।
जयकुल में जाणीजगो, सखरो एह सपूत।
ज्ञान ध्यान से तत्व को चिंतक है चिद्रूप ।। ४ ।।
तन छोटो, म्होटो कवी, म्होटो हृदय विचार।
म्होटा ओटा लेत है—छोटापन को छार ।। ५ ।।
वेड़ा नहीं गहरा घणा, सरस साधना मांय।
अरस - फरस मिलिया जिके - भूल सके है नाय ।। ६ ।।
श्रमणसंघ सायर सूघट, कमल महा कमनीय।
भव्य भ्रमर मंडरात है, रहो सदा रमणीय ।। ७ ।।

गुरुवर का अभिनन्दन....!

● प्रेमराज श्रीश्रीमाल, दुर्ग (म० प्र०)

उपप्रवर्तक पूज्य गुरुदेव स्वामी जी व्रजलालजी महाराज साहब व पंडितरत्न श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' की व मेरी जन्मभूमि 'तिंवरी' है। गृहस्थ अवस्था में उपप्रवर्तक जी महाराज मेरे पारिवारिक सदस्य थे तो श्री मधुकर मुनिजी मेरे पड़ौसी थे। मुझे इन दोनों मुनियों के दर्शन एवं सेवा-सुश्रूषा करने के अनेक-अनेक अवसर प्राप्त हुए हैं। ये संत केवल तपःसाधना के ही धनी नहीं वरन् उच्च ज्ञान के भी अक्षुण्ण भण्डार हैं। इन मुनिद्वय के अब तक चातुर्मासों में से ११ चातुर्मासों में सम्मिलित होकर मैंने इनके प्रभावशाली जीवनोद्धारक ज्ञानपूर्ण प्रवचनों के विविध रूप से आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त की है। इनके उपदेशों का अनुसरण कर मैंने अपने जीवन में एक अनुपम आत्मिक शांति प्राप्त की है। ऐसी विलक्षण प्रतिभा के धनी ये संत प्रवर पुनः पुनः वंदनीय हैं।

यदि इनमें से एक को जैन जगतरूपी गगन का सूर्य माना जाय और दूसरे को चांद की उपमा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मुनि श्री व्रजलाल जी जो अपने ज्ञानरूपी सूर्य की विमल रश्मियों से यत्र-तत्र-सर्वत्र एक नई आभा, नव चेतना, नव शक्ति व आध्यात्मिकता की नई प्रेरणा प्रदान करते हैं, तो वहीं दूसरी ओर मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' जैन समाज रूपी गगन धरातल पर चन्द्र की तरह चमकते हुए समग्र प्राणि मात्र को अपनी सुमधुर सारगर्भित वाणी रूपी शुभ स्वच्छ किरणों को प्रस्फुटित कर शीतल सात्विक आत्मशांति की अनुभूति का बोध कराते हैं। इस तरह मधुकर मुनि में यथानाम तथा गुण का साम्य रूप हमारे समक्ष आता है।

ऐसे सद्गुणी संत जनों को पाकर भला कौन-सा समाज अथवा सम्प्रदाय अपने भाग्य पर नहीं इठलायेगा। इनकी अनुपम श्रुत सेवाओं के प्रति जैन समाज सर्वदा चिर ऋणी रहेगा। मुनिद्वय की बहुमुखी प्रतिभा, चारित्रिक गरिमा एवं तप त्याग की हम जितनी महिमा करें उतनी थोड़ी है।

ऐसे ज्योतिर्मय तपोधनी मुनिराजों के बल पर हमारी भारतीय संस्कृति गौरवान्वित हो उठती है। इन संतों ने जन जीवन के विधि अंगों को परिमार्जन करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मुनिद्वय के श्रीचरणों में मेरे अनेकशः अभिवंदन-अभिनंदन !

❋❋

● साध्वी श्री सेवावन्ती जो

इस दुनियाँ दे विच असंख्य लोगी जमदे ने एवेंइ मर जान्दे ने जिणानू कोई नहीं जानन्दा। जिणाने जीन्दड़ीदा सच्चा लाभ लित्ता होये, उणानूँ मनुष्य तो की, पण देवता भी श्रद्धा दे नाल आपेई मत्था नमान्देने। कहनदा मतलब मानवदा महत्व उणादे गुणा नाल है।

साड़े गुरुदेवजी म० सा० स्वामी जी श्री श्री व्रजलालजी म० सा० पं० रत्न श्री मधुकर मुनिजी म० जिणादी मेहमादा की केणा, लखांई गुण जिणादे विच रहन्दे ने जिधर नूँ टुर पये, उधर दे लोगी खुशी नाल भर जान्दे ने। मैं की की दस्सा इण दे विच बहुतेरे गुण हैं। इणादी कीरपा नाल ही साड़ा बेड़ा बन्ने लगना है।

मेरा शत, सहस्र अभिनन्दन !

भक्ति के दो गीत

● मुनिश्री मगनलालजी 'रसिक'

१

स्वामीजी श्री व्रजलालजी :—

[तर्ज—वंगला ढाणां सूं उड़जाजेरे]

भायाँ गौरव गीत सुणावो रे,
स्वामी जी री स्वर्ण-जयन्ती आज मनावो रे···टेरे····
सम्वत उगणी सौ साल अठावन, माघ महिनो जाण।
सुद पाँचम रो मोटो दिन है, सुनलो चतुर सुजान भायाँ०१
स्वामी जी रो जनम वियो है, शुभ घड़ियाँ रे माय।
नाम दियो यो व्रजलाल जी, सब जन ने सुखदाय····भायाँ०२
मध्यभारत रे माय ने रे, गड़ाई पंडरिया गाँव।
जन्म स्थान है स्वामी जी रो, पूरण मन रा भाव···भायाँ०३
मात पिता परिवार माय ने, हरख उछाव भरायो।
जन्म भूमि तो राजस्थान में, तिवरी नगर कहायो····भायाँ०४
स्वामी जी जोरावरमल जी, जप, तप, संजम शूर।
मुनियाँ रा सिर सेहरा रे, वरषे मुख पर नूर····भायाँ०५
उगणीसौ इकोत्तर माहीं, वैशाख महिनो खास।
सुद वारस दिन संजम लीनो, मन में धर हुल्लास····भायाँ०६
स्वामी जी रा शिष्य कहाया, सतगुरु साँचा पाया।
मोह, माया ने छोड़ी पल में, हिरदे ज्ञान लगाया····भायाँ०७
स्वामी जी श्री वृजलाल जी, नाम आपरो सोहे।
सरल आतमा समदृष्टि सूं, सब ही रा मन मोहे····भायाँ०८
जिनमत रा अनुगामी पूरा, वोले अमरत वेण।
दरशन करता आपरा रे, तरपत होवे नेण···भायाँ०९
ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय सुं रे, आतम कारज सारे।
अरिहन्त प्रभु रा स्मरण करता, भव जीवाँ ने तारे····भायाँ०१०
लिखवा री है कला निराली, देखत ही वण आवै।
मोती रा दाणा ज्यूं अक्षर, सुन्दरता मन भावे····भायाँ०११
ज्योतिष रो भी ज्ञान आपने, सुणज्यो सब नरनार।
गुण घणा गाया नहीं जावे, केऊँ वारम्वार····भायाँ०११
वीर प्रभु से करूँ कामना, नित ही मंगलकारी।
स्वामी जी दीर्घायु होवे, 'रसिक' सदा बलिहारी····भायाँ०१३

२

मुनिश्री मिश्रीमलजी 'मधुकर' :—

[तर्ज—ओम्हारा नणदल वाई रा वीर]

ओ म्हारा मधुकर जी महाराज ! संयम शील सुधारो काज ।
जयन्ती गीत सुनाऊँ जी, चरण कमल में हाथ जोड़ ने शीश झुकाऊँ जी॥ टेर ।।

समत उगणीसौ सीत्तर में, यो मगशर महिनो आयो जी ।
सुद चवदश रो धन्य दिवस है, शुभ सन्देशो लायो जी ।।
नगर तिवरी सुहाणो है। जनम रो खास ठिकाणो है ।।
देखताँ मन हरषाऊँ जी····चरण०१

घणा लाड़ला पुत्र जनमिया, गाया मंगलाचार जी ।
मात, पिता मिल खुशी मनाई, साथे सब परिवार जी ॥
सूरत पर वारी जावे हैं । पूनम रो चान्द बतावे है ।।
निरखताँ मोद मनाऊँजी····चरण०२

स्वजन, परिजन रे हाथां में, झूल्या दिन ने रात जी ।
कुल दीपक, कुल चान्दणो यूं, माने सगला बात जी ॥
विद्या शाला में भणिया । वालक होनहार वणिया ॥
महकतो जीवन पाऊँजी:·· चरण०३

ज्ञान-ध्यान रा दरिया स्वामी, जोरावरमल जी नाम जी ।
मरुधर मांही महिमा जवरी, अटल सुखाँ रा धाम जी ।
सेवा में आया लेई उमंग । सुण्यो उपदेश चढ़्यो है रंग ।
जनम ने सफल वनाऊँजी····चरण०४

घट-घट में वैराग छागयो, पुण्यवानी भल जागी जी ।
आतम ने उज्जवल करवारी, लगन अनोखी लागी जी ॥
जाण्यो यो संसार असार । लेणो लेणो संजम भार ॥
मुगत सुँ प्रीत लगाऊँजी ·· चरण०५

विक्रम सम्वत उगणी सौ, अस्सी रो लागै प्यारो जी ।
वैशाख सुदी दशमी रो दिन यो, सव सुँ मोहन गारो जी ॥
नगर भणाय सजायो है । संजम रो पाठ पढ़ायो है ॥
धरम रा साज सजाऊँजी····चरण०६

विनय भावना धार गुरु री, सेवा खूब ही कीनी जी।
ज्ञान खजानो पूरण भरियो, कीर्ति है रंग भीनी जी॥
भाषा संस्कृत - प्राकृत जान। दर्शन, व्याकरण रो है ज्ञान॥
न्याय में निपुण सुनाऊँ जी चरण०७

भण - भण ने महापंडित बणिया सागर सम गम्भीर जी।
शान्त दांत ने गुणगण-दरिया अद्‌भुत अनुभव धीर जी॥
रचना घणी बणाई है। तत्व-रस सुँ सजाई है॥
साहित्य पढ़ लो सुझाऊँ जी····चरण०८

मधुकर जी री वाणी में है, भरी मधुरता भारी जी।
सुणताँ सुणताँ आनन्द आवे, खिलजा कलियां सारी जी॥
मीठा मिसरी है अनमोल। लीना हिये तराजू तोल॥
बात यह साँच सुणाऊँ जी···चरण०९

तरे-तरे रा फूलाँ ऊपर, मधुकर जावे दौड़ जी।
अणी तरे सुँ मधुकर जी पे, जनता आवे दौड़ जी॥
प्रेम रा झरणा झरता रे। जीवन सब हरिया करता रे॥
ज्ञान रा पुष्प खिलाऊँ जी ·· चरण०१०

जय-गच्छ रा आचारज बणिया, कतरो मोटो भाग जी।
संगठन रे हित महा महिम ने, कर दीनो है त्याग जी॥
हमेशा मुखड़ा पे मुस्कान। झलकतो नहीं देख्यो अभिमान॥
सरलता घणी बताऊँ जी ·· चरण०११

आशा राखे समाज आप सुँ, श्रमण संघ में शान जी।
विरल विभूति जैन जगत में, गुण रा आप निधान जी॥
जुग जुग जीवो आप महान - सौ सौ वन्दन लेवो मान॥
हिया में लगन लगाऊँ जी चरण०१२

शुभ दीक्षा री स्वर्ण-जयन्ती सब ही आज मनावे जी।
कर-कमलाँ में यो अभिनन्दन, ग्रन्थ भेंट में लावे जी॥
महिनो वैशाख रो कहलाय। ब्यावर नगर अति मन भाय॥
'रसिक' जय नाद गुँजाऊँ जी · चरण०१३

●●

सौम्य और मधुर.... !

मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मुमुक्षु'

स्वामीजी श्री व्रजलालजी म० सा० साधना के पथ पर निर्मल चारित्र का पालन करते हुए ५९ वर्ष तो पूर्ण कर चुके हैं। संयममार्ग में आप ढिलाई पसंद नहीं करते हैं और नहीं करवाते हैं। इस कारण से आपको कतिपय व्यक्ति कठोर कहते हैं किन्तु आप कठोर नही। मक्खन के समान कोमल हैं।

पं० रत्न **श्रीमधुकर जी म० सा०** तो सचमुच मधुर ही है।

मिश्री दिखने में निर्मल और स्वाद में मधुर होती है। इस प्रकार आप भी दिखने में सौम्य और बोलने में मधुर हैं।

आप बोलते हैं तो मुस्कराते हुए ही बोलते हैं। सामने आनेवाला व्यक्ति भले ही क्रूर रहा हो, किन्तु आपके प्रवचन सुनते ही वह क्रूरता छोड़ कर कोमल बन जाता है।

आपमें सहजसौम्यता निष्कपटता, धैर्यता, सरलता आदि गुण प्रारम्भ से विद्यमान हैं।

मैं पूज्य मुनिराजों के श्री चरणों में श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित करता हूं।

●

यथानाम तथागुण.... !

श्री पुनीत मुनि 'पंकज'

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति रही हुई है। हमारा देश ऋषिप्रधान रहा हुआ है। इसी संस्कृति के गौरव रूप श्री व्रजलालजी महाराज हैं। आपका त्याग वैराग्य उच्चतम हैं।

जैसा आपका नाम है, वैसे ही आप में गुण हैं। आप श्री के प्रथम दर्शन सांडेराव में हुए थे। मैंने पाया है कि "यथा नाम तथा गुण" की युक्ति आप में पाई जाती है। जैसे भवँरा फूलों से सुगंध लेता है; वैसे ही आप भी अपने जीवन में सद्गुणों की सुगन्ध ग्रहण करते हैं।

कबीर दास जी ने साधु का स्वभाव बताते हुए कहा है—

साधु ऐसा चाहिए, जैसे सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहे, थोथो देय उड़ाय॥

ऐसे ही सूप स्वभावी श्री व्रजलालजी महाराज हैं। जिस प्रकार सूप सार वस्तु को ग्रहण कर लेता है और असार वस्तु को त्याग देता है, उसी प्रकार श्री व्रजलाल जी महाराज भी अवगुणों को त्यागकर जीवन में सद्गुणों को धारण करते हैं। आपका हृदय स्नेह व सद्भावना से ओत-प्रोत है। क्या बालक, क्या युवक, क्या वृद्ध सभी के साथ आपकी मिलनसार प्रकृति झलकती है।

श्री मधुकर जी महाराज जैन शास्त्रों के उच्च-तम विद्वान पण्डित हैं। जैसा आपका नाम है, वैसा ही आपका स्वभाव है। आपकी वाणी में माधुर्य गुण है। इसी कारण आपका उपनाम 'मधुकर' जी रखा है। जैसे मिश्री उष्णता को शान्त करने में काम आती है, वैसे ही आप भी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी उष्णता को ज्ञान रूपी मिश्री से शान्त करते हैं। आपकी कई कृतियां समाज के सामने आई हैं। उन कृतियों का सर्वत्र स्वागत हुआ है? आप अपने जीवन में संगठन चाहते हैं। आप समाज में क्रान्ति चाहते हैं। आपकी वाणी में माधुर्य, गम्भीरता, स्पष्टता व ओज है।

हृदय हंस जैसा निर्मल है। आपकी २५ पुस्तकें निकल चुकी हैं। आप समाज के ज्योति-स्तम्भ हैं और समाज ज्योति प्राप्त करता है। इसी प्रकार आप अपने जीवन को उन्नतिशील बनाते रहें। ऐसी मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

मुनि द्वयाष्टक

● मुनि श्री विजय कुमार

मुनि द्वय श्रद्धेय का सरस जीवन पराग ।
अभिनन्दन करने का, मिला हमें सौभाग ।।

आमों के विज्ञ, शासन संघ सेवा के लिए ।
ज्ञानी-मुनि-ध्यानी हुए गुरु प्रेम बहाने के लिए ।
जैन जगति को जगाते आप महा गुण धाम है ।
व्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है ।।

जीवन तुम्हारा महकता शशि-सूर्य सम बहु सोहता,
विनम्रता सद्भाव से मानव मन को मोहता ।।
लेखनकला का कार्य सुन्दर श्रुत ज्ञान शासित स्वाम है,
व्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है ।।

सुभाव दिव्य सुहावना सुशांत शोभित हो रहा,
निस्पृहता माधुर्यता का तेज जन-मन मोह रहा ।
गुण ग्राहकता कल्याण करनेवाले आप तमाम है,
व्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है ।।

सौजन्यता से पूरितहृदय सौम्यता मुख झलकती ।
गंभीर चिंतन से सुहानी वाग्-धारा छलकती ।।
अभिमान से तो दूर रहते आप द्वय सुख धाम है ।
व्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज लालम है ।।

आगम विशारद भाष्य टीका न्याय के भंडार हो,
व्याकरण संस्कृत और प्राकृत आदि महिमागार हो ।
मिलनसारिता, सेवा सरलता सज्जनता गुण धान है.
व्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है ।।

जन्म भूमि आप द्वय की तिंवरी मानी हुई,
स्वामी जोरावरमल मुनि की संगति पाई सही ।
उभय मुनि युग-युग रहे यह भावना निष्काम है ।
व्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है ।।

शुद्ध साधुता के हो धनी संसारोद्धारक आप हो,
सद्ज्ञान के दाता तुम्ही पतित-पावन आप हो।
समता सुरस से चमकता मुनिवर तुम्हारा नाम है,
व्रज लाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है ॥
उदारता विशालता में आप पूरे संत है,
वंदन हमारा सतत हों व्रज-मधु जैन महंत है।
गौरव गरिमा से प्रकाशित आप का शुभ काम है,
व्रज लाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाल है ॥

श्रद्धा के सुमन

● कविवर श्री जीतमल जी

(तर्ज—चाँदनी ढल जायगी)

चाँद और सूरज समान, राम और लखन सम जान,
जन-जन प्यारा रे, व्रज-मिश्री म्हारा रे ॥टेर॥
भारत माता के बाल, जैन जगत के लाल,
श्रमण सितारा रे ॥व्रज ॥१॥
जगति से मन मोड़, मुक्ति से नेहा जोड़,
लिया संयम भारा रे ॥व्रज ॥२॥
ज्ञान का कीना प्रकाश, आचार्य पद मिला खास,
उसे तजड़ारा रे ॥व्रज ॥३॥
निरअभिमान है, घणा गुणां की खान है,
निर्मल गंग धारा रे ॥व्रज ॥४॥
श्रमण संघ हितैषी है, पण नहीं रागाद्वेषी है,
सबका मोहनगारा रे ॥व्रज ॥५॥
व्रज स्वामी बड़े नेक, मिश्री है लाखों में एक,
सांचा अणगारा रे ॥व्रज ॥६॥
दीक्षा स्वर्ण जयन्ति आज, हाजिर सारो संघ समाज,
अभिनन्दन प्यारा रे ॥व्रज ॥७॥
समाज ने तुम पर है नाज, जुग-जुग जीवो गुरुराज,
चावे यही सारा रे ॥व्रज ॥८॥
शाशन दिपाई जो, "जीत" संप बढ़ाई जो
गास्यां गुण थांरा रे ॥व्रज ॥९॥
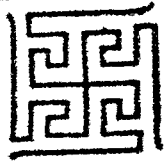
धर्म दर्शन
एवं
संस्कृति
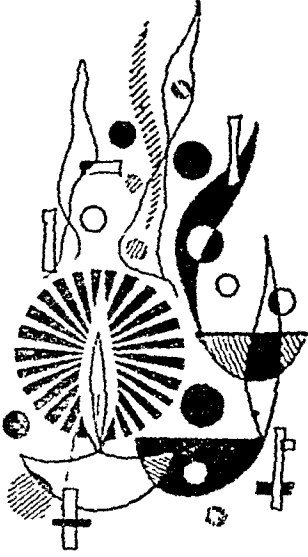
जैनागमों में नीति तत्त्व

○ मुनि श्री फूलचन्द्र जी 'श्रमण'

मनुष्य यहां जिस आयुष्य-कर्म को बांध कर आता है उसे वह अपना आयुष्य कर्म भोगना ही पड़ता है। दुनिया में जन्म लेनेवाले को जीना ही पड़ता है, रोकर, हँसकर या समभाव से, पर तब तक जीना अनिवार्य है जब तक जीने का विधान है।

मनुष्य पैरों से चलना चाहे जब सीखे, चले या न चले, यह उसकी परिस्थितियों और इच्छा पर निर्भर है, परन्तु जन्म के क्षण से लेकर अन्तिम श्वास तक उसे समय के सोपान पर चढ़ते ही रहना पड़ता है। नियति के इस अटल नियम को तोड़ा नहीं जा सकता।

जीवन-सागर की अतल गहराइयों तक पहुंच कर जीवन-शास्त्र का निर्माण करने वाले तत्त्व-दर्शी महामुनियों ने सोचा कि जीना तो सब को ही पड़ता है, परन्तु क्या कोई ऐसी विद्या या कला नहीं, जिससे मानव परिस्थितियों पर—जीवन की उलझनों पर विजय प्राप्त करके हँसते-हँसते जीना सीखे। अपने इसी विचार से प्रेरित होकर उन्होंने नये-नये प्रयोग आरम्भ किये, जीवन के प्रत्येक अंग का विश्लेषण किया, जीव और जीवन के सम्बन्ध-सूत्रों की छान-बीन की, मानसिक जगत के भाव-मण्डल में होने वाली प्रत्येक क्रिया को परखा, बौद्धिक स्तरों को जाना पहचाना और इस प्रकार सुदीर्घ साधना के अनन्तर उस कला का आविष्कार किया जिस कला के अभ्यास से मानव हँसते-हँसते जीये और अपनी अभीष्ट—साधना से वह प्राप्त कर सके, जिसे वह प्राप्तव्य मानता है। इसी जीवन-कला को वे 'नीति' कहने लगे नीति का अर्थ है जीवन-कला।

यह सत्य है कि जीवन-प्राप्तव्य की प्राप्ति में ही सुख है और सुख की शीतल छाया मे स्थित मानव—मुख पर ही उल्लासजन्य हास्य की आभा छिटका करती है, परन्तु प्रश्न है कि जीवन में प्राप्तव्य क्या है? मनुष्य क्या पाना चाहता है और इस प्रश्न के दूसरे पहलू पर भी विचार करके यह भी देखना होगा कि मनुष्य क्या छोड़ कर आनन्द की अनुभूति करता है। इन प्रश्नों के उत्तर पाने में चाहे जितना समय लगा हो, परन्तु नीतिविज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुंच ही गए कि "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" ये ही जीवन के प्राप्तव्य है, शेष जो कुछ भी है वह सब इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सहायक मात्र है।

इस चतुर्वर्ग को दो भागों में बांटा गया है एक ओर तो अर्थ और काम को रक्खा गयाहै और दूसरी ओर धर्म और मोक्ष को। वस्तुतः धर्म का स्थान दोनों भागों है, अतः कुछ मनीषियों ने त्रिवर्ग—भिन्नता

की भी कल्पना की है। त्रिवर्ग-साधना को लोक-साधना भी कहा जा सकता है और धर्म और मोक्ष के संयुक्त वर्ग को परलोक-साधना। यद्यपि यह महा सत्य है कि जैन-साहित्य धर्म-साधना और मोक्ष-साधना को ही विशेप महत्व देता है, परन्तु लोक-साधना उससे सर्वथा अछूती रही हो यह भी नहीं कहा जा सकता। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति में त्रिवर्ग-साधना अर्थात् लोक-साधना मुख्य रही है और परलोक-साधना गौण, यही कारण है कि वहां मोक्ष को वैकुण्ठ रूप में उपस्थित किया गया है और वहां पर भी अर्थ-सुख और काम-सुख की उपलब्धि स्वीकार की गई है। जैन-संस्कृति मोक्ष को प्रमु-खता देती है,धर्म को उस का आधार-भूत साधन स्वीकार करती है और इसीलिये अर्थ एवं काम से उदासी नता का पाठ पढ़ाती है।

वात्स्यायन ने प्रजापति के द्वारा एक लाख अध्यायोंवाले त्रिवर्ग-शासन के निर्माण की वात लिखी है[1] और कहा है कि उन्हीं एक लाख अध्यायों के आधार पर प्रजा की आनन्दमयी स्थिति के लिये मनु ने धर्माधिकार, वृहस्पति ने अर्थाधिकार, और नन्दी ने कामसूत्र अर्थात् कामधिकार का निर्माण किया। इस त्रिवर्ग-शासन की व्याख्या के रूप में नारद, इन्द्र, शुक्र, भरद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर और मनु आदि महर्पियों ने अपने नीति-शास्त्रों एवं स्मृतियों को रचा। आचार्य चाणक्य इस नीति—परम्परा के कुशल पारखी, अनुभवशील त्रिवर्ग-साधक हुए। उनका अर्थशास्त्र लोक तत्त्व की विशद व्याख्या है।

जैन मुनीश्वर इस विपय में सर्वथा मौन रहे हों, यह तो नहीं कहा जा सकता। श्री सोमदेव सूरी (११ वीं शती) अपने नीतिवाक्यामृत में **"समं वा त्रिवर्ग सेवेत"** (३।३) कह कर धर्म—अर्थ एवं काम की समभाव से सेवना का समर्थन करते हैं। दशवैकालिक सूत्र (निर्युक्ति) में भी कहा गया है—

धम्मो अत्थो कामो भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥

धर्म, अर्थ और काम को चाहे कोई परस्पर विरोधी मानता हो, परन्तु जिन वाणी के अनुसार तो वे जीवन-अनुष्ठान में परस्पर असपत्न अर्थात् अविरोधी हैं। परन्तु जैनागमों में कहीं भी अर्थ और काम की सेवनीयता का समर्थन नहीं किया गया है। वहां का प्रवल पक्ष धर्म और मोक्ष ही रहे हैं, अतः **'धम्मो मंगलमुक्किठ्ठं'** कह कर धर्म को ही जीवन के लिये मंगलकारी कहा गया है।

इतना अवश्य है कि वत्तीसों आगमों ने प्रकीर्ण शास्त्रों ने, निर्युक्ति,भाष्य और चूर्णि-निर्माताओं ने यथा-स्थान चतुर्वर्ग के सम्वन्ध में अपने निष्कर्ष घोपित करते हुए अपनी स्वतन्त्र नीति का—अपनी विल क्षण जीवन-कला का परिचय दिया है।

जैन साहित्य को हम धर्म और मोक्ष-सम्वन्धी नीति-वाक्यों का महासागर कह सकते हैं, इन दोनों के हर पहलू को जैन-दर्शन ने परखा है, उसका विश्लेषण किया है, और जीवन के लिये उनकी उप-

---

१ **प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच। तस्यैकदेशिकं मनुः स्वायम्भुवो धर्माधिकारं पृथक् चकार, बृहस्पतिरर्थाधिकारम्, नन्दी सहस्रेणा ध्यायानां पृथक् कामसूत्रं चकार।** **—(कामसूत्र, अ० १)**

योगिता पर विशद प्रकाश डाला है। सागर में जैसे नदियां मिलती हैं, इसीप्रकार छोटी-छोटी नदियों के रूप में इस महासागर में अर्थ और काम की सरिताएं भी कहीं-कहीं मिलती अवश्य दिखाई देती हैं। जैसे :—

अर्थनीति—

सर्वप्रथम अर्थनीति को ही लीजिए, इस विषय में जैनागमों के कुछ नीतिवाक्य प्रस्तुत कर रहा हूँ—

लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा।

—आचाराङ्ग १।२।५

अर्थ लाभ की दशा में गर्व न करो, परन्तु उसकी अप्राप्ति पर शोक भी नहीं करना चाहिए।

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं वि ते अप्पज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव।

—उत्तरा० १४।३९

अगर सारे संसार पर तुम्हारा अधिकार हो जाय, दुनिया का सारा धन तुम्हें ही मिल जाय, तव भी तुम्हें वह अपर्याप्त ही प्रतीत होगा, वह धन अन्त समय में तुम्हारी रक्षा भी नहीं कर सकता है।

जा विहवो ता पुरिसस्स होइ, आणापडिच्छओ लोओ।
गलिओदयं घणं विज्जुलावि दूरं परिच्चयइ।

—प्रा० सू० स०

जब तक मनुष्य के पास वैभव है तब तक ही लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, पानी समाप्त होने पर तो विजली भी बादल का परित्याग कर देती है।

थोवं लद्धुं न खिंसए।

—दशवै० २।२९

थोड़ा प्राप्त होने पर मनुष्य को झुंझलाना नहीं चाहिए।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बंधवा।
चइत्ता णं इमं देहं, गतव्वमवस्स मे॥

—उत्तरा० १९।१७

खेत, वस्तुएं, सोना, पुत्र, पत्नी बन्धु-बान्धव और इस देह को भी त्याग कर हमें यहां से अवश्य ही जाना पड़ेगा।

उपर्युक्त अर्थनीति सम्बन्धी वाक्यों से ज्ञात होता है कि अपरिग्रह-प्रधान जैन संस्कृति ने अर्थ-नीति के ग्राह्य पहलू को नहीं, उसके त्याग-पक्ष को विशेष महत्त्व दिया है। उसका लक्ष्य-वाक्य यही रहा है—

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

१३

धन को एकत्रित करते समय, दुःख उठाने पड़ते हैं, उसकी रक्षा के लिये भी दुःखों का ही सामना करना पड़ता है, अतः धन के आगमन में कष्ट है, उसके व्यय में कष्ट है, इस प्रकार सभी प्रकार से कष्ट दायक धन को धिक्कार है।

कामनीति —

ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ आधार शिला पर अवस्थित जैन-संस्कृति के पावन प्रासाद में हम काम के उसी रूप में दर्शन करते हैं जिस रूप में उसका विचरण वहां निषिद्ध किया जा रहा है, कहीं-कहीं उसे धक्के देकर बाहर निकाला जा रहा है, अथवा उसे वहां से निकलने का आदेश-पत्र दिया जा रहा है। जैन संस्कृति के पावन प्रासाद द्वार पर ही यह 'मॉटो' देखने को मिलता है कि **'न विषयभोगो भाग्यं, विषयेषु वैराग्यम्'**— विषय-वासनाओं की प्राप्ति भाग्योदय का चिह्न नहीं, भाग्योदय का विलक्षण लक्षण विचक्षण यही बताते हैं कि वह है विषयों से विरक्ति। वासना-लिप्त धर्म को यहां विनाशकारी बतलाते हुए अनाथी मुनि कहते हैं—

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयालइवाविवन्नो॥

—उत्तरा० २०।४०

पिया हुआ जहर, उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र और अच्छी प्रकार से वश में न किया हुआ वेताल (पिशाच) जैसे मनुष्य को नष्ट कर देते हैं वैसे ही वासनायुक्त धर्माचरण आराधक का विनाश कर देता है।

एवं खु तासु विन्नप्पं संथवं संवासं च वज्जेज्जा।
तज्जातिया इमे कामा वज्जकरा य एवमक्खाए॥

—सुयगडांग, ४।२।१९

इन स्त्रियों के विषय में बहुत कुछ कहा गया है, इनका परिचय और संसर्ग वर्जित है, नारी-संसर्ग-जन्य कामभोगों को भगवान् जिनेन्द्र ने आत्मघातक कहा है।

विसया विसं व विसमा, विसया वेस्सा नरव्व दाहकरा।
विसय विसाय विसहर, वाघाणसमा मरण-हेऊ।

कामभोग विष के समान विषम है, अग्नि के समान दाहक हैं, पिशाच, सर्प और व्याघ्र के समान मरण के कारण हैं।

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहभुत्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइवि॥

—उत्तरा० १६।६

स्त्रियों के साथ मजाक, नाना विध क्रीड़ाएं, उनका सहवास, 'मेरी स्त्री अत्यन्त सुन्दर है' इस प्रकार की दर्पोक्तियां, स्त्री के साथ बैठकर भोजन और उसके साथ एक ही पलंग पर बैठना आदि काम-क्रियाओं का सेवन तो दूर रहा, उनका चिन्तन भी न करे।

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
संका ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं॥

—उत्तरा० १६।१४

ये काम-भोग अजेय हैं, ये शंका-शीलता के प्रमुख कारण हैं, इसलिये मानसिक एकाग्रता के अभिलाषी को इनका परित्याग ही कर देना चाहिए।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।

—उत्तरा० ३२।१९

काम की निरन्तर अभिलाषा से दुखों की उत्पत्ति होती है।

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा।

नारी-संग का अतिक्रमण करते ही विश्व के सभी पदार्थ सुखकारी हो जाते हैं।

यह जैन सांस्कृतिक साहित्य का कामनीति सम्बन्धी ग्राह्य एवं आचरणीय दृष्टिकोण है, परन्तु यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि जैनागम कामासक्ति विरोधी होते हुए भी नारी जाति का विरोधी नहीं है। उन्होंने नारी को मोक्षाधिकारिणी माना है, उसे केवल वासना पूर्ति का यन्त्र न कह कर उसे सम्मान्य पूज्य स्थान दिया है। उनका कथन है—

ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः।
निजवंशतिलकभूताः श्रुत - सत्यसमन्विता नार्यः॥

—ज्ञानार्णव।१२।५७

शम-शील-संयम से युक्त अपने वंश में तिलक समान श्रुत तथा सत्य से समन्वित नारियां धन्य हैं।

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद भूषयन्ति धरातलम्॥

—ज्ञानार्णव।१२।५८

स्त्रियां अपने सतीत्व से, महत्त्व से, आचरण की पवित्रता से विनयशीलता और विवेक से धरातल को विभूषित करती है।

ब्राह्मी, सुन्दरी, अञ्जना, अनन्तमती, दमयन्ती, चन्दना, राजीमती एवं सीता आदि के सतीत्व मय नारीत्व पर जैन-संस्कृति को गर्व है। तीर्थंकरों के मातृत्व के रूप में उनके गरिमा-सिंहासन सब के लिये वन्द्य हैं। 'गिहिवासे वि सुव्वए'—सुव्रती रह कर गृहस्थ धर्म के पालन का यहाँ निषेध नहीं है। यहां कामनीति को मर्यादा में बांधकर रखने का आदेश है, उसे स्वच्छन्दविहारिणी बनने से रोका जाय यही जैन संस्कृति का ध्येय है।

धर्मनीति—

धर्मनीति के सम्बन्ध में अगर यह कहा जाय कि 'जैनागम धर्ममय हैं'—जैन साहित्य-सागर में धर्मोमियों के विलास ही विलास दृष्टिगोचर होते है, ऊर्मिमाला ही सागर है, और सागर ही ऊर्मिमाला है, इस रूप में दोनों का एकत्व प्रसिद्ध है। 'उठे तो लहर है बैठे तो नीर है, लहर कहे क्या नीर खोयमू' की उक्ति चिरकाल से कर्ण-परिचित है।

यद्यपि धर्म क्या है ? इस प्रश्न की उत्तर माला ओर-छोर से रहित हो चुकी है, फिर भी इस प्रश्न का प्रश्न-चिह्न उत्तर की प्रतीक्षा में ज्यों का त्यों खड़ा है। श्रद्धेय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने धर्म का परिभाषात्मक रूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—"**दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः**'—आत्मा को दुर्गति के गहरे गर्त में गिरने से बचाकर जो उसे धारण करता है वही धर्म है।' इसीलिये चार

पुरुषार्थों में धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है। धर्मानुगामिनी अर्थनीति अनर्थकारिणी नहीं हो सकती, धर्म-धृता कामनीति को भी बुरा नहीं कहा जा सकता है, मोक्ष की तो आधारभूमि धर्म ही है, इसलिये इसे उत्कृष्ट मङ्गल कहा गया है।

धम्मो मङ्गल मुक्किट्ठं अहिंसा सजमो तवो।

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म ही सर्वोत्कष्ट मङ्गल है। अहिंसा, संयम और तप से वह दिव्य चेतना जागृत होती है, जिसके प्रकाश में वस्तु तत्त्व प्रत्यक्ष हो उठता है। इसीलिये वस्तु स्वभाव को ही धर्म वतलाते हुए कहा गया है—'**वत्थु सहावो धम्मो**।' ठीक ही है,जिसने वस्तु स्वभाव को जान लिया, उष्णता अग्नि का स्वभाव है, वही उसका धर्म है, इस धर्म से रहित अग्नि हम कहीं भी नहीं पा सकते। मनुष्य का स्वभाव विवेक है—ज्ञान है। विवेक से ही वह हेय-उपादेय को जान सकता है। हेय का त्याग कर सकता है और उपादेय को ग्रहण कर सकता है, अतः विवेकवान् ही मनुष्य है। विवेकहीन को मानवता के पावन सिंहासन पर बैठने का अधिकार ही नहीं है। मनुष्य शव्द द्वारा हम जिससे परिचित हैं, वह हाड-मांस का ढांचा ही नहीं है, वह भी दो हाथोंवाले इस पौद्गलिक देह में रहनेवाला आत्मा है। वह आत्मा ही धर्म है——

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोस परिचत्तो।
संसारतरणहेडुं धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।

—भावपाहुड ८३

रागद्वेषादि से रहित आत्मोद्धार में संलग्न और संसार-सागर को तरने के लिये यत्नशील आत्मा को ही जिनेन्द्र भगवान् धर्म कहते हैं। इस धर्म के सम्वन्ध में शास्त्रोक्तियां इस प्रकार हैं—

वावत्तरी कला कुसला पंडिय पुरसा अपंडिया चेव।
सव्व फल्लाण वि परं जे धम्मकलं न जाणंति॥

चाहे कोई व्यक्ति वहत्तर कलाओं में कुशल है, पण्डित है या मूर्ख है, यदि वह धर्म कला से अपरिचित है तो उसकी सभी कलाएं व्यर्थ हैं।

अविसंवायण संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।

—उत्तरा० २९।४६

निष्कपट व्यवहार से मनुष्य धर्म की आराधना करने वाला हो जाता है।

धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति।

—सूत्रकृताङ्ग २।२।३९

धर्मानुकूल आजीविका करने वाला ही सद् गृहस्थ है।

एगा धम्मपडिमा जं से आया पज्जवजाए।

—स्थानाङ्ग १।१।४०

आत्मा की विशुद्धि केवल धर्म से ही होती है।

एगे चरेज्ज धम्मं।

—प्रश्नव्याकरण २।३

चाहे तुम अकेले ही क्यों न होओ, धर्म का आचरण करते रहो।

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो य से मोक्खो।

—दशवैकालिक ९।२।२

विनय ही धर्म का मूल है और मोक्ष ही उसका अन्तिम फल है।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ।

—उत्तरा० १४।२५

जो रातें वीत जाती हैं वे पुनः लौट कर कभी नहीं आती। वीतती हुई रातें उसी की सफल हैं जो धर्म का आचरण करते हैं।

एको हि धम्मो नरदेव ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।

—उत्तरा० १४।२०

राजन्; एक धर्म ही मनुष्य का रक्षक है, उसके विना मनुष्य की रक्षा करनेवाला कोई नहीं।

धम्ममहिंसा समं नत्थि।

—भक्तपरिज्ञा ९१

अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं।

जरा मरण वेगेण वुज्झमाणाणपाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं ॥

—उत्तरा० २३।६८

बुढ़ापे के असह्य भार से दवकर मृत्यु-नदी के जलौघ में वहते हुए प्राणियों को यदि कोई सुन्दर आश्रय मिल सकता है तो वह धर्म ही है।

ये तो जैनागम-सागर की वुद्धि तट के समीप आई दो चार तरङ्गें हैं, जिनके हमने ऊपर दर्शन किये हैं, ऐसी असंख्य धर्मोर्मियों के यहां दर्शन किए जा सकते हैं, स्वाध्याय की तरणी पर वैठ कर उन मङ्गलमयी तरल तरङ्गों को देखने के चाव की आवश्यकता है।

मोक्षनीति—

मोक्ष का अर्थ है मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता। हम यहां देखते हैं कि प्रतिदिन अनन्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, खाते हैं, पीते हैं और **'जीवेम शरदः शतम्'** के पाठ स्वरों में सौ वर्ष तक इस धरती पर सांस लेते रहने की कामना करते हैं। यह भी उस अवस्था में, जवकि अपने ही कन्धों पर कितने ही शवों को ढोकर श्मशान की अग्नि में जला आते हैं। मनुष्य को पता है कि मुझे लगभग सौ साल जीना है, फिर भी वह इतना जुटाना चाहता है जिसका पार न हो, यदि उसे यह पता चल जाय कि मुझे हमेशा यही रहना है तो वह सारे संसार की रजिस्ट्री सारी दुनिया के हक-हकूक अपने नाम करवा लेने के काम से भी न चूकता।

प्रश्न है कि क्या यह आना-जाना स्वयं ही हो रहा है? अथवा इसके पीछे कोई अन्य प्रेरिका शक्ति है? स्वयं कुछ हो नहीं सकता, तो फिर वह कौन सी शक्ति है जिसकी अनियन्त्रित प्रेरणा से आवागमन का चक्र निरन्तर घूम रहा है? वीतराग जिनेन्द्रों ने उस प्रेरकशक्ति का अन्वेषण कर ही लिया और कहा—'वह शक्ति कर्म भार से वन्धन है, यदि कर्म भार को उतार कर फेंक दिया जाय तो यही मोक्ष है। तभी तो आत्मा को अमृतत्व-सिन्धु में स्नान कराने वाले आतमधर्मा मुनीश्वर कहते हैं—

णिस्सेस कम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो।
तम्हि कए जीवोऽयं, अणुहवइ अणंतयं सोक्खं ॥

सम्पूर्ण कर्मों के पाशों को तोड़ कर स्वतन्त्र हो जाना ही तो मोक्ष है। जिनेन्द्र भगवान् का यह आदेश है कि मुक्त होकर ही जीव आनन्द रूप हो सकता है। सिद्धान्त यह है कि **'यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति'** जिसे मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः मोक्ष के लिये उस अवस्था की आवश्यकता होती है जिसमें इच्छा-निरोध नहीं, इच्छाओं का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। इसीलिये मोक्षावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है—

ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे वाहा।
ण वि मरणं ण वि जणणं, तत्थेव य होई निव्वा ॥

जहां दुख नही, इन्द्रिय-सुख नही, जहां पीड़ा नही, जहां कोई बाधा नहीं, न जन्म है,न मरण है वही तो मोक्ष है।

इस अवस्था की अनुभूति के कुछ क्षण तपस्वी जीवन में भी आते हैं, उस जीवन में आनन्दोल्लास के साथ मुक्त आत्माएँ कहा करती है—

न मे मृत्युः कुतो भीतिः, न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाऽहं वालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले।

जब मैं मरण—मुक्त हूं तो डरूं किससे, जबकि रोग मेरे पास आ ही नही सकते, तो पीड़ा कैसी ? न मैं बच्चा हूं, न युवा हूं, न वृद्ध हूं—यह सब तो पुद्गल-क्रीड़ा है, होती रहे यह क्रीड़ा, मेरा इस क्रीड़ा से क्या प्रयोजन है।

से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे, बन्धप्पमुक्खो अज्जत्थेव।

—आचारांग ५।५२

मैंने सुना है और अनुभव किया है कि मैं आत्मा हूं, बन्धनों से मुक्त हूं। कितने उल्लासमय होते होंगे इस अनुभूति के क्षण ! यह आनन्दोत्सव के क्षण सदाभावी बन जाय इसी का प्रयास है वह समस्त सांस्कृतिक साहित्य जो मोक्षनीति का अनुगामी है।

नीति शास्त्र की सीमाएँ लोक तक ही सीमित है, परन्तु जैनागमों की नीति लोक-परिचायिका तो है ही, साथ ही उस ओर भी ले जानेवाली है जहां मोक्ष है, जहां नीति का अवसान है, जो जीवन यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

ऊपर हमने चतुर्वर्ग रूप जैनत्व-मण्डित नीति-शास्त्र का विहंगमावलोकन किया है। इसके आधार पर हम कह सकते है कि जैन-साहित्य एकांगी साहित्य नही, उसमें जीवन के सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त निष्कर्ष है, उसमें जीवन के हर पहलू को परख कर उपस्थित किया गया है, उसमें लोक की वास्तविकता के ऐसे बहुरंगी चित्र उपस्थित किए गए है जिनसे मनुष्य लोक की दुःखमयता से परिचित होकर उधर बढ़ सके जिधर आनन्द का अनन्त सिन्धु लहरा रहा है।

॥ जैनं जयतु शासनम् ॥

आधुनिक समाजवाद के सन्दर्भ में

जैनधर्म का समाजवादी स्वरूप

—सौभाग्यमल जैन, एडवोकेट

यदि जैनधर्म में निहित तत्वों की ओर गहराई से देखें तो हमें यह वात स्पप्ट रूप से दिखाई देगी कि उसमें व्यक्ति तथा समाज में अन्योन्याश्रय का सम्वन्ध मानते हुए भी अधिक महत्व समाज को दिया गया। यह सत्य है कि जैन धर्म आचारप्रधान हैं, उसमें विधि, निपेध सम्वन्धी प्रवाधान है तथा उन पर अमल करना आवश्यक माना जाता है, इस परिप्रेक्ष्य में इसे व्यक्ति-परक भी कह दिया जाता है किन्तु यह एकांगी सत्य है। वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋपभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकर ने तीर्थ की स्थापना की, तथा चतुविध तीर्थ रूप संघ को अत्यधिकमहत्व दिया। श्रीमद्नंदीसूत्र की प्रास्ताविक गाथाओं में संघ महिमा का जो सुन्दर काव्यात्मक रूप हमको मिलता है, उससे संघ की महत्ता का दिग्दर्शन हो सकता है। यही नहीं, अपितु स्वंयं तीर्थंकर भी संघ को "णमोतित्थस्स" कहकर वन्दना करते हैं। यह सत्य है कि व्यक्ति का समूह ही संघ होता है, किन्तु Indivedusl रूप से व्यक्ति को संघ का महत्व प्राप्त नहीं होता, जवकि व्यक्ति सामूहिक रूप से "संघ" कहाता है और उसे महत्व प्राप्त है। इस सामूहिकता का अपरनाम ही "समाज" है। हम चाहे आज के आधुनिक युग में समाजवादी विचारधारा का जनक "कालमार्क्स" को कहे, किन्तु वास्तविकता यह है कि सामाजिकता तथा समाज-परक व्यवस्था का विचार तथा अमल हमारे देश में युगों-युगों से रहा है। एक विशेपता इस देश की यह भी रही है कि समाज-परक व्यवस्था केवल एक विचार, एक Theory ही नही रही, अपितु इन व्यवस्थाओं के पुरस्कर्ता महापुरुपों ने पेश्तर उस पर अमल किया। जैन साहित्य के एक महान् सूत्र "श्रीमद्स्थानांगसूत्र" में दस धर्मों का विवेचन किया है जिसमें ग्रामधर्म, नगर

धर्म, राष्ट्रधर्म, समाजधर्म आदि का समावेश किया गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा के उद्धार के लिये प्रयत्न करना कर्तव्य माना जाता है उसीप्रकार उसको समाज के प्रति भी अपना कर्तव्य निर्वाह करना लाजमी है।

प्राग्ऐतिहासिक काल के युगलिया युग की समाप्ति के पश्चात् भगवान ऋषभदेव ने जो समाज व्यवस्था देश को दी तथा राज्य संस्था का निर्माण किया उसके अध्ययन करने से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकेगा कि उन्होंने मानव को अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिये असि, मसि, कृषि सम्बन्धी कार्यों में संलग्न रहना जरूरी माना। तात्पर्य यह है कि उस प्राग्-ऐतिहासिक काल में भी एक महनत कश-समाज का सूत्रपात किया गया। यही नही, उन्होंने त्यागी वर्ग के लिये तीन याम (अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह) का उपदेश किया। कहा जाता है कि उसके पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे चर्तुयाम करके संशोधन किया तथा भगवान महावीर ने पंचयाम करके पंचमहाव्रत का रूप दिया (देखिये अमर भारती जनवरी १९७३ अंक) कुछ भी हो, किन्तु यह विवाद से परे तथ्य है कि जैन धर्म के पुरस्कर्त्ता महापुरुषों के हृदय मे जिस "श्रम निष्ठ" समाज की कल्पना थी, उसके लिये उन्होंने "अपरिग्रह" का प्रावधान भी आवश्यक समझा। हालांकि उस युग में शोषण के बड़े-बड़े साधन नहीं थे। त्यागी वर्ग के सन्दर्भ में एक आदर्श वाक्य है :—

"असंविभागी न हु तस्स मोक्खो"

जो अपने प्राप्तव्य का संविभाग करके अन्य को नहीं देता उसकी मुक्ति नही हो सकती। यदि हम श्रावकों के लिये निर्दिष्ट १२ व्रतों का अध्ययन करें तो हमें स्पष्टरूप से पता लगेगा कि श्रावक को जहा अपनी सम्पत्ति की सीमा-बांधकर अल्पपरिग्रही होने का विधान किया गया, वहां उसकी दैनिक-व्यवहार की वस्तु पर भी सीमा लगाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि श्रावक सम्पत्ति का असीमित संचय न करे, इतना पर्याप्त नहीं माना गया अपितु उससे अपेक्षा की गई कि वह अपने दैनिक व्यवहार की वस्तु भागोपभोग पर भी limet करे ताकि देश के उत्पादन का, कितने भाग का वह उपयोग करेगा यह सीमा बाध दी जावे। इन महापुरुषों ने विश्व को जिस प्रकार के त्याग का उपदेश दिया वैसा ही अपने जीवन में अमल किया। यदि वह कहा जावे तो अधिक सत्य होगा कि इन महापुरुषों ने पहले त्याग तथा साधना के द्वारा "कैवल्य" प्राप्ति की तथा जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसका उपदेश विश्व को दिया। भगवान् महावीर के पश्चात् २५०० वर्ष में कई महापुरुषों ने इस देश को दिशा दान दिया है तथा अपने जीवन व्यवहार से प्रभावित किया है। अभी ताजा उदाहरण राष्ट्रपिता बापू का है, जिन्होने देश को केवल समाजवादी व्यवहार करने का उपदेश नहीं दिया अपितु, स्वयं के जीवन व्यवहार को इस प्रकार सीमित करके साक्षात् साम्यवादी समाजवादी होना सिद्ध किया। समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक दिया। जैसा कि इस देश की परम्परा रही है।

जैन साधना पद्धति में सामायिक का बड़ा महत्व है। चाहे त्यागी वर्ग की साधना हो चाहे गृहस्थ की। दोनों पद्धति में 'सामायिक" का महत्व है। इस पारिभाषिक शब्द "सामायिक" का मूल "समता" है। भाव सामायिक वह है जब कि मनुष्य विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति समता का भाव अपने हृदय में धारण कर उसको आजीवन अथवा समय विशेष तक के लिये धारण करे। इसीकारण जैन साहित्य के एक अनुपम शास्त्र उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि—

"समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।"

समताभाव धारण करने से ही श्रमण हो सकता है। जब कोई व्यक्ति श्रमण (साधु) दीक्षा लेते हैं तो उसे आजीवन सामायिक का व्रत धारण करना होता है, यदि कोई व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए सामायिक व्रत धारण करना चाहता है तो उसे समय की सीमा बांधकर सामायिक व्रत कराया जाता है। तात्पर्य यह है कि जैन साधना पद्धति का हार्द "सामायिक" है, जिसमें समताभाव का धारण करना अनिवार्य है। जैन परम्परा के एक धुरन्धर विद्वान आचार्य समंतभद्र ने समस्त प्राणी मात्र को कल्याण की कामना करने की अपनी शुभ भावना प्रदर्शित करते हुए बताया था कि हे भगवन्! आपका यह तीर्थ "सर्वोदय" (सब का उदय करनेवाला कल्याण करने वाला है)

सर्वापदामन्तकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

तात्पर्य यह है कि जैनधर्म के महान् पुरस्कर्ताओं ने बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय प्रावधान करके विश्व का महान् उपकार किया है। उनका उद्घोष था कि—

अर्पित हो मेरा मनुज-काय।
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ॥

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह निःशंक रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म में समाजवादिता का जो स्वरूप है, वह केवल आर्थिक नहीं है, एकांगी नहीं है, अपितु जिस समाज-परक व्यवस्था का प्रावधान किया है, उसमें मानव जीवन का आदर हैं, उसके विचारों का आदर है, उस आर्थिक स्वतंत्रता का उद्घोष है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है आधुनिक समाजवाद के पुरस्कर्ता "कालमार्क्स" का लक्ष्य केवल मानव के अर्थ-तंत्र से सम्बन्धित था। इसमें सन्देह नहीं कि जब विश्व की विचार सरणि में "देव-वाद" का बोल बाला था, मनुष्य अपनी गरीबी को भगवान् या भाग्य की देन मानकर संतोष कर लेता था उस युग में इस विचारक ने स्पष्ट घोषणा की कि—किसी भगवान या भाग्य ने मानव को गरीबी का प्रावधान नहीं दिया। अपितु समाजव्यवस्था पूंजीवादी आधार पर होने से वह गरीब है, इस कारण राज्य की व्यवस्था इस प्रकार परिवर्तित की जाना चाहिये कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये समुचित भाग मिल सकें। इस विचारक की विश्व को बड़ी देन है, किन्तु फिर भी वह एकांगी है। मानव के केवल आर्थिकदृष्टि से स्वतंत्र हो जाने पर भी बहुत कुछ शेष रहता है। आधुनिक समाजवादी विचारधारा राज्याश्रित अधिक है। समाजवादी यह विश्वास करते हैं कि राज्य व्यवस्था समाजवादी सिद्धान्तों पर आधारित होने से सब कुछ ठीक हो जायेगा। मानव अभाव से पीडित नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह कि मानव को अपने अभाव की पूर्ति के लिये राज्य व्यवस्था के परिवर्तन तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। जबकि भारतीय प्राचीन विचारधारा यह स्पष्ट निर्देश करती है कि दोनों कार्य साथ-साथ हों ताकि मानव तब तक उपेक्षित न रह सके। कल्पना कीजिये कि एक पड़ोस के मकान में आग लग जावे या पड़ोस के रहनेवाला भूख से तड़पता हो, तब पड़ोस में रहनेवाला राज्य शासन की सहायता के लिये भागे तब तक पड़ोसी का मकान स्वाहा हो जायगा या उसके प्राण पखेरु उड़ जावेंगे। इसलिये भारतीय समाजवादी विचार धारा व्यक्ति को उपेक्षित देखना नहीं चाहती। एक विचारक ने लिखा था कि समाजवादी व्यवस्था में प्रजा, राज्य तथा अधिकारीगण पर अधिक आश्रित हो जाती है। राष्ट्रपिता

१४

वापू के हृदय मे यह कल्पना थी कि इस देश का निवासी अधिक राज्याश्रित न हो। इससे मानव के मन में परावलम्बिता का उदय होगा और यह परिणाम, एक स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिक के सम्मान के अनुकूल नहीं है। जव मानव को राज्य से उसकी आकाक्षा की पूर्ति नही होती तो वह निराश होता है और एक कवि के शब्दों में उसके मुंह से निकलने लगता है—

"ऊलफत के सिले में, सरकार से अपनी
एक दर्द मिला दिल में, और दाग जिगर में ॥"

वास्तविकता यह है कि आधुनिक समाजवाद का कोई स्वरूप निश्चित नहीं है। एक विद्वान ने लिखा था कि समाजवाद एक ऐसी टोपी है कि जो किसी के भी सर में फीट हो सकती है। कहा जाता है कि साम्यवादी देशों मे भी समाजवाद का स्वरूप पृथक-पृथक् है। रूस तथा चीन के समाजवाद में ही अंतर है। एक वात निश्चित है कि समाजवादी विचारधारा ने मानव के मन मे आर्थिक स्वतंत्रता की भूख जगा दी है, किन्तु यह विचारधारा एकांगी होने से मानव के मन में "असन्तोष" की आग भड़का देती है। वह केवल अपने जीवन यापन के स्तर (Standard of life) वृद्धि की दिशा में ही सोचता है, अधिकार की भाषा उसके मुंह पर होती है, कर्तव्य का पक्ष उसके मस्तिष्क में नही आता, परिणाम यह होता है कि प्रत्येक वुराई का दायित्व वह राज्य पर होना करार देकर राज्य के प्रति विद्रोही भावना को वढ़ाता है। हमारी भारतीय विचारधारा मे भी राजा को असन्तुष्ट होना आवश्यक माना जाता था जैसा कि कहा गया है—

**असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टाः, निर्लज्जा च कुलांगना ॥**

किन्तु प्रजा के मन में असन्तोष जागे तो चूंकि वह राज्याश्रित अधिक है उसका क्रोध राज्य पर ही होता है। दूसरी वात जो मानव के मन में घर कर जाती है वह 'वर्ग-विद्वेष' है। मानव की विचार-सरणि चूंकि एकागी होती है इस कारण वह **"अर्थस्य पुरुषोदासः"** हो जाता है तथा उसके अभाव की जिम्मेदारी राज्य के साथ एक विशेष वर्ग पर डाल अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह वात स्पष्ट है कि आधुनिक समाजवादी विचारधारा का जव तक भारतीयकरण न हो, तव तक प्रजातंत्र में स्वयं के कर्तव्य की भावना जागृत नहीं हो सकती और न राज्य के प्रति स्वयं के कर्तव्य का भान उसे हो सकेगा। अधिक सत्य यह है कि राजनीति के पास मानव की समस्याओं का समाधान नही है, चाहे कोई वाद हो, वह समस्या सुलझा नहीं सकेगा। समाजवाद, सर्वोदय तव ही सफल हो सकेंगे जव कि उसमें मानव के हृदय को परिवर्तन करने की शक्ति हो। और उसका लक्ष्य मानव को आदर्श नागरिक वनाना हो। आज की विश्व-समस्याओं का समाधान तव हो सकेगा जवकि मानव सनातन मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा कर सकेगा। जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासविद् तथा विश्व संस्कृति के अध्येता डा० टायनवी का नव-प्रकाशित पुस्तक में निष्कर्ष निकाला गया है। जैन धर्म में समाज-परक व्यवस्था तथा समाजवादिता के जो विचार कण फैले पड़े हैं उनके अनुसार मानव, सनातन मूल्यों का पुनः स्थापन करे तव ही मानव का कल्याण हो सकता है। मानव का विकास सर्वांगीण होना चाहिये यही जैन धर्म में निहित विचार-कणों का सार है और यही जैन धर्म में निहित समाजवाद का स्वरूप है।
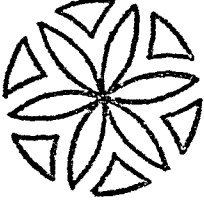
महावीर, कार्लमार्क्स और गांधी
की युगीन-स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में

जैनधर्म का अपरिग्रह व्रत और समाजवाद

—डॉ० जयकिशनप्रसाद खंडेलवाल
एम. ए. पी-एच. डी.
प्राध्यापक
बी. आर. कालेज, आगरा

संसार के समस्त विषयों के राग तथा ममता का परित्याग कर देना अपरिग्रह कहलाता है। परिग्रह शब्द परि उपसर्ग पूर्वक 'ग्रह' धातु से अप्प्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है ग्रहण, अत: संग्रह और संग्रहण-वृत्ति को परिग्रह कहा गया है। शब्द कोशों में भी परिग्रह शब्द का अर्थ आदान एवं स्वीकार है।

अहिंसा और अपरिग्रह जैन-दर्शन के मूल भूत सिद्धान्त रहे हैं। जैन सूत्र में आसक्ति को परिग्रह नाम दिया है—

'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'

यह ग्रहण या आसक्ति ही अनन्त इच्छाओं का कारण है और इच्छा या तृष्णा संसार का हेतु है। इसीलिए सन्त पुरुष विरक्त होकर सम्पत्तियों को त्याग देते हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या है—

विरज्य संपद : सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।
मा वमीत किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम्॥

—आत्मानुशासन, गुणभद्राचार्य

जिसप्रकार घृणा होने पर सुभक्त भोजन को वमित कर दिया जाता है, उसीप्रकार विरक्ति होने पर सन्त जन सम्पत्तियों का त्याग कर देते हैं। यही कारण है कि अवतारी पुरुषों और मुनियों ने परिग्रह-त्याग पर विशेष वल दिया है और 'अपरिग्रह' नाम से एक व्रत का विधान किया है। आचार्य पद्मनंदि ने भी अपरिग्रह की महिमा वतलाते हुए परिग्रहवान् के कल्याण की संभावना को अग्नि में शैत्य की उपलब्धि के तुल्य वतलाया है—

—परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो।

जैन धर्म में अपरिग्रह को पंचव्रतों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गृहस्थ के लिए अपरिग्रह का

पालन अणु रूप में है और सन्यस्त व्यक्ति इसका पूर्ण त्याग कर देता है। संग्रहण के विना गार्हस्थ्य जीवन संचालित भी नहीं होता, अतः गृहस्थ के लिए संग्रह की मर्यादा का विधान है, जो स्वयं उसकी इच्छा पर निर्भर है। जैनशास्त्रों में प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते समय इस पाठ का चिन्तन आवश्यक वतलाया है—

धणधन्नप्पमाणाइक्कमे, खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे, दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे, कुवियप्पमाणाइक्कमे जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

'धन-धान्य, क्षेत्र-भवनादि, सोना, चांदी, दास-दासी, घोड़ा-हाथी आदि पशु तथा सोना-चांदी के अतिरिक्त अन्य धातु के संग्रहण का जो मैंने नियम किया है, उससे अधिक यदि संग्रह किया हो तो मैं भूल के लिए पश्चात्ताप करता हूं।'

पंच अणुव्रतों की वृद्धि के लिए गृहस्थ दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड नामक तीन गुणव्रत भी धारण करता है। दिग्व्रत में जीवन में, जीवन भर के लिए और देशव्रत में कुछ काल के लिए क्षेत्र की मर्यादा की जाती है। गृहस्थ का पुत्र, स्त्री और धन-सम्पदा से निरन्तर सम्पर्क रहता है। इस कारण उसकी तृष्णा मे वृद्धि होना सम्भव है। ये दोनों व्रत उसी तृष्णा को कम करने या सीमित रखने के लिए स्वीकार किए जाते हैं। प्रथम व्रत के अनुसार वह अपने व्यापार आदि प्रयोजन की सिद्धि का क्षेत्र निश्चित करता है। समय-समय पर यथा नियम दूसरे व्रत को स्वीकार करते समय वह अपने इस क्षेत्र को और भी सीमित करता है और इस प्रकार अपना तृष्णा पर उत्तरोत्तर नियन्त्रण स्थापित करता जाता है। इतना ही नही, वह आजीविका में और अपने आचार व्यवहार में उन्हीं साधनों का उपयोग करता है, जिनसे दूसरे प्राणियों को किसी प्रकार की वाधा नहीं होने पाती। यही अनर्थदण्डव्रत है। तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत भी पंच अणुव्रतों के पालन में सहायता प्रदान करते हैं।

अपरिग्रह से समाजवाद

इसप्रकार जैनधर्म में गृहस्थ के लिए अपरिग्रह अणुव्रत का उपदेश दिया गया है। गृहस्थ को सभी पदार्थों का संग्रहण करने में मर्यादा रखनी चाहिए। मर्यादा से वह जो कुछ त्याग कर देता है वह सव समाजहित ही है। समाजवाद आधुनिक शब्द है। यह प्राचीन धर्मशास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता। इसका अर्थ है समाज के प्रत्येक सदस्यों के हित का रक्षण। समाज की विपमता को दूर करने के लिए आधुनिक विचारकों ने समाजवाद का प्रवर्तन किया किन्तु यह अपरिग्रहवाद से भिन्न नहीं है।

कार्लमार्क्स का समाजवाद

समाजवादी विचार धारा का मूल हमें कार्लमार्क्स के साम्यवाद में प्राप्त होता है। मार्क्स ने साम्राज्यवाद एवं उसमें आर्थिक विपमता की वड़ी निन्दा की है। उसने श्रम को महत्व देते हुए साम्य के आधार पर शासन-व्यवस्था के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। मार्क्स का यह साम्य सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय हुआ, विशेपकर साम्राज्यशाही से पीड़ित लोगों में। भारतीय नेताओं ने अंग्रेजी शासन की घोर विपमता से पीड़ित होकर कार्लमार्क्स की विचारधारा को हृदयंगम करने का प्रयास किया। उन्होंने इसे भारतीय संस्कृति के अनुरूप प्रजातंत्रीय रूप प्रदान किया। भारतीय संविधान में भी समाजवादी आदर्श को अपनाया गया। संविधान के प्रारम्भ में ही लिखा है कि 'भारतीय गणतन्त्र में सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय मिलेगा; विचार, भाषण, विश्वास, मान्यता और पूजा का स्वातन्त्र्य होगा तथा सवको उन्नति का समानरूप से अवसर होगा और

सबको समान समझा जाएगा।' समाजवाद, सर्वोदयवाद और साम्यवाद इनके मूल में निहित जो सिद्धान्त हैं, उनका परिपालन अपरिग्रह व्रत से ही सम्भव है।

गांधी जी के विचार

गाँधीजी पर जैन दर्शन का गहरा प्रभाव था। उन्होंने अपरिग्रह के सिद्धान्त को व्यवहार रूप में अपने जीवन में उतारा था। परिग्रह एक ऐसी बला है कि उससे छूटना आसान नहीं है। गांधीजी कहते थे—'हमारा शरीर भी (आत्मदृष्टि से) एक तरह का परिग्रह ही है। संस्कृत भाषा में परिग्रह शब्द का प्रयोग पत्नी के अर्थ में अनेक स्थलों पर मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त पत्नी को परिग्रह कहता है। पतंजलि ने अपने योगदर्शन में अष्टांग योग साधना का एक अंग अपरिग्रह माना है। योगदर्शन में अपरिग्रह को क्यों स्थान दिया, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। परिग्रह आत्मोन्नति में बाधक है, आत्मसाक्षात्कार में एक अवरोध है।

गांधीजी ने जब अपरिग्रह को अपने आश्रम के व्रतों में स्थान दिया तब हमें समझाया कि 'हम किसी भी वस्तु के स्वामी नहीं हैं, स्वामी समाज है। समाज की अनुमति से ही हम वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। जो लोग मुझे दान देते हैं, उसका मैं स्वामी नही बनता, मैं तो केवल ट्रस्टी बनता हूं। दान लोग देते है मुझे, लेकिन लेता हूं मैं आश्रम के नाम से। हमारा आश्रम समाज का ही प्रतिनिधि है। किसी भी सम्पत्ति के या साधनों के हम स्वामी न बन बैठें तो अपरिग्रह व्रत का पालन हुआ। समाज के लिए, समाज की सेवा के लिए सारी निधि है। हम उसके केवल ट्रस्टी (निधिप) है। इतना समझने से हमारे अपरिग्रह व्रत का पालन हुआ।

अपरिग्रह की जन-जीवन में जितनी आवश्यकता आज है, उतनी शायद पहले कभी न रही होगी। अपरिग्रह का अर्थ है अनासक्ति अथवा इच्छाओं का सीमाकरण। आज के जन-जीवन में परिग्रह का जो ताण्डव नृत्य हो रहा है, उसने मानवता की जड़ों को हिला दिया है। आज की विषम परिस्थितियों में कहीं भी संघर्ष का अन्त नहीं दिखाई पड़ता है।

अपरिग्रह और समाजवाद

आज तक अपरिग्रह व्रत का विवेचन व्यक्तिगत मोक्ष की दृष्टि से ही किया गया है, किन्तु आधुनिक काल में हमारी सारी भूमिका ही बदल गयी है। हम समस्त मानव-जाति को अपने साथ एक रूप मानने जा रहे हैं। मुक्ति व्यक्तिगत नहीं, किन्तु सामुदायिक मुक्ति का आदर्श स्वीकार कर हमने सूत्र चलाया है—'मुक्ति याने सर्वमुक्ति।' काकाकालेलकर ने लिखा है—'व्यक्तिगत मुक्ति के उपासकों ने अपरिग्रह व्रत चलाकर सारा परिग्रह समाज के हाथ में सौंप दिया और अपने को ट्रस्टी याने 'निधिप' बना दिया। उनका रास्ता आसान था। अब जब हम समस्त मानव-जाति को आस्ते-आस्ते क्रमशः एक हृदय, एक प्राण, एक समाज बनाने आदर्श मान्य करते हैं तो क्या हम सारे समाज को, समस्त मानव-जाति को अपरिग्रह व्रत की दीक्षा दे सकते हैं? किस अर्थ में? सो भी सोचना चाहिए।

इसकेलिए हमें सारे जगत् में सर्वमान्य हुआ भौतिक प्रगति का आदर्श छोड़ देना पड़ेगा और और दैवीसंस्कृति के अनुसार कितना परिग्रह जरूरी है, सो भी तय करना पड़ेगा और उस सारी नयी समाज-व्यवस्था के स्वरूप को सोचकर वह आदर्श समाज के सामने रखना होगा। व्यक्तिगत मोक्ष की साधना आसान थी। सर्वमुक्ति की साधना विशाल होगी, अत्यन्त सात्त्विक होगी। 'साम्यवाद' से कहीं अधिक तेजस्वी होगी। उसका चिन्तन और आवाहन करने के दिन आये हैं।

गांधीजी ने 'अपरिग्रह' के द्वारा सर्वमुक्ति की साधना की थी और वे इसमें सफल भी रहे।

महावीर स्वामी के उपदेश

वर्द्धमान की प्रारम्भ से ही वैराग्यपूर्ण चित्तवृत्ति थी और उन्हें उसके अनुरूप वातावरण भी मिला। वर्द्धमान ने पंचमहाव्रत धारण किये और उनका कठोरता से पालन किया। आचारांग सूत्र के अनुसार प्रव्रज्या के समय अपरिग्रह के सम्बन्ध मे उन्होने प्रतिज्ञा की 'मैं पांचवे महाव्रत में सर्वप्रकार के परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूं। मैं अल्प या वहुत, अणु व स्थूल, सचित्त या अचित्त, किसी भी परिग्रह को-ग्रहण नही करूँगा, न ग्रहण कराऊँगा, न परिग्रह ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करूँगा। उस पाप से निवृत्त होता हूं। उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और अपने आपको व्युत्सर्ग करता—उससे अलग हटाता हूं।'

अपरिग्रहवाद एक ऐसा सुनिश्चित एवं विचारपूर्ण सिद्धान्त है कि उसके विना हम अपने को उन्नत नही वना सकते। उत्तराध्ययन सूत्र मे लिखा है—

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

—उत्तराध्ययन ८।१६

यदि धनधान्य से परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय तो भी संतोप होने का नही। लोभी आत्मा की तृष्णा इसी तरह दुष्पूर होती है।'

'धन, धान्य और घर-सामान-स्थावर और जंगम कोई भी सम्पत्ति कर्मो से दुःख पाते हुए प्राणी को दुःख से मुक्त करने मे समर्थ नही है।' (उत्तराध्ययन सूत्र ५।६) जव तक मनुष्य सचित्त या अचित्त पदार्थों में परिग्रह (आसक्ति) रखता है या जो ऐसा करते हैं उनका अनुमोदन करता है, तव तक वह दुःख से मुक्त नही हो सकता। (सू० १, १।१ २)

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में (उत्तराध्यन ४।५)। इस प्रकार महावीर स्वामी ने अपरिग्रह का अनेकविधि उपदेश दिया।

निष्कर्प यह है कि परिग्रह का परिमाण करके संतोपवृत्ति वढ़ाना ही श्रेयस्कर है। ममत्व तथा आसक्ति को दूर करके ही संतोप वृत्ति को वढाया जा सकता। मूर्च्छा जड़-चेतन पदार्थो पर होती है। अतः उपचार से पदार्थो को भी परिग्रह कहा गया है। पदार्थ दो प्रकार के होते है—वाह्य और आभ्यन्तर। इन्ही के आधार पर दो प्रकार के परिग्रह माने गए है। वाह्य परिग्रह नौ प्रकार का है—१—क्षेत्र, २—वास्तु, ३—हिरण्य, ४ सुवर्ण, ५—धन, ६—धान्य, ७—द्विपद, ८—चतुष्पद, ९—कुप्य।

आभ्यन्तर परिग्रह के १४ भेद है—१—हास्य-हँसना, २—रति—असंयम में अनुराग, ३—अरति-सयम में उदासीनता, ४—भय-भयानक वस्तुओं को देखकर डरना, ५—शोक-इष्ट के वियोग में दुःखी होना, ६ जुगुप्सा-अरुचिकर वस्तु पर घृणा, ७—क्रोध-गुस्सा, ८—मान-अहंकार, ९—माया-छल-कपट, १०—लोभ-भौतिक पदार्थों में आसक्ति, ११—स्त्री वेद-पुरुप के साथ संगम करने की इच्छा, १२—पुरुप वेद-स्त्री-सगम की इच्छा, १३—नपुंसक वेद-दोनों के साथ संगम की इच्छा १४—मिथ्यात्व-विपरीत श्रद्धान्।[1]

---

१ वृहत्कल्पभाष्य, गाथा ८३१

श्रावक को इन सब परिग्रहों का कुछ न कुछ त्याग अवश्य करना चाहिए, मिथ्यात्व रूप आभ्यन्तर परिग्रह का तो सर्वथा त्याग करना चाहिए, शेष को यथासंभव छोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

अपरिग्रह के मूल में जो भावना है, वह स्पष्ट रूप से आसक्ति का निरसन है। मूर्छा परिग्रह को छोड़ना है। यह मूर्च्छा परिग्रह व्यक्ति की साधना में बाधक है ही, साथ ही समाज की उन्नति में भी वैषम्य एवं संघर्ष के साथ ही अशान्ति उत्पन्न करने वाला है। संसार में वस्तुएँ सीमित हैं किन्तु मनुष्य की तृष्णा अनन्त है। एक-एक वस्तु पर अनेक व्यक्ति ममत्व बनाए बैठे हैं जब तक यह ममत्व सीमित नहीं होता, संघर्ष चलता ही रहेगा, वैषम्य बढ़ता ही रहेगा। आज जिस समाजवाद की स्थापना का प्रचार किया जाता है, वह कोई नूतन विचारधारा नहीं है। जैनदर्शन में इसका अत्यन्त सूक्ष्म एवं विशद विवेचन हुआ है। और मुनियों एवं श्रावकों दोनों के द्वारा इसे व्यवहार में लाने का प्रयास भी किया जाता रहा। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का त्याग करने से समाज के अन्य सदस्य भी उनका उपयोग कर सकते हैं। यही भावना समाजवाद में अन्तर्हित है। परिग्रही व्यक्ति लोभी होता है तो अपरिग्रही मर्यादित एवं परोपकारी।

महावीर स्वामी ने अपने जीवन में अपरिग्रह महाव्रत को धारण करके मानव मात्र को मुक्ति का मार्ग दिखाया। आज भी उनका अपरिग्रहवाद इस देश में समाजवाद लाने में पूर्णरूपेण समर्थ है। क्यों न हम अपरिग्रहवाद को अपनाकर अपने आपको और दूसरों को भी सुखी बनावें?

'मधुकर' मधुकर वन अरे! कंटक तज मधु गेह!
कटुक खाद से मधुर-रस सीख ईख तें लेह!
'मधुकर' जीवन से सदा ग्रहो प्रेम अर नेह
मक्खी की ज्यों गंदगी, लेना तू तज देह!

—श्री मधुकर मुनि

समाजवाद : जैनदृष्टि में

—गजेन्द्रकुमार जैन साहित्यरत्न
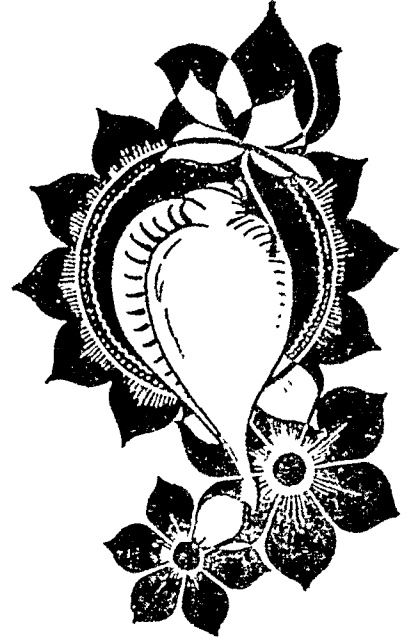
भारतीय संसद ने समाजवादी समाज की रचना का ध्येय अंगीकार किया है और उद्योग व्यापार के निजी क्षेत्र के साथ-साथ राजकीय क्षेत्र के विकास हेतु किये जा रहे प्रयास उसी दिशा में इंगित करते हैं। पहले जीवन बीमा का और बाद में बैंकों, सामान्य बीमा संस्थानों तथा कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण हुआ है, उत्पादन के प्रमुख साधन भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की जा चुकी है और शहरी सम्पत्ति के संभावित सीमा-निर्धारण की गूंज हवा में सुनाई पड़ रही है। सम्पति के अर्जन व सग्रह पर आयकर, व्ययकर, उपहारकर व सम्पत्तिकर के रूप में राज्य के नियन्त्रण लागू हो चुके हैं और अब यह निर्विवाद कहा व समझा जा सकता है कि देश के जनगण का अभियान व्यावहारिक रूप से समाजवाद की ही दिशा में गतिशील है।

यह देश और इसकी सभ्यता संस्कृति यदि अतीत में गौरवशाली रही तो उसका कारण इस देश की भौतिक समृद्धि तो थी ही, अधिक महत्वपूर्ण नैतिक मानदंड व आध्यात्मिक उच्चता थी, जिसके कारण तब भी एक सत्तासीन व ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का जितना आदर था, उससे ज्यादा सम्मान कंचन-कामिनी के त्यागी विचारक व सन्त को प्राप्त था। इस देश में पनपे सभी धर्मों में जीवन का लक्ष्य भौतिकता को क्रमशः न्यूनातिन्यून करते जाना था और इसलिए "**कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः**" की उक्ति बनी थी। लेकिन क्या हम इस देश का दुर्भाग्य व सभी धर्मों की असफलता न कहें कि व्यक्ति के जीवन में धर्म का व्यापक प्रभाव होने के उपरान्त भी समाज में भौतिक विषमता का चरम रूप ही हमें देखने को मिला। वस्तुतः व्यक्ति की धार्मिक आस्था पर यह करारा व्यंग ही रहा कि जिस धर्म का एक अनुयायी बिना पसीना बहाये महलों में छप्पन भोग भोगता रहा, उसी का दूसरा अनुयायी तन-तोड़ श्रम के बावजूद अपने पेट का गड्ढा कभी पूरा न भर पाया और अपने बच्चों के लिए दूध का प्याला भी समय पर न जुटा सका। यह सब हुआ धर्म के घण्टा-निनादों के नीचे, धर्म के व्याख्याताओं की आखों के सामने और इस प्रकार धर्म के शाश्वत सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि या तो शास्त्रों को पृष्ठों में दुबके रह गये या पूजापाठ, क्रियाकाण्ड, सामायिक, प्रतिक्रमण में दोहराने मात्र के लिए बने रहे।

आज जब हम इन विसंगतियों का कारण खोजते हैं तो लगता है कि धर्म को हमने भौतिकता के क्षेत्र से बाहर देखा और उसे मात्र व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन का ही विषय माना, और कभी उसको व्यावहारिक जीवन में उतारने की आवश्यकता जताई भी तो उसका भार भी व्यक्ति की सदाशयता पर ही छोड़ दिया, जबकि व्यक्ति आध्यात्मिक भावना को दिनचर्या का चौवीसवां भाग ही मानता रहा और स्वभावतः ही जीवन की सफलता के लिए वह भौतिक उपलब्धियों से ज्यादा प्रभावित रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि ऊँचा तो उसने आध्यात्मिकता को समझा, पर कार्य उसने भौतिकता के लिए किया, फलतः इन शाश्वत तत्वों का व्यावहारिकता से कभी सामंजस्य ही नहीं बैठ पाया। इसलिए हमारे समाज का जो गठन लहरों के फैलते वृत्तों के समान परस्पर संबंधित भी व स्वतंत्र ईकाई के रूप में भी होना चाहिए था, वह वैसा न होकर पिरामिड का स्वरूप ले बैठा, जिसमें एक को नींव में दबाकर ही ऊपर की मंजिल बनती और बढ़ती है। इससे समाज में कई स्तरों का निर्माण हो गया और दमन व शोषण पर ही सबका अस्तित्व अटक रह गया। यों भी कहा जा सकता है कि हमारा चिन्तन तो आदर्शोन्मुख रहा पर अपने सामाजिक आचार में हम उसकी झलक न ला सके और हजारों वर्षों के तीर्थंकरों व धर्माचार्यों के उपदेशों से भी वह सिद्धि अहिंसक प्रणाली से प्राप्त न कर सके, जो कार्लमार्क्स के कथनानुसार थोड़े वर्षों के हिंसक संग्राम से विश्व के पांचवे भाग में प्राप्त कर ली गई। स्पष्ट ही यह स्थिति हमारी अहिंसा व अपरिग्रह की एकांगिता व व्यवहार-शून्यता के प्रति एक चुनौती थी और आज भी सर्वहारा तानाशाही की नींव पर उठनेवाला साम्यवाद प्रतियोगिता में हमारे सामने खम ठोक कर खड़ा ही है कि आगे भी हम अपने व्यवहार पक्ष को इतना ही अशक्त रख कर चलें तो उसका मुकाबला नहीं किया जा सकेगा।

आर्थिक प्रणाली में समाजवाद का जो नारा शासन के माध्यम से भारत में अब बुलन्द हुआ है, यथार्थ ही वह पाश्चात्य औद्योगिक क्रान्ति व सोवियत-व्यवस्था से अनुप्राणित है, पर भारतीय धर्मों व दर्शन ग्रन्थों में भी समाजवाद के प्रेरक उनके सूत्र व प्रसंग जब उपलब्ध हैं तो उससे बिदकने की आवश्यकता क्या है?

एक जैन सूत्र वाक्य है—"**असंविभागी न हु तस्स मोक्खो**"—अर्थात्, सम-विभाजन न करने वालों को मोक्ष नहीं मिलता। सम-विभाजन को इतना महत्वपूर्ण माना गया कि इसी सैद्धान्तिक भित्ति पर जैन गृहस्थों की आचरण-संहिता का निर्माण पांच अणुव्रतों के रूप में किया गया। इनमें पांचवें इच्छा परिमाण व्रत को हम सर्वाधिक आवश्यक मानते हैं। अन्य चार व्रत जहाँ वैयक्तिक पालन से भी सिद्ध किए जा सकते हैं वहाँ यह व्रत तो सामुदायिक जीवन से ही सम्बन्धित है, क्योंकि उसका क्षेत्र जीवन-निर्वाह तक जाता है और सामान्यतः व्यक्ति के सभी कार्य जीवन-निर्वाह के लिये ही होते हैं।

जीवन-निर्वाह का प्रमुख उपादान सम्पत्ति होती है और सम्पत्ति अर्थात् परिग्रह का केन्द्रीकरण एक गिल्टी के समान प्रभाव पैदा करता है। जैसे शरीर के किसी भाग में गिल्टी-गांठ हो जाने से सारे ही शरीर के विपग्रस्त हो जाने का डर होता है, वैसे ही सम्पत्ति भी जब समाज में समान प्रवाहित न होकर कुछ व्यक्तियों के हाथों में ही एकत्र हो जाती है तो समाज का वह गिल्टीवाला भाग तो विषैला बनता ही है, अन्य भाग भी कमजोर होकर पूरे शरीर भी क्षीणता के कारण बन जाते हैं। जैन मनीषियों ने उल्लिखित परिग्रह परिमाण व्रत का प्रावधान इसी गिल्टी बनने की आशंका का बचाव करने हेतु किया

था, ऐसा कहा जा सकता है। यहां जैन प्रतिक्रमण सूत्र में वर्णित पांचवें अणुव्रत के पाठ का संवद्ध अंश एक वार पढ़ें तो प्रासंगिक होगा—

"पांचवा अणुव्रत थुलाओ परिग्गहाओ वेरमणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—ते आलोउ-धणधन्नप्पमाणाइकम्मे, खेत्तवत्थुप्पमाणाइकम्मे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइकम्मे, दुपयच-उप्पयप्पमाणाइकम्मे, कुवियप्पमाणाइकम्मे। जो मे देवसियो अइआरो कओ तस्स मिच्छामिदुक्कडं।"
अर्थात्—"पांचवे स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के पांच अतिचार-दोष हैं। वे जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। वे इस प्रकार हैं—:१: धन और धान्य के परिमाण मर्यादा का उल्लंघन :२: खेत और घर भवन आदि की मर्यादा का उल्लंघन :३: सोने और चांदी के परिमाण का उल्लंघन :४: नियत नौकर, नौकरानी आदि तथा चतुष्पद गाय, घोड़ा, पशु आदि की मर्यादा का उल्लंघन :५: गृह-संवधी अन्य वस्तुओं के परिमाण का उल्लंघन। जो मैंने आज के दिन इनमें से कोई अतिचार दोप किया हो तो मेरे वे दुष्कृत्य मिथ्या निष्फल हो।" (देखिये, सेठिया जैन ग्रंथ माला वीकानेर से प्रकाशित पुष्प नं० ३६–प्रतिक्रमण सूत्र–पंचमावृति वि० स० १९९१)

आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुसार सम्पत्ति में उत्पादन के सभी साधनों का समावेश किया जाता है और परिग्रह में जिन मर्यादाओं का उल्लेख ऊपर आया है उनमें भी सभी साधनों को शामिल किया गया है। इस समानता के साथ ही जव हम आज के शासन द्वारा भूमि, आय, स्वर्ण व खाद्य पदार्थों पर लगे नियन्त्रणों का स्मरण करते हैं तो पांचवें अणुव्रत में उन पर किये जानेवाले स्वैच्छिक नियन्त्रण का भी स्मरण आना सुखकर लगता है। क्या यह जैन चिंतकों की भविष्यदर्शिता नहीं मानी जानी चाहिए कि उन्होंने जिन मर्यादाओं का निर्धारण किया था, वे युग-परिवर्तन की तुला पर भी समान उपयोगी उतरी हैं अथवा क्या आज की विकट परिस्थितियों के समाधान में जैन श्रावकों की आचरण—संहिता के निर्देशों को अचूक मानकर हम गर्व का अनुभव नहीं कर सकते ?

साधन शुद्धि का ध्यान रखे विना अपना भण्डार भरपूर वनाने की प्रवृत्ति आज जब सामान्य हो गई है और उत्पादन के साधनों को वैज्ञानिकता का योगदान मिलने पर जव धनिक की धनाढ्यता व गरीव की गरीवी में वृद्धि का दौर चल रहा है तव जैन श्रावकों के सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि वे उक्त सिद्धान्तों को अपने जीवन में कितना लागू कर पाते हैं। वर्तमान पर्यावरण में परिग्रह-परिमाण का वास्तविक अर्थ है- अपनी ग्रहण-क्षमता को चरम सीमा पर पहुंचने से पहले ही सामान्य-जन के जीवन स्तर को अनुभव कर उससे संगत लगनेवाली मर्यादा स्वेच्छा से अंगीकार कर लेना और उससे अधिक अर्जन के स्रोतों को स्वयमेव वन्द करके रखना। इसके विपरीत आज देखा यह जा रहा है कि हम चरम महत्वाकांक्षी वनकर अपने भण्डार की ग्रहणशीलता को काल्पनिक रूप से विस्तृत कर लेते हैं, अपने आय-स्रोतों को पूरा-पूरा खुला रखते हैं और कभी-कभी दया व दान के नाम पर जो थोड़ा वहुत उलीचते हैं उसी को परिग्रह परिमाण व्रत की पूर्ति मान कर हर्प अनुभव कर लेते हैं। वस्तुतः यह परिग्रह परिमाण व्रत के नाम पर सस्ती पुण्येच्छा की तृप्ति का एक ओछा प्रयत्न होता है, जिससे समाज में व्याप्त दीनता का पोषण होता है, उन्मूलन नही। यह प्रवृति ढकोसला मात्र है और स्पष्ट ही पांचवे अणुव्रत की भावना से इसकी कोई संगति नहीं है।

परिग्रह-परिमाण व्रत की मर्यादा के परिपालन संवंधी एक और भी प्रश्न हमारे समाने आता है

कि तीर्थंकर—प्रणीत इस अर्थ-संहिता को स्वेच्छा से अपने जीवन में लागू करनेवाले जैनों की संख्या कितनी रही है ? इतिहास इस विषय में हमें कोई संतोष नही दे पाता और परम्परा व संस्कारों से जो मूल्यांकन हम जैन धर्मावलम्बियों का करते हैं उससे भी निराशा ही हाथ आती है और हमें यही मानने पर विवश होना पड़ता है कि यदि ऐसे जैनों की संख्या रही भी होगी तो वह केवल अंगुलियों पर ही गिनने योग्य होगी; जबकि भारतवर्ष में जैनों की संख्या कभी नगण्य नहीं रही और कई प्रदेशों में जैन धर्मावलम्बी सम्राटों का शासन भी रहा। सहज ही इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि हमने इस संहिता का निर्माण करके उसके पालन का दायित्व केवल व्यक्ति की इच्छा पर ही छोड़ दिया, बजाय इसके कि हम तदर्थ एक सामाजिक विधि भी निर्धारित करते। इसी ढिलाई का परिणाम हुआ कि इन स्थायी जीवन मूल्यों की सदियों तक मिट्टीपलीद होती रही और इस युगान्तरकारी कार्यक्रम का भी कोई लाभ मानव समाज को नहीं मिल पाया। अब उसी कमी का परिमार्जन कर आज का लोकतन्त्रीय शासन जब सर्वजनहिताय सर्व जन-सुखाय इन्हीं स्वर्ण-सिद्धान्तों को वैधानिक प्रक्रिया के सहारे लागू करने जा रहा है तो असामयिक चीख पुकार व खीझ कम से कम जैनों के लिए शोभास्पद नहीं कही जा सकती ? वस्तुतः तो जैनों के लिए यह संतोष और हर्ष का विषय होना चाहिए कि उनके सिद्धान्तों का आधार लेकर अब समाज-व्यवस्था रूपी ऐसा भवन उठाया जा रहा है जिसके स्तंभ समता और बन्धुता के, अहिंसा और स्वाधीनता के है और जो विश्व के चिर-पीड़ित मानव को निश्चिन्तता प्रदान करने की आशा पूरी कर सकेगा।

●●————

बुद्धिमान और पुरुषार्थी व्यक्ति लक्ष्मी को नहीं खोजता, किंतु लक्ष्मी स्वयं उसे खोजती रहती है।

लक्ष्मी से किसी ने पूछा—"तुम विद्वान से डाह करती हो और आलसी से दूर भागती हो तो फिर किसके पास रहती हो ?"

लक्ष्मी ने उत्तर दिया—"मैं विद्वान से नहीं, किन्तु अकेली विद्या से डाह करती हूं। दो अकेली स्त्रियाँ साथ नहीं रह सकती, किन्तु एक पुरुष के साथ दो स्त्रियाँ प्रेमपूर्वक साथ रह सकती है। मैं ऐसे पुरुष का वरण करती हूं जो विद्वान भी हो और पुरुषार्थी भी ..।"

—मधुकर मुनि (साधना के सूत्र २१३)

————●●

जैन-धर्म का प्राणतत्व

अहिंसा

—साध्वी श्री पुष्पावती 'साहित्यरत्न'

जैनदर्शन भारत का एक महान् दर्शन और धर्म है, यों तो विश्व के जितने भी दर्शन और धर्म है, उन सभी के अपने सिद्धान्त और आदर्श हैं, किन्तु उन सभी दर्शन और धर्मों से जैन दर्शन के सिद्धान्त और आदर्श अपनी अनूठी विशेषता रखते हैं, उसके सिद्धान्तों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह अहिंसा-प्रधान है। उसकी विचारधारा हिमालय की तरह उन्नत है और सागर की तरह विराट है। जैनधर्म व दर्शन की हजार-हजार विशेषताएं हैं, जिस पर हजारों पृष्ठों, में लिखा जाय तब भी कम है, तथापि संक्षेप में यहाँ उसके प्रमुख सिद्धांत अहिंसा पर चिन्तन किया जा रहा है।

अहिंसा :

अहिंसा जैन धर्म का प्राण तत्त्व है। विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा पर गहरा चिन्तन किया है, किन्तु अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विवेचन और गहन विश्लेपण जैन साहित्य में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र नहीं है। जैनसंस्कृति की प्रत्येक साधना में अहिंसा की भावना परिव्याप्त है उसके प्रत्येक स्वर में अहिंसा की मधुरध्वनि मुखरित है। जैनसंस्कृति की प्रत्येक क्रिया अहिंसामूलक है! चलना, फिरना, उठना, बैठना, शयन करना आदि सभी में अहिंसा का नाद ध्वनित हो रहा है।[1] विचार में, उच्चार में और आचार में सर्वत्र अहिंसा की सुमधुर झंकार है। भगवान् महावीर ने अहिंसा का उत्कर्ष बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा—जैसे जीवों का आधार स्थान पृथ्वी है, वैसे ही भूत, यानी ज्ञानियों के जीवन का आधार स्थान शान्ति-अहिंसा है।[2] अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ संगीत है। जब यह संगीत जन-जन

---

१ जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥ —दशवैकालिक अ. ४

२ जेय बुद्धा अतिक्कंता, जेय बुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा ॥ —सूत्रकृताङ्ग १-११।१६

के मन में झंकृत होता है, तब मानव-मन आनन्द में झूमने लगता है, यही कारण है कि सुदूर अतीत काल से ही साधक इसकी साधना और आराधना करते रहे हैं।

जैनागमों में अहिंसा को भगवती कहा है।[3] यह दया का अक्षय-कोप है। दया के अभाव में मानव, मानव न रहकर दानव हो जाता है। सुप्रसिद्ध विचारक इंगरसोल ने लिखा है, "जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और आंसुओं का फव्वारा सूख जाता है तब मानव रेगिस्तान की रेत में रेंगते हुए सांप के समान बन जाता है।"

जैन दर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं 'नहीं मरना' यह अहिंसा का एक पहलू है। मैत्री करुणा, दया और सेवा—यह उसका दूसरा पहलू है। यदि हम केवल अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही चिन्तन करें तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणीमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा-शुश्रूषा करना, उन्हें कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी सम्यक् प्रकार से चिन्तन करना होगा। जैन आगम प्रश्नव्याकरण में जहां अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिये गए हैं[4] वहां पर उसे दया, रक्षा, अभय आदि नामों से भी अभिहित किया है।[5]

अनुकम्पादान, अभयदान तथा सेवा आदि अहिंसा के ही रूप हैं, जो प्रवृत्ति-प्रधान है। यदि अहिंसा केवल निवृत्ति-परक ही होती तो जैनदर्शन के महान् आचार्य इस प्रकार का कथन कदापि नहीं करते। भाषा शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा शब्द निषेध-वाचक है, इसलिए कितने ही व्यक्ति भ्रम में फंस जाते हैं कि अहिंसा केवल निवृत्ति परक है उसमें प्रवृत्ति जैसी कोई वस्तु नहीं है, पर गंभीर चिन्तन के पश्चात् यह स्पष्ट हुए बिना न रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू है। इसलिए निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों में अहिंसा समाई हुई है। प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, जहां एक में प्रवृत्ति होती है वहां दूसरे से निवृत्ति भी होती है, ये दोनों पहलू अहिंसा के साथ संलग्न है। जो केवल अहिंसा को निवृत्ति-प्रधान ही मानता है वह अहिंसा के मर्म को समझता नहीं है, वह अहिंसा की पूर्ण साधना नहीं कर सकता। जैन श्रमणाचार के उत्तर गुणों में समिति और गुप्ति का विधान है। समिति प्रवृत्ति-परक है और गुप्ति निवृत्तिपरक है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा रूपी सिक्के के प्रवृत्ति और निवत्ति ये दो पहलू है। एक दूसरे के अभाव में वह अपूर्ण है।

जैन दर्शन की अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नहीं है, वह विध्यात्मक है। उसमें विश्वबन्धुत्व और परोपकार की भावना उछालें मार रही है। जैनधर्म की अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत रहा है उसका आदर्श जीओ और जीने दो तक ही सीमित नहीं हैं, किन्तु उसका आदर्श है दूसरों के जीने में सहयोगी बनो, अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी न्योच्छावर कर दो।

अहिंसा एक महासरिता के समान है। जब वह साधक जीवन में इठलाती बलखाती हुई चलती है तब साधक का जीवन सरसब्ज और रमणीय बन जाता है। अहिंसा का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित करते हुए महावीर ने कहा—सर्वप्राणों, सर्वभूतों, सर्वजीवों और सर्वसत्वों, को नहीं मारना चाहिए न पीडित करना

---

३ एसा सा भगवती। —प्रश्नव्याकरण सूत्र
४ प्रश्नव्याकरण सूत्र (संवर द्वार)
५ दया देहि-रक्षा —प्रश्नव्याकरण वृत्ति

चाहिए, और न उनको मारने की बुद्धि से स्पर्श ही करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध शाश्वत व नियत है।[६] प्राणी-मात्र के प्रति संयम भाव रखना अहिंसा है।[७] किसी प्राणी को न सताना और न दुर्भाव रखना यह अहिंसा का मूलभूत सिद्धान्त है। इसी में विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है।[८] हिंसा के गहनतम अंधकार को नष्ट करने के लिए अहिंसा के महादीपक की आवश्यकता है।

अहिंसा का मूल आधार समत्वयोग है। समत्वयोग आत्म-साम्य की दृष्टि प्रदान करता है। जिसका तात्पर्य है कि विश्व की सभी आत्माओं को समदृष्टि से निहारना। सभी आत्माओं के प्रति अपने-पराये का भेद न रखकर सब के साथ समतामूलक व्यवहार—यह समत्वयोग की सबसे महान् साधना है। समत्वयोग की साधना पर बल देते हुए लिखा है 'सब आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझो। अन्य प्राणियों की आत्मा में अपने आपको देखो, और संसार की समस्त आत्माओं को अपने भीतर देखो।[९] तात्त्विक दृष्टि से सभी आत्माएं एक सदृश है। सभी में एक ही चेतना जगमगा रही है। सुख और दुःख की अनुभूति सबके समान होती है और जीवन-मरण की प्रतीति भी। सभी जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता। सभी को अपना जीवन प्यारा है।[१०] गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने इस समत्व-योग की साधना करनेवाले को परम योगी कहा है—'जो सभी जीवों को अपने समान समझता है और उनके सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझता है वही परम योगी है।[११]

भगवान् महावीर ने कहा—छह जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान समझो।[१२] प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझो।[१३] हे मानव! जिसको तू मारने की भावना रखता है, जरा चिन्तन कर, वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला प्राणी है। जिस पर तू अधिकार जमाने की आकांक्षा करता है वह तेरे समान ही एक चेतन है। जिसे तू दुःख देने की सोचता है वह तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसको तू अपने वश में करने की इच्छा करता है वह तेरे जैसा ही एक जीव है। जिसका प्राण तू लेने की भावना रखता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है।[१४]

जैन धर्म में अहिंसा की एक अविच्छिन्न धारा होते हुए भी साधु-अहिंसा और गृहस्थ-अहिंसा के भेद से उसके दो विभाग कर दिये हैं। साधु की अहिंसा को महाव्रत कहा है। उत्तराध्ययन में अहिंसा

---

६ सव्वेपाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा न उवद्दवेयव्वा एसधम्मे सुद्धे नियए सासए समेच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए। —आचारांग

७ अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो। —दशवैकालिक

८ सूत्रकृताङ्ग १।१।४।१०

९ सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ। —दशवैकालिक सूत्र ४।७

१० सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुहपडिकूला। अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं। —आचारांग सूत्र १।२।३

११ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ —गीता अ. ६ श्लो० ३२

१२ अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए। —दशवैकालिक १०।५

१३ आयतुले पयासु। —सूत्रकृताङ्ग १।१०।३

१४ आचारांग सूत्र १-५।५

महाव्रत की परिभापा इस प्रकार की है—मन. वचन, काय तथा कृत-कारित और अनुमोदन से किसी भी परिस्थिति में त्रस स्थावर जीवों को दु:खित न करना अहिंसा महाव्रत है।[१५] अहिंसाव्रती साधु के लिए आवश्यक है कि अपना जो अहित करे उसके प्रति भी क्षमाभाव रखे। उसे अभयदान दे। सदा विश्वमैत्री व विश्वकल्याण की भावना रखे तथा वध करने के लिए तत्पर होने पर भी उसके प्रति जरा भी क्रोध न करे।[१६] इस प्रकार अहिंसा का पालन करना दुष्कर है।[१७] अहिंसाव्रती साधु को ऐसा कोई भी क्रिया या मानसिक संकल्प न करना चाहिए जो दूसरों के लिए दु:ख का हेतु हो।

परन्तु गृहस्थों की अहिंसा में कुछ मर्यादाएं हैं। उनके लिए देश अहिंसा के पालन का उपदेश है। वे गृहस्थाश्रम में रहकर पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं कर सकते। उन्हें अपने परिवार की, अपनी जाति की, अपने देश की, अपनी सम्पत्ति की, और स्वयं अपनी भी रक्षा करने के लिए एवं अपने जीवन निर्वाह के लिए आरम्भादि कार्य करने पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि जब गृहस्थ हिंसा को छोड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है तो वह समस्त हिंसा को चार भागों में विभक्त कर लेता है। वे चार भाग इस प्रकार हैं—

(१) **सांकल्पिकी**—संकल्प-पूर्वक होनेवाली हिंसा
(२) **आरम्भी**—भोजनादि बनाने में होनेवाली हिंसा
(३) **उद्योगी**—कृपि आदि से उत्पन्न होनेवाली हिंसा
(४) **विरोधी**—आत्म-रक्षा के निमित्त से होनेवाली हिंसा

इन चार प्रकार की हिंसाओं में संकल्पपूर्वक की जानेवाली हिंसा का गृहस्थ द्रव्य और भाव दोनों तरह से त्याग करता है, अन्य तीन का त्याग वह भाव से करता है, क्योंकि द्रव्य से हिंसा होने पर भी उसका भाव हिंसा की ओर नहीं रहता है, किन्तु आत्म-पोपण और आत्म-रक्षण की ओर रहता है। इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग एवं उपयोग अव्यवहार्य नहीं है। यह तो उपभोक्ता और प्रयोक्ता के मनोभावों पर निर्भर है। निष्कर्ष यह है कि गृहस्थाश्रम में रहकर अहिंसा का पालन सम्यक्प्रकार से किया जा सकता है। इतिहास साक्षी है कि भगवान् महावीर के युग में अहिंसा अणुव्रत का पालन राजा से लेकर रंक तक सभी करते थे।

कितने ही लोगों की भ्रान्त धारणा है कि अहिंसा कायरता का प्रतीक है, वह देश को परतंत्रता

---

१५ **जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।**
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव॥ —उत्तरा० ८।१०

१६ **पुव्विं च इहिं च अणागयं च मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।** —उत्तरा० १२।३२
(ख) **महप्पसाया इसिणो हवंति न हु मुणी कोवपरा हवंति।** —उत्तरा० १२।
(ग) **हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए।** —उत्तरा० २।२६
(घ) **मेत्तिं भूएसु कप्पए।** —उत्तरा० ६।२
(ङ) **हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।** —उत्तरा० ८।३

१७ **समया सव्वभूएसु सत्तु मित्तेसु वा जगे।**
पाणाइवायाविरए जावज्जीवाए दुक्करं॥ —उत्तरा० १६।२६

की बेडियों में जकड़ती है और कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ने से रोकती है, पर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अहिंसा कायरता नहीं,अपितु वीरता सिखाती है। अहिंसा वीरों का धर्म है। अहिंसा का यह वज्र आघोष है—मानव ! तू अपनी स्वार्थ-लिप्सा में डूबकर दूसरे के अधिकार को न छीन। किसी भी देश या राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न कर ! किसी भी समस्या का समाधान शान्तिपूर्वक कर ! इतने पर भी यदि समस्या का सम्यक् समाधान नहीं हो रहा है और देश, जाति, व धर्म की रक्षा करना अनिवार्य हो तो उस समय वीरता-परक कदम उठा सकते हो, किन्तु अहिंसा के नाम पर कायर बनकर घर में मुंह छिपा कर बैठना उचित नहीं है, अपने प्राणों का मोह कर कायर मत बनो ! किन्तु समय पर अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करो, यदि उस समय तुमने कायरतापूर्ण व्यवहार किया तो वह अहिंसा नहीं, आत्मवंचना है।

अहिंसा यह कभी नही सिखाती कि अन्यायों को सहन किया जाय, क्योंकि अन्याय करना अपने आप मे पाप है और अन्याय को कायर होकर सहन करना महापाप है, जिसमें अन्याय के प्रतिकार की शक्ति नही है, वह अहिंसा नाम मात्र की अहिंसा है।

अन्याय का प्रतीकार हिंसक और अहिंसक दोनों रूप से किया जा सकता है। हिंसक प्रतिकार गृहस्थ वर्ग से सम्बन्धित है। वह समय पर देश, जाति व धर्म की रक्षा के लिए सब कुछ कर सकता है, क्योंकि महावीर के श्रावक अनाक्रमण व्रत को ग्रहण करते थे, आत्म-रक्षा के लिए प्रत्याक्रमण के लिए वे खुले रहते थे, किन्तु श्रमण हिंसक प्रतिकार नहीं करता, वह समाज व राष्ट्र में पनपनेवाले अन्यायों व अत्याचारों का प्रतीकार अहिंसात्मक ढंग से करता है और यह अहिंसक प्रतिकार आत्म-बल से किया जाता है। साधक का जितना अधिक आत्मबल होगा उतनी ही उसे अधिक सफलता प्राप्त होगी ! भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध, ईसा और गाधी आदि अहिंसक प्रतिकार के उदाहरण है। उन्होंने अहिंसा के द्वारा देश,समाज और राष्ट्र में व्याप्त हिंसा और अन्याय का प्रतीकार किया।

आजसे पच्चीसौ वर्ष पूर्व का समय भारतीय इतिहास में अधकार पूर्ण के रूप में समझा जाता रहा है, उस समय भारतीय क्षितिज में अंध-विश्वास और रूढिवाद के काले कजरारे बादल मंडरा रहे थे, यज्ञ के नाम पर, देवी-देवताओं के आगे मूक पशुओं की बलि दी जा रही थी। स्त्री-समाज हीनभावना से देखा जाता। वे मानवोचित व्यवहारों से वंचित थी। शुद्रों की दशा पशुओं से भी दयनीय थी। उस समय भगवान् महावीर ने क्रान्ति की बिगुल बजाई। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में घूमकर अहिंसा और प्रेम का दिव्य सन्देश सुनाया। जातिवाद का विरोध किया, उनके विमल विचारों की वायु से कुप्रथाओं के बादल बिखर गये और सर्वत्र क्रान्ति का प्रकाश जगमगाने लगा। मानव-समाज में सर्वत्र शान्ति की लहर लहराने लगी। रोहिणेय जैसे दुर्दमनीय दस्युराज और अर्जुनमाली जैसे प्रबल हत्यारे उनकी अहिंसक क्रान्ति से दयामूर्ति बन गये।

अहिंसा अतीतकाल से ही मानवता का संरक्षण करती रही है, जब जीवन में विपत्ति के बादल मडराये, शोक की बिजलियां चमकी और भय की बिभीपिका दहकने लगी, तब अहिंसा ने प्रलय के मुख में जाते हुए विश्व को बचा लिया, अहिंसा से ही विश्व सुरक्षित रह सकता है। अहिंसा समस्त प्राणियों का विश्राम स्थल है, क्रीड़ा भूमि है और मानवता का शृंगार है। अहिंसा का सामर्थ्य असीम है।

दर्शन के जन्म और विकास की कहानी

क्या सब मिथ्यादृष्टियों का पुलिन्दा जैनदर्शन है ? या सब का सम्यकीकरण……… ?

दर्शन और जैनदर्शन

—मुनिश्री नथमल जी

मनुष्य चेतनावान प्राणी है। इसलिए वह सोचता है, देखता है। सत्य की खोज, सत्य का विकास, एक व्यवस्थित रूप में, सामाजिक सन्दर्भ में हुआ है। मनुष्य ने सामाजिक जीवन जीना शुरू किया, उसके बाद उसने सत्य की खोज भी बड़ी तीव्रता से की। उसने देखा कि पहाड़ क्या हैं ? नदियाँ क्या हैं ? ये दिखाई देनेवाले पदार्थ क्या हैं ? क्या यही सब कुछ है या इनसे परे भी कुछ है ? क्या ये निर्मित हैं या स्वयंभू हैं ? इनका कर्त्ता कौन है ? अगर है तो वह ज्ञात है या अज्ञात है ? अनेक जिज्ञासाएँ मनुष्य के मन में पैदा हुई। और उसने खोज शुरू कर दी। अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाने के लिए प्रयत्न शुरू किया। इस श्रृंखला में दृष्टि का विकास हुआ और विचार का विकास हुआ। दृष्टि और विचार—ये दोनों दर्शनपरक हैं। दर्शन का निर्माण किया नहीं गया, वह बन गया। अन्तर्दृष्टि से देखने का प्रयत्न हुआ। मनुष्य ने देखा। देखना हमारा काम है। हम देख सकते हैं। किन्तु मैं जो देखता हूं, दूसरा उसे माने या न माने, यह मेरे पर निर्भर नहीं है। हम निर्भर हैं सामनेवाले व्यक्ति पर। दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए मैंने जो अन्तर्दृष्टि से देखा, उसे समझाने के लिए, उसकी व्याख्या करने के लिए तर्क का सहारा लिया। जो देखा जाता है, वह दूसरे तक पहुंचाया जाता है, तर्क के माध्यम से, अगर तर्क ठीक बैठ जाता है। मैंने जो देखा, मैं अपने तर्क के द्वारा प्रस्तुत करता हूँ और सामनेवाले व्यक्ति को मेरा तर्क स्वीकार्य हो जाता है, तो मेरा विचार और उसका विचार, दोनों का विचार एक हो जाता है। तर्क दोनों को जोड़ने का काम करता है। अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक है, अपना सब कुछ है और तर्क है दोनों को जोड़ने वाला सूत्र। दोनों में वैचारिक एकता का संपादन करनेवाला सूत्र है तर्क। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि और विचार ये दोनों मिलकर दर्शन की आत्मा का निर्माण करते हैं। दर्शन का प्रासाद इन दोनों पर खड़ा हुआ है।

दर्शन की धारा बहुत प्राचीन है। विश्व के इतिहास में दो थे दर्शन के आविष्कारक—हिन्दुस्तान और यूनान। भारतीय दार्शनिक और यूनानी दार्शनिक—ये दोनों विश्व के सब दर्शनों को प्रभावित करने

वाले हुए हैं। भारत के दार्शनिकों ने पूर्वी जगत् को प्रभावित किया। पश्चिम का सारा दर्शन यूनान के दर्शन से प्रभावित है, और पूर्व के सारे दर्शन भारत के दर्शन में प्रभावित है। इस प्रकार विश्व के पटल पर इन दो देशों के दार्शनिकों ने अपनी विचारधारा का पूरा प्रभुत्व प्रस्थापित किया।

मेरे सामने दर्शन की अनेक धाराएँ हैं। मैं धाराओं का वर्गीकरण इस प्रकार करूं। मनुष्य ने जब देखा तो प्रारम्भिक जांचने में जो सबसे स्थूल था, वह सामने आ गया। मैं खड़ा हूँ और इस वृक्ष को सुगमता से देख सकता हूँ, परन्तु वृक्ष के नीचे चलनेवाली चींटी छोटी है, सूक्ष्म है उस पर मेरी दृष्टि नहीं दौड़ती। आदमी स्थूल को पहले पकड़ता है और सूक्ष्म तक पहुँचने में बहुत गहराई में उतरना पड़ता है। सबसे पहले हमारे सामने जो स्थूल जगत् है, वह है भौतिक जगत्। दार्शनिकों ने सबसे पहले भौतिकता को पकड़ा, भूतो को पकड़ा। उन्होंने देखा—दुनियां में पृथ्वी है, पानी है, अग्नि है और वायु है। ये चार चीजें प्रमुख है—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु। उन्होंने देखा कि जो दिखाई दे रहा है, वह इन्हीं के द्वारा निष्पन्न है। इन चार भूतों से दुनियां का निर्माण हुआ है।

कुछ चिन्तक आगे बढ़े। उन्होंने आकाश को भी खोजा। आकाश भी एक तत्व है; एक भूत है। तो भारतीय दर्शन में दो धाराएँ चली। एक चतुर्भूतवादी और एक पंचभूतवादी। पश्चिमी दार्शनिकों में भी इन्हें लेकर काफी विचार भेद रहा। किसी ने माना सारी दुनियां का मूल जल है, तो किसी ने माना कि सारी सृष्टि का मूल वायु है। तो किसी ने माना कि सारी सृष्टि का मूल अग्नि है। जलवादी, वायुवादी और अग्निवादी—ये स्थूलवादी विचारक रहे है।

इन दोनों धाराओं के बाद फिर उनके मन में द्वन्द्व उत्पन्न हुआ कि जो भूत है, उसके अतिरिक्त भी कुछ दिखाई देता है। यह कौन सोचता है? विचार कौन करता है? यह जानने का प्रयत्न कौन करता है? भूत तो इन्हें नही जानता। फिर उन्होंने चेतना की ओर ध्यान दिया। चेतना भी एक तत्व है जो कि भूत का गुण नही है। पृथ्वी नही जान सकती, पानी नही जान सकता, अग्नि नही जान सकती। चेतना कोई विलक्षण चीज है। फिर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चेतना भूतों की परिणति है। वह भूतों की क्रिया है। भूतो के अतिरिक्त कोई तत्व नहीं है। अगर अतिरिक्त तत्व होता तो चेतना भूतों में पृथक् नहीं दिखाई देता। जैसे जल का कण हमें दिखाई देता है, उसी प्रकार चेतना की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही दिखाई देती। चेतना का स्वतन्त्र रूप हमारे सामने कभी प्रस्तुत नही होता। न पहले दिखाई देता है और न बाद में ही दिखाई देता है। इसलिए चेतना कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। किन्तु उन भूतों की एक परिणति है। भूतों की एक विशिष्ट क्रिया है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नही है। चेतना को स्वीकार तो किया, किन्तु चेतना की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

मैंने भूतवादियों की एक धारा आप लोगों के सामने प्रस्तुत की। इसमें चतुर्भूतवादी भी हैं, पंचभूतवादी भी हैं, और चेतना की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते हुए चेतना को माननेवाले भी है।

दूसरी धारा वह है जिसने स्थूल को देखा और उसके साथ-साथ सूक्ष्म को भी देखा। स्थूल से परे क्या है, उसे भी देखने का प्रयत्न किया। और उसमें वे सफल भी हुए। वह है अध्यात्मवादी दर्शनों की धारा। एक भौतिकवादी दर्शन धारा और एक अध्यात्मवादी दर्शन धारा। जो आन्तरिकता तक पहुँचकर, गहराई तक पहुँचकर देखा कि भूतों से परे भी एक तत्व है, एक सूक्ष्म तत्व है, वह है चेतन शक्ति। वह स्वतन्त्र सत्ता है और भूत से वह उत्पन्न नहीं है। यह हो गई अध्यात्मवादी धारा।

जैनदर्शन अध्यात्मवादी धारा है। वह आत्मवादी है और चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करनेवाली धारा है। इसलिए वह अध्यात्मवादी है। चैतन्यवाद की अनेक रूपों में चर्चा है। हमारे यहाँ कई प्रमुख दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों का प्रतिपादन किया है। एक मुख्य दर्शन है वेदान्त, जो उपनिषदों के आधार पर अपने दर्शन की स्थापना करता है। उपनिषद् भारतीय ज्ञानराशि के बहुत बड़े खजाने या कोष माने जाते हैं। उपनिषदों में शताब्दियों तक इतना सूक्ष्म चिन्तन हुआ है, सृष्टि के गहनतम रहस्यों को जानने का इतना तीव्रतम प्रयत्न मनीषियों ने किया है, सचमुच वह भारतीय चिन्तन की अपूर्व ज्ञानराशि है। वेदान्त उनका प्रतिनिधित्व करता है। वेदान्त का सिद्धान्त है, एक ही ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता, इस चेतन की है, दूसरी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। यहाँ भूतवादी और चैतन्याद्वैतवादी की एक टक्कर है, एक संघर्ष है। एक और भूतवादी या अचेतनाद्वैतवादी कहते हैं कि भूत ही वास्तविक सत्ता है। चेतन वास्तविक सत्ता नहीं है। तो उनके सामने एक विरोधी के रूप में वेदान्त दर्शन आता है। वह कहता है कि चेतना ही वास्तविक सत्ता है, भूत वास्तविक सत्ता नहीं हैं। भूतवादी कहते हैं कि भूत से चेतन उत्पन्न हुआ है, तो चेतनाद्वैतवादी कहते हैं कि चेतन से भूत उत्पन्न हुआ है। दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। एक जड़ द्वैत है और दूसरा चैतन्यद्वैत है। दोनों एक दूसरे के आमने-सामने खड़े हैं। दोनों एक दूसरे की टकराहट को झेल रहे हैं। ये एक दूसरे का निरसन और खण्डन कर रहे हैं।

जैनदर्शन चेतन को स्वीकार करता है। चेतन की वास्तविकता को स्वीकार करता है। फिर भी अचेतन की अवास्तविकता को स्वीकार नहीं करता। चेतन को जितना वास्तविक मानता है उतना ही अचेतन को भी वास्तविक मानता है। इसलिए जैनदर्शन वेदान्त दर्शन से भिन्न है। वह भूताद्वैतवादी का सीधा विरोधी नहीं है। क्योंकि वह अचेतन की वास्तविकता को स्वीकार करता है, जबकि वेदान्त दर्शन अचेतन की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करता।

इसलिए जैन दर्शन दोनों के मध्य में है, और उसकी धारा दोनों की तरफ प्रवाहित होती है—इधर भी जाती है उधर भी जाती है। 'तुम कहते हो चेतन वास्तविक सत्ता है, हम इसे स्वीकार करते हैं। तुम कहते हो अचेतन वास्तविक सत्ता है, हम इसे भी स्वीकार करते हैं। चेतन को भी वास्तविक मानते हैं और अचेतन को भी वास्तविक मानते हैं। हम दोनों को वास्तविक मानते हैं।' जैन दर्शन अपने इस अपूर्व तत्त्व के द्वारा, अपने इस स्वीकार के द्वारा द्वैतवादी है—दोनों की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करनेवाला है।

दर्शन की तीन धाराएँ हैं—भूताद्वैत की, चैतन्याद्वैत की और द्वैत की। भारतीय दर्शन इन तीन धाराओं में बंटे हुए हैं। यद्यपि आज के दर्शन के विद्वान् यह मानते है 'कि सांख्यदर्शन बहुत प्राचीन है। जैनदर्शन का विकास सांख्यदर्शन के आधार पर हुआ है।' किन्तु मुझे लगता है कि यह बहुत ही एकांगी स्वीकार है। और यह इसलिए भ्रम चलता आ रहा है कि किसी भी समर्थ जैन विद्वान् ने इसकी मीमांसा नहीं की। हम देखेंगे कि सांख्य सूत्र उतना प्राचीन नहीं है जितने कि जैन आगम प्राचीन हैं—और वस्तुतः सांख्य दर्शन कोई वैदिक दर्शन नहीं है। यह श्रमण दर्शन है। इसीलिए वैदिकों ने समय-समय पर सांख्य दर्शन को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शंकराचार्य ने कहा है कि यह कपिल का सांख्य दर्शन वेद-विरुद्ध है और वेदानुसारी जो मनुजी का वचन है, उसके यह विरुद्ध है। यानी श्रुति-विरुद्ध और स्मृति-विरुद्ध है। इसलिए यह विचारणीय नहीं है।

पद्मपुराण में लिखा है कि नैयायिकदर्शन, वैशेषिकदर्शन, पतंजलि का योग दर्शन—ये श्रुति-विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है। मुझे आश्चर्य होता है कि किसी भी सशक्त विद्वान् ने इस पर दृष्टि नहीं डाली। न्याय सूत्र की रचना महावीर के उत्तरकाल में हुई है—ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुई है। वैशेषिक सूत्र की रचना भी लगभग इन्हीं शताब्दियों में हुई। पतंजलि-योग दर्शन की रचना भी इसी काल के आस-पास हुई है। ये रचनाएँ अवश्य ही श्रमण दर्शनों से प्रभावित रही हैं। उन पर श्रमणों का प्रभाव पड़ा है. उनके तत्वों का प्रभाव पड़ा है। वे श्रमण दर्शन से जितनी प्रभावित रही हैं उतनी वे वेद-दर्शन से प्रभावित नहीं रही हैं। क्योंकि भगवान महावीर, भगवान बुद्ध और आजीवक गोशालक आदि-आदि जो शक्तिशाली श्रमण तीर्थंकर थे, उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड का निरसन किया। उस समय तत्व मीमांसा के द्वारा वैदिक दर्शनवाले भी इतने प्रभावित हो गए कि वे उनके तत्वों का खण्डन करने में समर्थ नहीं रह गए। यह पाँच-सात शताब्दी का काल एक प्रकार से श्रमणों की प्रबुद्धता का काल रहा है। उनके तत्वों का, उनकी सात्विक पद्धति का और सात्विक प्रतिपादन शैली का इतना प्रभाव रहा कि हर कोई उनसे प्रभावित रहा। इस काल में जो शास्त्र लिखे गए, जो ग्रन्थ लिखे गए वे सीधे वेदों से प्रभावित नहीं रहे, उन्हें दूसरा मार्ग भी स्वीकार करना पड़ा।

आप पतंजलि के योग-दर्शन को देख जाइए। उसमें जो शब्द आपको मिलेंगे, वे किसी भी वैदिक साहित्य में आपको नहीं मिलेंगे। केवली, शुक्लध्यान आदि-आदि शब्दों को आप जैन साहित्य में ढूँढ सकते हैं, किन्तु किसी भी वैदिक ग्रन्थ में ये नहीं मिलेंगे। सांख्य दर्शन के शब्दों की आप मीमांसा कीजिए, यही बात है। सांख्य और योग दोनों एक धारा में चले जाते हैं। यह बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। उस समय के श्रमणों के दर्शन का, श्रमणों की विचार पद्धति का बहुत बड़ा प्रभाव रहा है और उस विचार से प्रभावित होने के कारण ही जो केवल सांख्य पर विचार करते थे, श्रुतियों और स्मृतियों के आधार पर तत्व की मीमांसा करते थे, वे उपादेय नहीं माने गए। स्वीकार्य नहीं रहे।

जैन दर्शन ने द्वैतवाद की धारा को स्वीकार किया, मुझे यह नहीं लगता कि इस पर सांख्य का कोई प्रभाव है। आज के दर्शनकार, आज के इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि सांख्य भी द्वैतवादी था। उसने दो तत्व स्वीकार किए हैं प्रकृति और पुरुष। यह प्रभाव जैनों पर पड़ा। इसीलिए जैनों ने दो तत्व माने। चेतन और अचेतन। यह सांख्य दर्शन का जैन दर्शन पर प्रभाव है।' यह उन लोगों का निरूपण है। ऐसा मानने का प्रमुख कारण यह है कि जैन दर्शन बहुत कम विद्वानों के समक्ष पहुँचा। और जब पहुँचा तो कुछ ही ग्रन्थ पहुँचे। किसी भी दर्शन के विचार लिखनेवाले ने मूल जैन आगमों का गहराई से अध्ययन किया हो, ऐसा नहीं लगता। पहला ग्रन्थ पहुँचा, तत्वार्थसूत्र। और फिर उसकी व्याख्याएँ पहुंची हैं और फिर न्यायशास्त्र के ग्रन्थ पहुंचे हैं। किन्तु तत्वार्थ से पाँच-छह शताब्दी पूर्व तक कोई भी ग्रन्थ उनके पास नहीं पहुंचा। उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गए हैं, उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि जैन दर्शन सांख्य दर्शन से प्रभावित होकर द्वैतवादी बना है।

सांख्य ने प्रकृति और पुरुष ये दो माने हैं। जितना जैन दर्शन द्वैतवादी है, उतना ही सांख्य दर्शन भी द्वैतवादी है। क्योंकि वह स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। किन्तु द्वैतवादी होने पर भी उनकी मौलिक धाराओं में बहुत बड़ा अन्तर है। सांख्य दर्शन स्वीकार करता है कि प्रकृति से सारी

सृष्टि का विकास हुआ है। जितना दृश्य जगत् है, उसका विकास प्रकृति से हुआ है। मूल कारण है प्रकृति और प्रकृति की विकृति है सृष्टि। प्रकृति का विकार यह हमारा जगत् है।

जैन दर्शन ने अचेतन को स्वीकार किया है। किन्तु उसकी अचेतन की स्वीकृति सर्वथा मौलिक है, किसी से प्रभावित नहीं है। अचेतन की जितनी सूक्ष्म व्याख्या, जितनी रहस्यमयी व्याख्या और वास्तविक व्याख्या जैन दर्शन ने की, उतनी और किसी भी भारतीय दर्शन ने नहीं की।

अचेतन के पांच प्रकार जैन परम्परा में बताए हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। धर्म, अधर्म—इन दो का स्वीकार किसी भी भारतीय दर्शन ने नहीं किया है। जो सम्पूर्ण विश्व की गति और स्थिति में सहायक बनता है, या जिसके कारण से गति और स्थिति होती है, उस अचेतन तत्व धर्म और अधर्म की स्वीकृति न सांख्य दर्शन में है और न किसी अन्य दर्शन में ही। यह जैन दर्शन की विलक्षण स्वीकृति है। और किसी भी दर्शन ने न इस पर विचार किया और न इसका खण्डन किया। धर्म और अधर्म को पुण्य-पाप की दृष्टि से तो स्वीकार किया गया किन्तु धर्म और अधर्म एक अचेतन तत्व के दो रूप हैं, और वे गति और स्थिति के माध्यम हैं, इस रूप में दूसरे दार्शनिकों ने इस बात को पकड़ा ही नहीं, तब खण्डन करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अब रहा पुद्गल का प्रश्न। सांख्य दर्शन की सारी प्रकृति की जो विकृति है और प्रकृति का प्रतिपादन, उसमें पौद्गलिक जगत् की व्याख्या अनिवार्य है। यानी पुद्गल के विभिन्न परिणमन और विभिन्न परिणतियां जो सहजभाव से या चेतन जगत् के सहयोग या सम्पर्क से होती हैं। उनकी विभिन्न व्याख्याएँ जो हैं, उनका ही दूसरा नाम है प्रकृति की व्याख्या।

सांख्य की प्रकृति का मुख्य भाग आकाश और पुद्गल है। वह इन दो तत्वों में समाहित हो जाता है। जैन दर्शन का अचेतन का स्वीकार बहुत व्यापक, बहुत वैज्ञानिक और स्वतन्त्र तथा सर्वथा मौलिक है। यह किसी भी दर्शन का ऋणी नहीं है या किसी भी दर्शन की उधार देन नहीं है।

स्मृतिकारों की मीमांसा करें तो यह कभी भी समझ में नहीं आता कि जैन दर्शन ने द्वैतवाद के रूप में किसी दूसरे से ऋण लिया है या उधार ली है। इसलिए यह जैनदर्शन की मौलिक देन है कि विश्व में दो वास्तविक सत्ताएं हैं। जैन दर्शन द्वैतवादी है। विश्व की व्याख्या करने की विभिन्न दृष्टियां रही हैं। शंकर ने व्याख्या की—'विश्व जो दिखाई दे रहा है, वह पारमार्थिक नहीं है, वास्तविक सत्य नहीं है।' प्रश्न हुआ, तो फिर वह क्या है? उत्तर दिया, माया है। एक सुषुप्ति अवस्था है। आपने स्वप्न में सिंह को देखा। आप भय से प्रकम्पित हो गए। आप जागृति अवस्था में आए, सिंह का भय समाप्त हो गया। स्वप्नावस्था का सिंह जागृत अवस्था का सिंह नहीं है। स्वप्नावस्था में सिंह की वास्तविक सत्ता नहीं है। इसलिए सारा सापेक्ष-सत्य है।

हम लोग जागृत अवस्था में जो देख रहे है और जो हमें वास्तविक रूप में दिखाई दे रहा है, किन्तु परम ब्रह्म की स्थिति में जाने पर वह वैसे ही मिथ्या हो जाएगा, असत्य हो जाएगा, जिस प्रकार स्वप्न जगत् के दृश्य जागत अवस्था में मिथ्या और असत्य हो जाते हैं। इसलिए जागृत अवस्था के सत्य भी सापेक्ष-सत्य हैं। इस प्रकार उन्होंने सत्य की दो व्याख्याएं कर दी। एक सापेक्ष-सत्य और एक निरपेक्ष-सत्य। केवल ब्रह्म और परम चेतन सत्य है, और सारा सापेक्ष-सत्य है। जो सापेक्ष सत्य है, वह सीमित सत्य है।

बौद्ध धर्म में दो धाराएं हैं। उनमें एक धारा है संवृति सत्य और एक धारा है पारमार्थिक सत्य।

शंकर के गुरु थे गौड़पाद। वे बौद्धधर्म के बहुत बड़े विद्वान थे। हो सकता है कि गौड़पाद का शंकर पर प्रभाव पड़ा हो और उन्होंने प्रकारान्तर से उपनिषदों के आधार पर मायावाद की व्याख्या की हो।

जैन दर्शन के सामने भी यह प्रश्न है। क्या हम जो देख रहे हैं, वह माया है, असत्य है, अवास्तविक है? इस सारे सम्बन्ध में जैन दर्शन ने अनेकान्त दृष्टि अपनाई है। अनेकान्त जैन दर्शन की सबसे मौलिक सम्पत्ति है। जैन दर्शन की मान्यता है कि हर वस्तु को तुम देखो परन्तु एक दृष्टि से ही मत देखो। अलग-अलग दृष्टियों से देखो और उसकी व्याख्या करो। अगर ऐसा नहीं हो सकता है तो तुम्हारी दुर्बलता है। मानो कि यह चर्चा अपूर्ण है। और यह मानो कि तुम्हारा सीमित-दृष्टिकोण है। सीमित प्रतिपादन हो सकता है। तुम उसे पकड़ नहीं सकते। तुम्हें किसी का सहारा लेना पड़ता है। यही तुम्हारी अपूर्णता है।

जैन दर्शन में प्रतिपादन किया गया है कि जो कुछ भी तुम्हें दिखाई पड़ रहा है, वह अनन्त-धर्मा हैं। चाहे एक धर्म को लो या चाहे किसी दूसरी वस्तु को लो। वह अनन्तधर्मा है। तो क्या अनन्त-धर्मात्मक होने से समस्या सुलझ जाएगी? नहीं सुलझेगी। एक बात की ओर ध्यान दीजिए। अनन्त-धर्मात्मक ही नहीं, किन्तु अनन्त-विरोधी-युगल-धर्मात्मक है। एक परमाणु भी अनन्त-विरोधी-युगल-धर्मात्मक है। यानी कोई भी ऐसा तत्व नहीं है, जिसमें अनन्तविरोधी जोड़े नहीं हों। यह भारतीय चिन्तन में सर्वथा मौलिक दृष्टि और मौलिक बात है। यानी जो सत् है, वह असत् भी है। जो नित्य है वह अनित्य भी है। नित्य और अनित्य—यह विरोधी युगल है, विरोधी जोड़ा है। शंकराचार्य ने कहा कि दार्शनिक को पहले चार बातों पर ध्यान देना चाहिए, उसमें पहली बात यह है कि नित्य और अनित्य का ज्ञान, जो नित्य और अनित्य का ज्ञान नहीं रखता, वह दार्शनिक नहीं हो सकता, और प्रत्यक्षभाव से दर्शन का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

पतंजलि ने कहा कि वह अविद्या है जिसमें नित्य और अनित्य का भेद नहीं है। जो नित्य को अनित्य जानता है और अनित्य को नित्य जानता है, वह अविद्या है। शंकर ने कहा कि ब्रह्म तो नित्य है और संसार अनित्य है। यानी नित्य भी और अनित्य भी है। एक भी ऐसी चीज नहीं प्रतिपादित की जो नित्य ही है और अनित्य ही है। उन्होंने जैनों के सापेक्षवाद का खण्डन करने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं—'नित्य और अनित्य को एक साथ मानना विरोधाभास है और जैनों का भ्रम है।' वे ब्रह्म को नित्य मानते हैं। माया को अनित्य मानते हैं। परन्तु एक ही वस्तु को वे नित्य और अनित्य दोनों नहीं मानते। बहुत सारे दार्शनिक नैयायिक आदि आकाश को नित्य मानते हैं और दीपक को अनित्य। वह क्षण-भंगुर है। दीपक की लौ आई और गई। लौ आती है और चली जाती है। हवा का झोंका आता है। दीपक बुझ जाता है। दीपक है अनित्य और आकाश है सर्वथा नित्य। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—'जिस प्रकार दीपक अनित्य है, उसी प्रकार आकाश भी अनित्य है। और जैसे आकाश नित्य है वैसे ही दीपक भी नित्य है। यह स्याद्वाद की मोहर है, स्याद्वाद की मर्यादा है। दुनियां का कोई भी तत्व इसका खण्डन नहीं कर सकता। इस मर्यादा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

यह जो विरोधी-युगल का स्वीकार है, और अनन्तधर्मात्मक विरोधी युगलों का स्वीकार है, यह जैन दर्शन की सर्वग्राही और सर्वव्यापी दृष्टि का आधार है। हम केवल स्याद्वाद की बात करते हैं परन्तु इस बात को समझे बिना स्याद्वाद को कैसे समझेंगे? अनन्त विरोधी-धर्मात्मकता न हो तो स्याद्-

वाद की व्याख्या नहीं की जा सकती। जैन दर्शन एक सर्वग्राही दर्शन है। मूल बात को स्वीकार करने के के लिए हम सदैव तैयार हैं। कोई कठिनाई नहीं है। भूतवाद को स्वीकार करने के लिए हम तैयार हैं, उसकी वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए भी तैयार हैं, चैतन्यद्वैतवाद की बात को भी स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका अस्तित्व न हो, अस्तित्व की मर्यादा से हर वस्तु आक्रान्त है। अस्तित्व की मर्यादा को छोड़कर कोई भी वस्तु बाहर नहीं जा सकती।

अगर हम दो दिशाओं में चलते हैं तो चलते-चलते एक ऐसे स्थान पर पहुंचते हैं जहां केवल सत्ता है। सत्ता में कोई भेद नहीं होता। विभक्त होता है। विभक्त होता है केवल पर्याय। वस्तु का अस्तित्व जो है, वह शाश्वत है, कभी भी नष्ट नहीं होता। किन्तु कोई भी वस्तु पर्याय-शून्य नहीं है। परिवर्तन की मर्यादा से कोई भी वस्तु मुक्त नहीं है। हर वस्तु में परिवर्तन होता है। पर्याय बदलता रहता है। इस दृष्टि से पुराना पर्याय बदला और नया पर्याय आ गया। यानी जो सत् पर्याय था, वह चला गया और जो असत् पर्याय था वह आ गया। असत् पर्याय की उत्पत्ति और सत् पर्याय का नाश यह क्रम बराबर चलता रहता है। इसलिए सत्-असत् दोनों हमें स्वीकार्य हैं। यानी जैन दर्शन सत्वादी, असत्वादी नहीं किन्तु सत्-असत्वादी है। सत्-असत् दोनों बातों को स्वीकार करके चलता है।

अनेक पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों का यह आरोप है कि 'जैन दर्शन की मौलिक देन कुछ भी नहीं है, इधर-उधर से लिया और एक दर्शन की स्थापना कर दी। जैन दर्शन अनेक दर्शनों का संग्रह मात्र है, कोई मौलिक तत्व नहीं है। यह एक आरोप है। और आरोप में उनकी कठिनाई भी है। यह उन्होंने जानबूझकर नहीं लगाया बल्कि जैन दर्शन की सर्वग्राहीदृष्टि ने इस आरोप की भूमिका तैयार कर दी। यह उनका ही आरोप नहीं बल्कि प्रकारान्तर से जैनाचार्यों का उन्हें समर्थन भी मिल जाता है। एक जैन आचार्य ने जैन दर्शन की व्याख्या की है—'मिथ्या दर्शन के समूह। दुनियां में जितनी भी मिथ्या दृष्टियां हैं, उन्हें मिला दीजिए, जैन दर्शन बन जाएगा।' इसको हम दूसरी दृष्टि से देखें तो जैन दर्शन ने मिथ्यादृष्टियों को ले-लेकर उनका पुलिन्दा तैयार कर दर्शन का निर्माण नहीं किया, किन्तु जैन दर्शन की जो अनेकात्मकता थी, उस अनेकात्मकता में सब दर्शनों के विचारों को एकत्र होने का अवसर दे दिया। सबको वहां उपस्थित होने का मौका दे दिया। सबका सम्यकीकरण कर दिया या सबके लिए द्वार खोल दिया कि तुम भी आ जाओ। सबके लिए हमारा द्वार खुला है। यह आकर्षण सबको हुआ। बहुत सारे इकट्ठे हुए। और दूसरों को भ्रम हो गया कि इन सबको लेकर एक पुलिन्दा बन गया। तो यह तो उसकी योग्यता की परिणति है। उसने अपने लिए यह योग्यता निर्मित कर दी यहां पर कोई भी दृष्टि आ सकती है और रह सकती है।

आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—जैसे समुद्र में आकर सारी नदियां मिल जाती है, वैसी सारी दृष्टियां आप में आकर मिल जाती हैं। वे अलग-अलग नदियां हैं। नदियों में समुद्र नहीं है, नदियां समुद्र में हैं। ये विभक्त दृष्टिया हैं, उनमें आप नहीं हैं।'

जैन दर्शन की मौलिकता का अपहरण नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके महत्व का मूल्यांकन करना चाहिए। जैन दर्शन ने सर्वसंग्राही दृष्टियों को जो एकत्र करने का अवसर दिया और एक ऐसा सर्व-समन्वय मंच प्रस्तुत किया, यह सर्व-समन्वयी मंच प्रस्तुत करना, जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है।

का अनुगम करने के लिए ही नहीं, अपितु, भारतीय दार्शनिक परंपरा के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैन-दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। विश्वके दार्शनिक क्षेत्र में अहिंसा और अनेकान्त दोनों का समन्वित रूप ही जैनदर्शन की अपनी एक विशिष्टता है। यदि हम भारतीय-दर्शन के इतिहास के पन्नों को पलटकर उसमें उल्लेखित दर्शन-शास्त्र की दीर्घ परंपरा को देखें और समझने का प्रयत्न करें तो इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं रह जाता है कि जैनदर्शन ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को अहिंसा और अनेकान्त नही, बल्कि उसके साथ-साथ कर्मवाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण भी प्रदान किया है। कर्मवाद का जितना सुन्दर, जितना विस्तृत, जितना व्यवस्थित और जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेपण जैन-दर्शन में आज भी उपलब्ध हो सकता है, वैसा और उतना शायद ही अन्यत्र किसी परंपरा में उपलब्ध हो। अहिंसा मानव के हृदय को सरलता, स्वच्छता और सरलता प्रदान करती है। अनेकान्त मानव-मस्तिष्क को उर्वरता और तर्कशीलता प्रदान करता है और कर्मवाद मानव-जीवन में आध्यात्मिकता की ज्योति जलाता है। जैन-दर्शन की दीर्घकालीन परम्परा ने प्राचीन युग से आज तक भारतीय दर्शन की परंपरा में जो विचार और आचार की अभिवृद्धि की है, उसे इतिहास के पृष्ठों पर से कभी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा। आज नहीं, तो कल भारत के दार्शनिकों को यह सोचना और समझना ही होगा कि जैन-दर्शन भारतीय-दर्शन की परम्परा में अपना उतना ही स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, जितना-वैदिक और बौद्ध। आजके जागरणशील इस युग का प्रबुद्ध दार्शनिक और सत्य-शोधक दर्शन-शास्त्र पर विचार करते समय कभी यह भूलें नहीं करेगा कि जैन-दर्शन, वैदिक दर्शन की शाखा है अथवा वह बौद्धदर्शन की शाखा है ?अपनी तटस्थवृत्ति के कारण ही यह गौरव जैन-दर्शन को सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

जैन-दर्शन पर आज जो साहित्य उपलब्ध है, उसे पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। यह साहित्य भगवान महावीर से लगाकर आज तक के विकास की एक रूपरेखा हमारे सामने स्पष्ट कर देता है। विकास का क्रम इस प्रकार है—

१. **आगम-युग :** ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग की काल-मर्यादा भगवान महावीर के निर्वाण वि० पूर्व ४०० से प्रारंभ होकर प्रायः १००० वर्ष तक जाती है। भगवान महावीर के विचारों का, प्रवचनों का और प्रश्नों के दिए गए उत्तरों का सार उनके गणधरों ने शब्द-बद्ध किया था। स्वयं भगवान महावीर ने कुछ नहीं लिखा। और उन्होंने अपने विचारों को सूत्र रूप में निबद्ध भी नहीं किया फिर भी जैन-आगम तीर्थंकर प्रणीत कहे जाते हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि अर्थ-रूप से श्रुत-साहित्य के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं और ग्रन्थरूपसे गणधर। क्योंकि अर्थ रूप वाणी को ही गणधर सूत्र-रूप में ग्रन्थित करते हैं। इसलिए जैन-परंपरा में आगमों का प्रामाण्य गणधरकृत होने से नहीं, अपितु तीर्थंकर की वीत-रागता एवं सर्वज्ञता के कारण है। गणधरों के अतिरिक्त अन्य स्थविर भी आगम साहित्य की रचना करते हैं। दोनों में भेद यह है कि स्थविर-कृत आगम अंगबाह्य कहलाते हैं और गणधर-कृत आगम अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। परन्तु गणधर और स्थविर दोनों के ग्रन्थों का आधार तीर्थंकर प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान ही होता है। आज आगमों के जो संस्करण उपलब्ध हैं, वे अपने प्रस्तुत रूप में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के समय के हैं, उसके पहले आगम साहित्य को लिपिबद्ध करने का उल्लेख नहीं मिलता। कालक्रम से स्मृति का लोप होते हुए देखकर भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग ९६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में जैन-श्रमण-संघ एकत्रित हुआ था। एकत्रित हुए श्रमणोंने परस्पर एक-दूसरे से पूछकर और सुनकर ग्यारह अंग

व्यवस्थित किए। बारहवें अंग दृष्टिवाद का विलोप हो जाने के कारण से वे उसका संकलन नहीं कर सके। आगमों की संख्या इसप्रकार हैं—११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद, ४ मूल, २ चूलिका, १० प्रकीर्णक—इस प्रकार कुल मिलाकर ४५ संख्या होती है। इनमें से स्थानकवासी और तेरहपंथी परंपरा को केवल ३२ ही मान्य हैं—११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक।

२. अनेकान्त-युग—भारतीय-दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पंडित नागार्जुन ने एक बहुत बड़ी हलचल पैदा कर दी और दार्शनिकों के जीवन में अभिनव चेतना जागृत कर दी। जब से नागार्जुन ने इस क्षेत्र में कदम रखा और अपनी तर्कशक्ति का प्रयोग किया तब से दार्शनिक वाद-विवादों को एवं तत्वचर्चा को नया मोड़ दिया गया। अब विचारों पर श्रद्धा से बढ़कर तर्क का आधिपत्य हो गया। यही कारण था कि दर्शन शास्त्र का व्यवस्थित रूप नागार्जुन के शून्यवाद के कारण से हुआ। नागार्जुन ने इस क्षेत्र में प्रविष्ट होकर दार्शनिक विचार चर्चा में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। यह क्रान्ति केवल बौद्ध दर्शन तक ही सीमित नहीं रही, इसका प्रभाव भारत के सभी दर्शनों पर बहुत गहरा पड़ा है। जैन-दर्शन की परम्परा में भी सिद्धसेन ने और समन्तभद्र जैसे महान् तार्किक एवं दार्शनिक इसी युग की देन है। यह समय भारतीय दर्शन के इतिहास में पांचवीं एवं छठी शताब्दी का माना जाता है। जैन-दर्शन के तेजस्वी आचार्यों ने भगवान महावीर के समय से श्रुत-साहित्य में बिखरे रूप में चले आते हुए अनेकान्तवाद को स्थिर एवं निश्चित रूप प्रदान किया और अनेकान्त को व्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। इसी मूल आधार को समक्ष रखकर जैन दार्शनिक परम्परा में इस समयकी विचार धारा को अनेकान्त स्थापन-युग कहा जाता है। इस युग में पांच प्रसिद्ध जैन दार्शनिक आचार्य हुए हैं—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य मल्लवादि, आचार्य सिंहगणि और पात्रकेसरी।

३. प्रमाण-शास्त्र युग—भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में दिङ्नाग के विचारों ने एवं उसके दार्शनिक विवेचन ने प्रमाण शास्त्र और न्याय-शास्त्र को नयी प्रेरणा दी। दिङ्नाग बौद्ध तर्कशास्त्र का जनक माना जाता है। दिङ्नाग प्रतिभासम्पन्न तार्किक एवं प्रमाण-शास्त्र का व्याख्याता था। उसकी प्रतिभा के उदित होते ही दार्शनिक क्षेत्र में हलचल मच गई। और उसके फलस्वरूप ही वैदिक परम्परा में उद्योतकर एवं कुमारिल जैसे महान् तार्किक सामने आए। जैन-दर्शन इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहा। इस परम्परा में सिद्धसेन, समन्तभद्र और मल्लवादी जैसे समर्थ नैयायिक एवं तार्किक प्रगट हुए। इनमें से प्रत्येक आचार्य ने दिङ्नाग के तर्कों का बड़ी सतर्कता के साथ खण्डन किया था। अपने पक्ष का मण्डन करते हुए दूसरे पक्ष का खण्डन करना यही इस युग की विशेषता रही है। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति इस युग में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इस संघर्ष के फलस्वरूप ८ वीं और ९वीं शताब्दी में जैन-दर्शन के समर्थ एवं सक्षम नैयायिक आचार्य अकलंक और आचार्य हरिभद्र आदि दार्शनिक एवं नैयायिक मैदान में आए।

४. नवीन-न्याय-युग—भारतीय-दर्शन की इतिहास परम्परा में तत्त्वचिंतामणी नामक न्याय के ग्रन्थ लेखन के साथ ही न्याय शास्त्र का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। इस अध्याय को प्रारम्भ करने का श्रेय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में मिथिला में उत्पन्न होनेवाले गंगेश नामक प्रतिभासम्पन्न नैयायिक को है। तत्त्वचिन्तामणी नवीन परिभाषा और नूतन शैली में लिखा गया न्याय-शास्त्र एवं दर्शन-शास्त्र का एक अद्भुत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का विषय न्याय-संगत प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण हैं। इन चारों
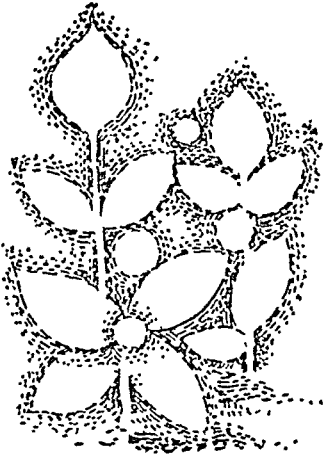
जैन दार्शनिक साहित्य का विकास-क्रम

● श्री विजयमुनि, शास्त्री 'साहित्यरत्न'

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बौद्ध-धर्म के संस्थापक तथागत बुद्ध थे, परंतु भगवान महावीर जैन-धर्म के संस्थापक नहीं प्रचारक एवं प्रसारक रहे हैं,अतः बौद्ध धर्मकी अपेक्षा निश्चय ही जैनधर्म बहुत अधिक प्राचीन युग से चला आ रहा है। ऐतिहासिक तथ्यों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा चुका है कि वह उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। जैनधर्म एवं जैन-दर्शन की दो बड़ी विशेषताएँ हैं—अहिंसा और अनेकान्त। जैन-दर्शन की अपनी तीसरी विशेषता है—उसकी तपस्या। यह बात जैन-धर्म के इतिहास से और साथ-साथ वैदिक परंपरा के श्रुति-साहित्य से भली-भाँति जानी जा सकती है कि उसका अस्तित्व ऋग्वेद जैसे प्राचीन-तम ग्रन्थ में भी उपलब्ध होता है। आज के इतिहासकार ऋषभदेव एवं नेमिनाथ को कदाचित न भी स्वीकार करें, फिर भी ई० ८०० वर्ष पूर्व हुए पार्श्वनाथ के अस्तित्व से किसी भी इतिहासकार को इन्कार करने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। पार्श्वनाथ निश्चय ही उपनिषद् युग के महान् अध्यात्मयोगी रहे हैं। इस सत्य को भारत के रिसर्चस्कॉलर एवं इतिहासकार ही नहीं, पाश्चात्य इतिहासकार भी स्वीकार कर चुके है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार ऋग्वेद में ऋषभदेव और अरिष्टनेमि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैन-परंपरा के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव थे। जो वर्तमान जैन परंपरा के आदिपुरुष माने गए है। उनकी जीवन कथा विष्णुपुराण एवं भागवत पुराण में भी उपलब्ध होती है, जहाँ उन्हें महायोगी, योगेश्वर और योग तथा तप मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है। इन उभय पुराणों में यह भी उल्लेख मिलता है कि दशावतार के पूर्व होनेवाले अवतारों में से एक अवतार भगवान ऋषभदेव भी हैं। इससे पता चलता है कि वेदों के भोगवादी युग में वैराग्य, तपस्या और अहिंसा के द्वारा धर्म पालन करने वाले, जो अनेक ऋषि हुए हैं उनमें ऋषभदेव का अन्यतम स्थान रहा है। और उनकी परंपरा में होनेवाले जो साधक अहिंसा, संयम एवं तप-साधना के मार्गपर बढ़ते रहे उन्हींने जैन परंपरा का पथ प्रस्तुत किया।

श्रमण-परंपरा के इतिहास की दृष्टि से महायोगी पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान हरमनजेकोबी ने इस बात को प्रामाणित कर दिया कि योग मार्ग के प्रवर्तकों में पार्श्वनाथ का नाम अवश्य

ही महत्त्वपूर्ण है। इतिहास संशोधक विद्वान लोगों (Research Scholor of History) ने फिर भले ही भारत के हों अथवा भारत के बाहर के हों उन सभीने प्राय: इस तथ्य को स्वीकार कर लिया कि ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर-इन सब के प्रति हिन्दुओं का आदरमय भाव रहा है। भगवान महावीर ने अवश्य ही वेदों का विरोध किया परन्तु उनका विरोध उग्र नहीं, संयत था। वास्तव में भगवान महावीर ने वेदों का विरोध नहीं किया था, वेद-विहित यज्ञ हिंसाका ही विरोध किया था। उनके विरोध का ही वह शुभ परिणाम है कि आज भारत की भूमि से हिंसाजन्य यज्ञ एवं याग सर्वथा विलुप्त ही हो गए है। जैन परंपरा की अहिंसा और अनेकान्त ने वास्तव में भारतीय-संस्कृति को जो गौरव एवं जो महिमा प्रदान की है, वह अद्‌भुत एवं अनोखी है। युग-युग से जैन परंपरा के तेजस्वी सन्त भारत की कोटि-कोटि जनता के मन और मस्तिष्क में जिस अहिंसा और अनेकान्त का सर्जन करते आ रहे हैं, वह भारतीय सांस्कृतिक एवं दार्शनिक परंपरा की एक विशेष घटना है। अहिंसा और अनेकान्त के मधुर कल्याणप्रद उपदेशने केवल विद्वानों के ही मन और मस्तिष्क को ही नहीं, सामान्य जनता के मन और मस्तिष्क को भी प्रभावित किया था। श्रमण-संस्कृति और वैदिक परंपरा का धार्मिक एवं आध्यात्मिक इतिहास यह स्पष्ट बता रहा है कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का उपनिषदों की रचना पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। गीता तो श्रमण परंपरा की अहिंसा, सांस्कृतिक देन तप, और अनेकान्त के प्रभाव से प्रभावित है यह स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। गीता के उपदेश में कर्म-योग, ज्ञानयोग एवं भक्ति योग का जो समन्वित रूप परिलक्षित होता है, निस्सन्देह वह जैन परंपरा के विशिष्ट सिद्धान्त अहिंसा-अपरिग्रह और अनेकान्त के प्रभाव से प्रभावित ही है। यह स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन पर वैदिक दर्शन की अपेक्षा जैनदर्शन का प्रभाव पड़ना आवश्यक ही था। बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अष्टांगमार्ग और महर्षि पतंजलि का अष्टांग योग विचार की अपेक्षा भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से प्रभावित है। अहिंसा और तप के संस्कार वैदिक परंपरा में जो समन्वय की धारा प्रवाहित हुई है, वह तो अवश्य ही जैनदर्शन की अपनी देन है। तथागत बुद्ध ने जिस विभज्यवाद का उल्लेख किया है, वह तो स्पष्ट ही अनेकान्तवाद का रूपान्तर प्रतीत होता है। इस से हम यह स्पष्ट कह सकते है कि जैन परंपरा के विचारकोंने दार्शनिक क्षेत्र में जो साधना की है उसका पूरा-पूरा लाभ हमारी पड़ौसी परम्परा वैदिक-परम्परा और बौद्ध-परपरा ने पर्याप्त मात्रा में उठाया था।

भारतीय दर्शन को जैनदर्शन की देन

भारतीय-दर्शन के इतिहास में जैन-दर्शन की अपनी एक अनोखी देन है। दर्शन शब्द का Phliosophy के अर्थ में कब से प्रयोग होने लगा है, इसका तत्काल निर्णय करना कठिन है। तब भी इस शब्द की इस अर्थ में प्राचीनता के विषय में किसी तरह का संदेह नहीं हो सकता। उस-उस युग के दर्शनों के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग मूल में इसी अर्थ में हुआ होगा कि किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्व के परीक्षण में उस-उस युग के व्यक्तियों की स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति अथवा अधिकारिता के भेद से जो तात्विक दृष्टि भेद होता है, उसी को दर्शन शब्द से अभिव्यक्त किया जाए। जैन-दर्शन का तो यह आधार स्तंभ ही है कि वह किसी भी वस्तु पर, किसी भी द्रव्यपर और पदार्थपर एकान्त दृष्टि से नहीं, अनेकान्त दृष्टि से विचार करता है। विचार जगत् में प्रयुक्त अनेकान्त दर्शन ही नैतिक जगत् में आकर अहिंसा के सिद्धान्त का व्यापक रूप धारण कर लेता है। इसमें सन्देह नहीं है कि केवल भारतीय-दर्शन के विकास

१७

प्रमाणों को सिद्ध करने के लिए, गंगेश ने जिस नैयायिक भाषा, तर्क और शैली का प्रयोग किया, वह न्याय-शास्त्र के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी। न्याय के शुष्क और नीरस विषय में रस का संचार करके, उसे आकर्षण की वस्तु बना देना, वस्तुतः सामान्य बात नहीं कही जा सकती। गंगेश ने जिस नूतन, और सरस शैली को जन्म दिया, वह शैली उत्तरोत्तर अधिक से अधिक लोकप्रिय होती गई। चिन्तामणि के टीकाकारों ने इस नवीन न्याय-ग्रन्थ पर इतनी विपुल मात्रा में टीकाएँ लिखीं कि इस ग्रन्थ के साथ भारतीय-दर्शन के युग में एक नया युग ही स्थापित हो गया। इस शैली का प्रभाव बौद्ध-नैयायिकों पर तो कम पड़ा, परन्तु जैन-दर्शन की परम्परा के प्रतिभासम्पन्न जैनदार्शनिकों पर स्पष्ट ही प्रभाव परिलक्षित होता है। विक्रम की १७वीं शताब्दी के अन्त तक जैन-दर्शन में प्राचीन परम्परा और प्राचीन शैली से ही अपने न्याय शास्त्र के ग्रन्थों की रचना होती रही है। उपाध्याय यशोविजयजी ने १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जैन-दर्शन को एक नया प्रकाश दिया। और नयी शैली में न्याय ग्रन्थों की रचना की जिसे नव्य-न्याय शैली कहते हैं। इसी प्रकाश के साथ जैन-दर्शन के इतिहास में नवीन न्याय युग प्रारम्भ होता है।

५. सम्पादन-अनुसन्धान-युग :—उपाध्याय यशोविजयजी की परम्परा किसी न किसी रूप में २० वीं शताब्दी के प्रारंभ तक चलती रही। कुछ लोग छोटी-मोटी टीकाएं लिखते रहे, किन्तु इस बीच में उल्लेख करने योग्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। परंतु अंग्रेजी शासन युग में जीवन के अन्य क्षेत्र की भांति ज्ञान के क्षेत्र में भी एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। इस युग में संस्कृत या प्राकृत में नये ग्रन्थों की रचना नहीं की गई। परंतु भारतीय दार्शनिक अपनी-अपनी परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनुसंधान नये युगकी शैली से करने लगे। पाश्चात्य शिक्षण पद्धति के कारण भारतीय दर्शनशास्त्र पर पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का पूरा प्रभाव पड़ा। फलतः प्राचीन साहित्य का नवीनीकरण होने लगा। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता तीन रूपों में प्रगट हुई—भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, अनुसंधान और खोजपूर्ण टिप्पण। पाठान्तर और उद्धरण जोड़ने की परम्परा भी इसी युग की देन है। जैन परंपरा के दार्शनिक इतिहास में इस युग में सम्पादन और अनुसन्धान की धारा प्रारम्भ करने का श्रेय निश्चय ही पण्डित सुखलालजी को दिया जा सकता है। उनका सम्पादन, अनुसंधान और खोजपूर्ण कार्य सर्व प्रथम जैन परम्परा के कर्मग्रन्थों के सम्पादन से प्रारंभ होता है। इसके बाद तुलनात्मक टिप्पणों के साथ एवं तुलनात्मक अध्ययन के साथ आचार्य हरिभद्र की योग-विंशिका और पातंजल योग सूत्रों पर उपाध्याय यशोविजयजी कृत तुलनात्मक वृत्ति के प्रकाशन के साथ हुआ। पण्डितजी ने वाचक उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र पर भी हिन्दी में एक विश्लेषणात्मक ग्रन्थ का सम्पादन एवं खोजपूर्ण भूमिका लिखी है और अन्त में विशेष शब्द-कोष भी दिया गया है। आगे चलकर इसी शैली पर जैन-दर्शन के विशिष्ट विद्वान और जैन आगम के विशिष्ट अभ्यासी पण्डित सुखलालजी एवं पण्डित बेचरदासजी ने आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की विशेषकृति सन्मतितर्क-प्रकरण का भी इसी विश्लेषणात्मक एवं खोजपूर्ण शैली में सम्पादन किया। इस क्षेत्र में पण्डित सुखलालजी की परम्परा को निभानेवाले दो और मुख्य व्यक्ति हैं—न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमार जैन और पण्डित दलसुख मालवणिया। पण्डित महेन्द्रकुमारने जैनन्याय शास्त्र के प्रसिद्ध एवं विशिष्ट ग्रन्थ प्रमेयकमल-मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चय-विवरण, तत्वार्थ-श्रुतसागरी टीका आदि अनेक ग्रन्थों का सम्पादन तुलनात्मक टिप्पणों के साथ उसी शैली के साथ किया जिस शैली से जैन परम्परा

के महान् दार्शनिक पण्डित सुखलालजी, आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमांसा का सम्पादन कर चुके थे। वास्तव में प्रमाण-मीमांसा का सम्पादन जितनी सुन्दरता के साथ पण्डितजी ने किया है, उसका गौरव केवल जैन-परंपरा के इतिहास तक ही सीमित नहीं है, किन्तु सपूर्ण भारतीय दर्शन के इतिहास में यह कार्य अपनी महत्ता के साथ में विशिष्ट है और भविष्य में आनेवाले सम्पादकों के लिए एक दीर्घ युगतक प्रेरणा-प्रदीप बना रहेगा। पण्डित दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित न्यायावतार-वृत्ति न्याय का प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। जो तुलनात्मक एवं शोधपूर्ण शैली से सम्पादित है। पण्डित दलसुख मालवणिया ने इसकी विस्तृत भूमिका में आगम युग से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैन-दर्शन के प्रमाण एवं प्रमेय विषयक चिन्तन तथा उसके विकास का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण सम्पादन किया है। अन्त में ग्रन्थ पर तुलनात्मक टिप्पण भी लिखे हैं। पण्डित दलसुख मालवणिया की दूसरी कृति गणधरवाद है। जो विशेषावश्यकभाष्य का एक अंश है। इस गणधरवाद की विस्तृत भूमिका में वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराओं द्वारा मान्य आत्मवाद, कर्मवाद और परलोकवाद पर इतनी गहनता एवं गंभीरता के साथ लिखा गया है कि उसमें संपूर्ण भारतीय दर्शन एवं विचार चिन्तन का सार समाहित हो जाता है।

इस सम्पादन और अनुसंधान के युग में प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसार और प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित समयसार भी अपना विशेष महत्व रखते हैं। उक्त दोनों ग्रन्थों की मूल गाथाओं का अंग्रेजी अनुवाद और विश्लेषणात्मक अंग्रेजी में टीका और प्रारम्भ में अंग्रेजी भूमिका के साथ इसका प्रकाशन वास्तव में वर्तमान युग की एक विशेष देन है। डॉ० हीरालाल जैन ने षट्खण्डागम, धवला टीका के सभी भागों का सम्पादन कर दिया है। यह भी इस युग की एक विशेष देन है। इस प्रकार संपूर्ण जैन साहित्य इन पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया है।

●●

सत्य है एक महासागर !
जिसमें, विभिन्न विचारों की नदियां
आती हैं, और मिलकर अपना अस्तित्व मिटा देती हैं,
लहर बनकर हर नदी समुद्र के साथ
एकाकृति में भी अपना अस्तित्व जताती है।

●

सत्य है एक उपवन !
जिसमें विभिन्न दर्शनों के, विचारों के
पुष्प खिलते हैं, महकते हैं
अपना सर्वस्व उपवन में समाहित कर देते हैं,
किंतु अपना रूप और सौरभ
स्वतंत्र रखकर अपनी सत्ता को जताते रहते हैं।

—मधुकर मुनि
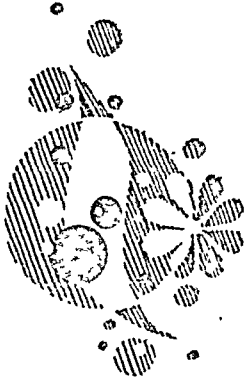
● डा० चेतनप्रकाश पाटनी
(प्राध्यापक : हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय)

भारतीय दर्शन को जैनदर्शन की देन

अनेकान्त और स्याद्वाद

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। भारत ऋपियों महर्पियों, साधु सन्तों, त्यागियों और विचारकों की जन्मभूमि रहा है। समय समय पर सभी विचारकों को सृष्टि, मनुष्य, आत्मा, परमात्मा और मोक्ष जैसे रहस्यपूर्ण विपय आकृष्ट करते रहे हैं। मनुष्य विचारशील प्राणी है, अतः छोटे से छोटा कार्य करते समय भी अपनी इस विचार क्षमता का उपयोग करता है। यही विचारशक्ति विवेक की संज्ञा प्राप्त करती है। मनुष्य और पशु में यही अन्तर है कि मनुष्य की प्रवृत्ति विवेक पूर्वक होती है, पशु की नहीं। अतः मनुष्य में जो स्वाभाविक विचारशक्ति है, उसका उपयोग कर सृष्टि और इसके रहस्यों का सम्यक् अवलोकन करना 'दर्शन' के अन्तर्गत आता है। 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति 'दृश्' धातु से है जिसका अर्थ है देखना।

भारत की परम्पराएँ आध्यात्मिक रही हैं। जड़ और चेतन से उद्भूत यह सृष्टि माया है, मिथ्या है। आत्मा अनात्मा से पृथक् है। यह आत्मा सच्चिदानन्द का एक अंश है, इसका निज धाम यह संसार नहीं है। संसार के दुःखों से छुटकारा पाना अर्थात् मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना इसका लक्ष्य है। इस संसार में प्रत्येक प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित है। आदि विचार सदैव से यहाँ के महर्पियों के लिए चिन्तनीय रहे हैं। अतः यहाँ के दार्शनिकों का प्रधान कार्य आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना रहा है, सांसारिक दुःखों से निवृत्ति का उपाय बतलाना रहा है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता को मोक्ष प्राप्ति का कारण बतलाया गया है—सम्यक् दर्शनादि तीनों एक साथ मोक्ष के कारण होते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं—**"सम्यक्-दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"**। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए तत्वार्थ-श्रद्धान और आचरण के साथ-साथ सम्यक्ज्ञान भी आवश्यक है। सम्यक्ज्ञान का अर्थ है समीचीन ज्ञान। अहिंसा की सर्वांगपूर्ण प्रतिष्ठा के लिए सम्यग्ज्ञान परम अनिवार्य है

भारतीय शास्त्रार्थों का इतिहास अनेक हिंसाकाण्डों के रक्तरंजित पद्यों से भरा हुआ है। एक पक्ष शास्त्रार्थ में उचित-अनुचित विधियों से दूसरे पक्ष को पराजित कर उसके साथ कितना अमानवीय

व्यवहार करता था, कभी-कभी तो तेल की जलती कड़ाही में जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लग जाती थीं—ये बातें घोषित करती हैं कि यह सब मतवादियों और दुराग्रहियों के कुज्ञान, मिथ्याज्ञान और अल्पज्ञान के कारण होता था और इस प्रकार हिंसा को प्रोत्साहन मिलता था। जैन दर्शन की मान्यता है कि—विवाद वस्तु में नहीं है, विवाद तो देखनेवालों की दृष्टि में है। विश्व का प्रत्येक चेतन और जड़ तत्व अनन्तधर्मों का भण्डार है। उसके विराट् स्वरूप को साधारण मानव पूर्णरूप में नहीं जान सकता। उसका क्षुद्रज्ञान वस्तु के एक-एक अंश को जानकर अपने में पूर्णता का दुरभिमान कर बैठा है। जैन दर्शन की यह मान्यता 'अनेकान्त दर्शन' के नाम से जानी जाती है और यही सम्यग्ज्ञान का आधार है। इसके विपरीत एकान्तदर्शन तो सरासर मिथ्याज्ञान है।

"यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेव असत्, यदेव नित्यं, तदेवानित्यमित्येकवस्तु वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशमनेकान्तः।।"

जो वस्तु तत्स्वरूप है वही वस्तु अतत् स्वरूप भी है; जो वस्तु एक है वही अनेक भी है; जो वस्तु सत् है वही असत् भी है; तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु में वस्तुत्व के कारणभूत व परस्पर विरोधी अनेक धर्मयुगलों को प्रकाशित करता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि वस्तु अनन्तधर्मत्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्तधर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेगे और पुद्गलगत अनन्तधर्म पुद्गल में। चेतन के गुण धर्म पुद्गल में नहीं पाए जा सकते और न पुद्गल के चेतन में। सादृश्यमूलक वस्तुत्व आदि सामान्य धर्म चेतन और जड़ सभी द्रव्यों में पाए जा सकते हैं परन्तु सबकी सत्ता पृथक-पृथक है। अभिप्राय यह है कि वस्तु बहुत बड़ी है, वह अनन्त दृष्टिकोणों से देखी और जानी जा सकती है। एक पक्ष का आग्रहकर दूसरे का तिरष्कार या विरोध करना वस्तुस्वरूप की नासमझी का परिणाम है। एकान्तवादियों की समझ में यह बात आती ही नहीं है कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म (नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत्) भी एक साथ रह सकते हैं। ठीक भी है चश्मे का रंग जैसा होता है, पदार्थ भी वैसे ही दीखते हैं। जिसकी दृष्टिपर नित्यैकांत का चश्मा चढ़ा है उसको सब पदार्थ नित्य ही प्रतीत होते हैं और जिसकी दृष्टिपर अनित्यैकांतका चश्मा चढ़ा है, उसको सब पदार्थ अनित्य ही प्रतीत होते हैं।

दुराग्रही व्यक्ति सर्वत्र अपनी बुद्धि के अनुसार सोचता है, पक्षपात रहित होकर नही। अतः वह भूल करता है। सभी वस्तुएँ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से सत् और नित्य हैं परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की दृष्टि से असत् और अनित्य है। इसप्रकार की व्यवस्था के अभाव में किसी भी तत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है। प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण, पर्याय और धर्मो का अखण्डपिण्ड है। अनादि अनन्त स्थिति की दृष्टि से यह नित्य है। कभी भी ऐसा अवसर नही आएगा जब विश्व रंगमंच से एक कण को भी समूल नष्ट होना पड़े, वैज्ञानिक भी इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता, उसके रूपों में परिवर्तन होता रहता है। यानी, उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं। अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्तगुण शक्ति पर्याय और धर्म से प्रत्येक वस्तु सुशोभित है। सोने का पहले हार बना था, हार को गलाकर दूसरा आभूषण बना लिया-यानी 'हार' पर्याय का नाश हुआ, दूसरे आभूषण रूप पर्याय का जन्म हुआ, सोना दोनों रूपों में ही सोना रहा। शास्त्रीय शब्दावली में यही उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य नाम से कहा जाता है।

वस्तु के सम्यक् ज्ञान के लिए अनेकान्त दर्शन की बड़ी आवश्यकता है। एकान्तवाद या दुराग्रह अनर्थों की जड़ है। एकान्तवादी कहता है कि तत्व ऐसा ही है और अनेकान्तदृष्टि कहती है कि तत्व ऐसा 'भी' है। सारा विवाद 'ही' के कारण है। 'भी' सत्य को प्रकट करनेवाला है, संघर्ष का शमन करने वाला है। अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना ही जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। अनेकान्त पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी। वस्तु अनेकान्तात्मक है, यह स्वतः सिद्ध है, इसको सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। जो पिता है, वह किसी का पुत्र भी है, किसी का भाई है, किसी का चाचा भी है, किसी का साला भी है, किसी का बहनोई भी है आदि आदि।

इस प्रकार अनेकान्त दर्शन हमारे दुराग्रह को दूर कर हमारे विचारों को निर्मल बनाता है। आज यदि संसार के बड़े राष्ट्रों के राजनीतिज्ञ अनेकान्त के स्वरूप को समझलें तो संसार से युद्धों की विभीषिका समाप्त हो सकती हैं और मनुष्यों की समानता का बोध जागृत हो सकता है।

जब वस्तु अनेकान्तमयी है, तो विरोधी अपने विरोधी की बात भी सहानुभूति पूर्वक सुनेगा, उसके विचारो से अवगत होगा—इस तरह उसके विचारों में निर्मलता आएगी जो स्वाभाविक रूप से उसे समन्वय की प्रेरणा देगी। उसकी वाणी कटु न होकर मधुर होगी। इस तरह **मन** की शुद्धि के बाद वह **वचन** शुद्धि की ओर भी बढ़ेगा—जैनाचार्यो ने वस्तु की अनेक धर्मात्मकता का कथन करने के लिए स्यात् शब्द के प्रयोग की आवश्यकता जताई है। भाषा में या शब्दों में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह वस्तु के समग्र रूप का कथन एक समय में एक साथ कर सके। वह एक समय में एक ही धर्म को कह सकती है। यहाँ 'स्यात्' शब्द से शायद का अर्थ नहीं है—स्यात् का अर्थ है सुनिश्चित दृष्टिकोण। 'स्यादस्ति' से अभिप्राय है कि स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु है ही, न कि शायद है, कदाचित् है या सम्भव है। कथन को निर्दोष बनाने के लिए इस शैली का आलम्बन लेना पड़ता है। इससे वचन शुद्धि होती है।

मानस शुद्धि के लिए 'अनेकान्त दर्शन' और वचन शुद्धि के लिए "स्याद्वाद शैली" जैन-दर्शन की भारतीय दर्शन को अमूल्य देन है। बोलते समय वक्ता को इतना तो ध्यान रहना ही चाहिए कि किसी वस्तु के बारे में जो बात वह कह रहा है, वस्तु केवल उतनी ही नही है, उसके अतिरिक्त भी उसके गुण धर्म है—परन्तु भाषा एक समय में सबको एक साथ कहने में असमर्थ है। परन्तु जो कुछ वह कह रहा है वह निश्चित रूप में है, उसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

जैनाचार्यो ने इस तरह वस्तु का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करके उसके स्वरूप को सही ढग से कहने का मार्ग भी दिखाया। इन दोनों दृष्टियों को साथ लेकर चलने पर ही पूर्ण अहिंसा का निर्वाह हो पाता है, अन्यथा नही। अनेकान्त दृष्टि के अपनाने पर यदि उसी प्रकार की भाषा शैली न होती तो उसका उपयोग दुर्गम था। अतः अनेकान्त दृष्टि का ठीक-ठीक खुलासा करने वाली 'स्याद्वाद' भाषा शैली है। यह स्याद्वाद जैन-दर्शन में सत्य का प्रतीक है।

इस प्रकार कहना होगा अनेकांत ने भारतीय चिन्तन को स्पष्ट और संतुलित दृष्टि दी है, तो स्याद्वाद ने भारतीय वाणी-वैभव को सापेक्ष सत्य-कथन के सौन्दर्य से अलंकृत किया है।
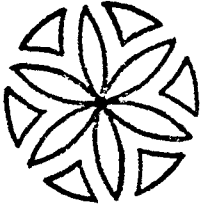
स्याद्वाद और सापेक्षवाद
एक अनुचिन्तन

—प्रसिद्धप्रवक्ता श्री पुष्करमुनिजी

अहिंसा और अनेकान्त जैनदर्शन के प्राणभूत तत्त्व हैं। हमारे शरीर में जो स्थान मन और मस्तिष्क का है वही स्थान जैनदर्शन में अहिंसा और अनेकान्त का है। अहिंसा आचारप्रधान है और अनेकान्त विचारप्रधान है। अहिंसा व्यावहारिक है, उसमें प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा, मैत्री, व आत्मौपम्य की निर्मल भावना अंगड़ाईयां लेती है तो अनेकान्त वौद्धिक अहिंसा है, उसमें विचारों की विषमता, मनोमालिन्य, दार्शनिक विचारभेद और उससे उत्पन्न होनेवाला संघर्ष नष्ट होता है। सहअस्तित्व, सद्व्यवहार के विमल विचारों के फूल महकने लगते हैं।

आज का जन-जीवन संघर्ष से आक्रान्त है, चारों ओर द्वेष और द्वन्द्व का दावानल सुलग रहा है। मानव अपने ही विचारों के कटघरे में आवद्ध है, आलोचना और प्रत्यालोचना का दुश्चक्र तेजी से चल रहा है। मानव एकान्त पक्ष का आग्रही होकर अंधविश्वासों के चंगुल में फंस रहा है। क्षुद्र व संकुचित मनोवृत्ति का शिकार होकर एक दूसरे पर छींटाकसी कर रहा है। वह अपने विचारों को सत्य और दूसरे के विचारों को मिथ्या सिद्ध करने में लगा हुआ है। 'सच्चा सो मेरा' इस सिद्धान्त को विस्मृत होकर 'मेरा सो सच्चा' इस सिद्धान्त की उद्घोषणा कर रहा है, परिणामतः इस संकीर्णवृत्ति से मानव समाज में अशान्ति की लहर लहराने लगी है। उतना ही नहीं, जब मानव में संकीर्ण वृत्ति से उत्पन्न हुआ अहंकार, आग्रह तथा असहिष्णुता का चरमोत्कर्ष होता है तो धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में भी रक्त की नदियां वहने लगती हैं। उस परिस्थिति के निराकरण के लिए ही जैनदर्शन ने विश्व को अनेकान्तवाद की दिव्य दृष्टि प्रदान की।

जैनदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म है। वह अनन्त गुणों और विशेषताओं को धारण करनेवाला है। वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने का अर्थ है, सत्य आकाश की तरह अनन्त है और उस अनन्त सत्य को निहारने के लिए दृष्टि भी अनन्त चाहिए। विराट् दृष्टि के द्वारा ही उस अनन्त सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। एकांगी व सीमितदृष्टि से सत्य के

पूर्ण रूप को कभी भी देखा व परखा नहीं जा सकता। एक ही दृष्टि से पदार्थ के पर्यालोचन की पद्धति एकांगी व अप्रमाणित है।

गणधर गौतम एक समय विचारों के सागर में गहराई से डुबकी लगा रहे थे कि सामने सन्निकटवर्ती वृक्ष पर एक भ्रमर गुंजार करता हुआ दिखलाई दिया। उन्होंने उसी समय भ० महावीर से प्रश्न किया—"भगवन् ! यह जो सामने भ्रमर उड़ रहा है, उसके शरीर में कितने रंग है ?"

भगवान् ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—गौतम ! व्यवहार नय से भ्रमर एक ही रंग का है और वह रंग काला है किन्तु निश्चय नय से उसके शरीर में पाँचों वर्ण है।[1]

इसी प्रकार गुड़ के सम्बन्ध में भी गौतम ने प्रश्न उपस्थित किया—'भगवन् ! फाणित-प्रवाहित गुड़ में कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं ?

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! व्यवहारनय की दृष्टि से तो वह मधुर कहा जाता है पर निश्चयदृष्टि से उसमें पाँच वर्ण, दो गंध, और आठ स्पर्श है।[2]

निश्चय नय से वस्तु के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान होता है और व्यवहार नय से वाह्य स्वरूप का। इससे स्पष्ट है कि वस्तु का वास्तविक स्वरूप कुछ और है और इन्द्रिय-ग्राह्य स्वरूप कुछ और है। जो अल्पज्ञ छद्मस्थ हैं वे वस्तु के वाह्य स्वरूप को ही जान सकते हैं, पर सर्वज्ञ वस्तु के वाह्य और आभ्यन्तर दोनों स्वरूप को जानते हैं, देखते हैं।

अनेकान्तवाद पदार्थ के उन अनन्त धर्मों की ओर ध्यान केन्द्रित करता हुआ कहता है, वस्तु अनन्तगुणात्मक है। उसमें एक नहीं, अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों को जानने के लिए अपेक्षा दृष्टि की आवश्यकता है और यह अपेक्षा दृष्टि ही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

सभी ज्ञानों की विषयभूत वस्तु अनेकान्तात्मक होती है।[3] इसीकारण से वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा है, जिसमें अनेक अर्थ, भाव, सामान्य-विशेष गुण-पर्याय रूप से पाये जाय वह अनेकान्त है।[4] 'केवलज्ञान में वस्तु तत्त्व अनेक धर्मात्मक होता है, उस अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को जव भाषा के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है तव स्याद्वाद कहलाता है'[5] अनेकान्त केवल एक ज्ञानात्मक अनुभूति है और यह अनुभूति जव वाणी द्वारा अभिव्यक्त होती है तो उसे स्याद्वाद कहा जाता है। इसलिए अनेकान्त और स्याद्वाद में तात्त्विकदृष्टि से अन्तर हैं। जिन आचार्यो ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को एक कहा है वह स्थूलदृष्टि से कह दिया है। आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्रने स्पष्ट रूप से कहा है—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही वस्तु तत्त्व के स्पष्ट प्रकाशक है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि एक में वस्तु का साक्षात् ज्ञान होता है और

---

१ भगवती सूत्र १८।६
२ भगवती सूत्र १८।६
३. अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचरं सर्वसंविदाम्। —न्यायावतार—सिद्धसेन
४. अर्थोऽनेकान्तः। अनेके अन्ता, भावा, अर्थाः, सामान्यविशेषगुणपर्यायाः यस्य सोऽनेकान्तः
५. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। —लघीयस्त्रयी—अकलंक

दूसरे में असाक्षात् ज्ञान होता है। एक प्रत्यक्ष है दूसरा परोक्ष है। एक के अभाव में दूसरा अवस्तु हो जाता है।[६] स्याद्वाद परोक्ष है इसलिए आचार्यों ने उसे श्रुत भी कहा है।[७] स्याद्वाद में स्यात् शब्द का विशिष्ट स्थान है। यह निपात है और अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला है। स्यात् अर्थ का प्रतिपादक होने से श्रुत केवली द्वादशांगी की रचना करते समय इसका प्रयोग करते हैं।[८] केवलज्ञान में क्रम नहीं होता, पर स्याद्वाद क्रमभावीज्ञान है।[९] स्याद्वाद में एकान्तवाद का परिहार होने से स्याद्वाद का अपर नाम कथंचित्वाद भी है।[१०] स्याद्वाद की दृष्टि से वस्तु कथंचित् सद्रूप है, कथंचित् असद्रूप है, कथंचिद् एक है, कथंचित् अनेक है, कथंचित् भेदरूप है, कथंचित् अभेद रूप है, कथंचित् सामान्यरूप है, कथंचित् विशेपरूप है। इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मो का समन्वय स्याद्वाद से ही हो सकता, क्योंकि वस्तुतत्त्व का सम्यक् निरूपण अर्पणा या अनर्पणा[११] या गौण या मुख्य भाव हो सकती है। एकान्तवाद से न तो वस्तु का सम्यक् वोध ही होता है और चिन्तन में निर्मलता ही आती है।

जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। स्याद्वाद उसी का विकास मात्र है। भगवद् वाणी स्याद्वादमयी होती है[१२] इसलिए स्याद्वाद का जन्म तीर्थंकर के भव्य उपदेश के साथ हुआ है। स्याद्वाद के आद्यप्रवर्तक भगवान् ऋपभदेव है। जैसा भगवान् ऋपभदेव ने उपदेश दिया वैसा ही उपदेश अन्य तीर्थंकरों ने भी दिया है क्योंकि सभी तीर्थंकर एक ही समान अर्थ का प्ररूपण करते हैं।[१३]

सूत्रकृताङ्ग में एक प्रश्न है कि भिक्षु को किस प्रकार की भापा का प्रयोग करना चाहिए? उत्तर में कहा गया है कि विभज्यवाद का प्रयोग करे।[१४] जैनदृष्टि से विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद है, जिस दृष्टि से, जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो, उस दृष्टि से उसका उत्तर देना स्याद्वाद है। किसी एक अपेक्षा से इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है। किसी दूसरी अपेक्षा से इस प्रश्न का उत्तर अन्य भी हो सकता है। इस प्रकार एक प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसीकारण स्याद्वाद को अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद और विभज्यवाद कहा जाता है। तथागतवुद्ध ने भी विभज्यवाद का प्रयोग किया था पर उनका विभज्यवाद महावीर की तरह विकसित न हो सका। महावीर ने इस

---

६. स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्ववस्तु प्रकाशने।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्। —आप्तमीमांसा १०५, समन्तभद्र

७. स्याद्वाद: श्रुतमुच्यते।

८. वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेपक:।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि। —आप्तमीमांसा, १०३,

९. क्रमभावी च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय संस्कृतम्। —आप्तमीमांसा

१०. स्याद्वाद: सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिदिवधि:। —वही

११. अर्पितानर्पितसिद्धे: —तत्त्वार्थसूत्र

१२. स्याद्वाद: भगवत्प्रवचनम्। —न्यायविनिश्चय विवरण पृ० ३६४

१३. सव्वे तित्थयरा एवमेव अत्थं भासयन्ति। —आचारांग

१४. भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा। —सूत्रकृताङ्ग १।१४।२२

दृष्टि से अत्यधिक बल दिया है, पर बुद्ध ने यथावसर उसका प्रयोग तो किया, परन्तु उस पर विशेष भार नहीं दिया। किन्तु महावीर उस पर हमेशा बल देते रहे हैं, जैसे उदाहरण के रूप में देखिए, भगवती का एक सुन्दर प्रसंग है—

जयन्ती—भगवन् ! सोना अच्छा है या जगना अच्छा है ?

महावीर—जयन्ति ! कुछ जीवों को सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जगना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मनिष्ठ है, अधर्माख्यायी हैं अधर्मप्रलोकी है, अधर्मप्ररञ्जन है अधर्म समाचार हैं, अधार्मिकवृत्तियुक्त है वे सोते रहें यही श्रेष्ठ हैं। यदि वे सोते रहेंगे तो अनेक जीवों को पीड़ा नहीं होगी। इस प्रकार वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया में नहीं लगायेंगे, एतदर्थ उनका सोना अच्छा है। जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं, यावत् धार्मिकवृत्ति वाले हैं उनका जगना अच्छा है क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं, स्व, पर और उभय को धार्मिक कार्य में संलग्न करते हैं, इसलिए उनका जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन् ! बलवान् होना अच्छा है या निर्बल होना ?

महावीर— जयन्ति ! कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है और कुछ जीवों का निर्बल होना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर जो जीव अधार्मिक है यावत् अधार्मिकवृत्तिवाले हैं उनका निर्बल होना अच्छा है, क्योंकि यदि वे बलवान् होंगे तो अनेक जीवों को कष्ट देंगे। जो जीव धार्मिक है यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका बलवान् होना अच्छा है क्योंकि वे बलवान् होने से अधिक जीवों को सुख देंगे।[१५]

इसप्रकार महावीर के अनेकों संवाद आगमसाहित्य में बिखरे पड़े हैं, पर निबन्ध कहीं अधिक विस्तृत न हो जाय इस दृष्टि से उन सभी की चर्चा हम यहाँ पर नहीं कर रहे हैं। महावीर की दृष्टि का पता लगाने के लिए ये संवाद पर्याप्त हैं। महावीर से जो प्रश्न पूछे गये उन प्रश्नों का उन्होंने विश्लेषण किया। इन प्रश्नों का क्या तात्पर्य है, अपेक्षादृष्टि से इसका क्या उत्तर हो सकता है। जितनी भी दृष्टियाँ सामने आई उतनी ही दृष्टियों से प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया। प्रश्नोत्तरों की यह शैली विचारों के गूढ़ रहस्यों को सुलझानेवाली हैं। बुद्ध ने इस दृष्टि का नाम विभज्यवाद दिया है और इससे जो विपरीत दृष्टि है उसे एकांशवाद कहा है। महावीर ने इस दृष्टि को स्याद्वाद कहा है।[१६]

स्याद्वाद समन्वय करनेवाला और शान्ति का सर्जक है। वह मानव की बुद्धि की विषमता को हटाकर समता का साम्राज्य स्थापित करता है। जीवन और जगत के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी अत्यन्त उपयोगिता है। पाश्चात्य विचारक थामस ने स्याद्वाद के सम्बन्ध में अपने मननीय विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा गम्भीर है यह वस्तु की भिन्न-भिन्न

१५. भगवती सूत्र १२।२।४४३

१६. जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता पृ० २८०

स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद के अमरसिद्धान्त का दार्शनिक जगत में बहुत ऊँचा स्थान है, वस्तुतः स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद को सम्राट् का रूप दिया गया हैं। 'स्यात्' शब्द को एक प्रहरी के रूप में स्वीकार करना चाहिए, जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता। यह अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है, संशयादि शत्रुओं का संशोधक व भिन्न दार्शनिकों का संपोपक है।" जीवन की गहन से गहन समस्याओं का सही समाधान करने की क्षमता स्याद्वाद में हैं।

महान् दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क में अनेकान्तवाद को विश्व का गुरु कहा है। उनका मन्तव्य है कि इस अनेकान्त के विना लोक का व्यवहार चल नहीं सकता। "मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूं जो जन-जन के जीवन की आलोकित करनेवाला गुरु है।[१७] अनेकान्तवाद केवल तर्क का सिद्धान्त नहीं, किन्तु अनुभव मूलक सिद्धान्त है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है 'कदाग्रही व्यक्ति की जिस विपय में मति होती है उसी विपय में वह अपनी युक्ति को लगाता है, परन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस वात को स्वीकार करता है जो युक्ति-सिद्ध होती है।[१८]

भगवान् महावीर की मूलवाणी में जो अनेकान्तवाद बीज रूप में सुरक्षित था, उसे वाद के आचार्यों ने पल्लवित और पुष्पित ही नहीं किया, अपितु स्याद्वाद और सप्तभंगी पर होनेवाले आक्षेपों और प्रहारों का तर्क संगत उत्तर भी दिया। अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों में सिद्धसेन का नाम प्रमुख है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'सन्मति तर्क' में अनेकान्त की प्रौढभाषा में और तर्क-पुष्ट पद्धति से व्याख्या की है। दिगम्वर आचार्य समन्तभद्र ने भी आप्तमीमांसा ग्रन्थ में जो अनेकान्त की विशद व गहन व्याख्या की है, वह अपने ढंग की अनूठी है। आचार्य हरिभद्र ने अपने "अनेकान्तवाद प्रवेश" और "अनेकान्तजय पताका" जैसे विशिष्ट ग्रन्थों में अनेकान्त का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। आचार्य अकलंक ने "सिद्धि विनिश्चय" ग्रन्थ में अनेकान्त का उज्ज्वल रूप उपस्थित किया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अनेकान्त व्यवस्था' 'जैन तर्कभाषा', नयप्रदीप, नयोपदेश, नयरहस्य, अनेकान्त प्रवेश' आदि ग्रन्थों में नव्य न्याय की शैली में अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी, नयवाद पर महत्त्वपूर्ण लिखा है जो अपने आप में अद्भुत है।

एकान्तवाद और अनेकान्तवाद

एकान्तवाद किसी एक दृष्टि का समर्थन करता है। वह हमेशा दो विरोधी रूपों में दिखलाई देता है। कभी सामान्य और विशेष के रूप में मिलता है तो कभी सत् और असत् के रूप में। कभी निर्वचनीय और अनिर्वचनीय के रूप में दृष्टिगोचर होता है तो कभी हेतु और अहेतु के रूप में। जो व्यक्ति सामान्य का समर्थन करते हैं वे अभेदवाद को विश्व का मौलिक तत्त्व मानकर भेद को मिथ्या वताते हैं और जो भेदवाद का समर्थन करते हैं वे अभेद को विल्कुल ही मिथ्या मानते हैं। और भेद को ही प्रमाण मानते हैं। एकान्तरूप से सद्वाद का समर्थन करनेवाले किसी भी कार्य की उत्पत्ति और विनाश को सही नहीं मानते। कारण और कार्य में वे भेद नहीं देखते। जो असद्वाद का समर्थन करते हैं वे

---

१७. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वडइ। तस्स भुवणेक्क-गुरुणो णमो अणेगंत-वायस्स।
—सन्मति तर्क

१८. आग्रही वत निनीषति युक्तिं, तत्र-यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्।

प्रत्येक कार्य को नवीन मानते है। कारण में कार्य नही होता है, किन्तु कारण से बिल्कुल ही अलग एक नवीन तत्त्व उत्पन्न होता है। कितने ही एकान्तवादी विश्व को अनिर्वचनीय मानते है, उनका मन्तव्य है विश्व न सत् है और न असत् है अपितु अन्य लोग विश्व का निर्वचन कर सकते हैं। उनकी दृष्टि से वस्तुमात्र का निर्वचन असंभव नहीं है। इस प्रकार हेतुवाद और अहेतुवाद में भी परस्पर विरोध है। हेतुवाद का समर्थन करनेवाले तर्क पर बल देते हुए कहते है कि तर्क से सभी कुछ जाना जा सकता है, कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो तर्क से न जाना जाय। अहेतुवादी हेतुवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं तर्क से तत्त्व का निर्णय कदापि संभव नही है। तत्त्व तर्क से अगम्य है।

इसप्रकार एकान्तवाद में एक बात पर बल दिया जाता है और दूसरे का खण्डन किया जाता है। अत: एकान्तवाद क्लेश का मूल कारण है। सत्य का दावा करनेवाले प्रत्येक दो विरोधी पक्ष परस्पर क्यों लड़ते है? यदि दोनों ही पूर्णसत्य है तो विरोध किस बात का! दोनों पूर्णरूप से मिथ्या भी नहीं हो सकते, क्योंकि वे जिस बात का प्रतिपादन करते हैं उसकी प्रतीति भी अवश्य होती है। बिना प्रतीति के किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन संभव नहीं है।

जैन-दर्शन का वज्र आघोष है कि वस्तु में अनेक धर्म है। इन धर्मों में से किसी एक धर्म का निषेध नही किया जा सकता। जो एक धर्म का निषेध कर दूसरे धर्म का समर्थन करते हैं वे एकान्तवाद से ग्रसित हो जाते हैं। वस्तु कथंचित् भेदात्मक है, कथंचित् अभेदात्मक है, कथंचित् सत्कार्यवाद के अन्तर्गत है, कथंचित् असत्कार्यवाद के अन्तर्गत है, कथंचित् निर्वचनीय हैं कथंचित् अनिर्वचनीय है 'कथंचित् तर्कगम्य है, कथंचित् तर्क से अगम्य है। प्रत्येक दृष्टि व प्रत्येक धर्म की एक मर्यादा है उस, मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला सत्य के साथ न्याय नहीं कर सकता। व्यक्ति जब तक एकान्तवाद के आग्रह का परित्याग नही करता, तब तक तत्त्व का सही स्वरूप समझ नहीं सकता। किसी वस्तु के एक धर्म को सर्वथा सत्य मानना और दूसरे धर्म को सर्वथा असत्य कहना, वस्तु की पूर्णता को खण्डित करना है। परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म अवश्य ही एक दूसरे के विरोधी है, किन्तु सम्पूर्ण रूप से विरोधी नहीं है। वस्तु तो दोनों को समान रूप से आश्रय देती है।

एकान्तवाद में मिथ्यात्व का गहन अंधकार है। अनेकान्तवाद में सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगा रहा है, अनेकान्तवाद की यह महान् विशेषता है कि वह वस्तु के अन्य विद्यमान धर्मों की ओर उपेक्षा करके किसी एक ही धर्म को ग्रहण नहीं करता। वह जिस वस्तु का निरूपण करता है उसके विविध धर्मों का परिज्ञान कराता है, इस अपेक्षा से ऐसा 'भी' है और अन्य अपेक्षा से ऐसा भी है। वह 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है। 'ही' और 'भी' में बहुत अन्तर है 'ही' में एकान्तवाद का आग्रह है तो 'भी' में अनेकान्तवाद है। जब हम किसी लड्डू के सम्बन्ध में कहते हैं, इसमें रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, तब हम स्याद्वाद का प्रयोग करते हैं, और इसके विपरीत जब हम एकान्तवाद के आग्रह में आकर कहते हैं कि लड्डू में रस ही है, रूप ही है, गंध ही है, तब हम मिथ्या एकान्तवाद का प्रयोग करते हैं। 'भी' में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है जब कि 'ही' में दूसरे धर्मों का स्पष्टत: निषेध है। जब हम कहते हैं कि रूप भी है। इसका तात्पर्य है कि लड्डू में रस आदि धर्म भी है और जब हम कहते हैं कि फल में रूप ही है तो इसका यह तात्पर्य है कि फल में मात्र रूप ही है, रस आदि कुछ भी नहीं है, यह भी और ही का अन्तर है।

एक व्यक्ति किसी चौराहे पर खड़ा है। एक ओर से नन्हा मुन्ना आया, उसने कहा पिताजी! दूसरी ओर से एक वृद्ध सज्जन आये, उन्होंने कहा-पुत्र!' तीसरी ओर से एक युवक आया उसने कहा भाई! चौथी ओर से एक लड़का आया उसने कहा प्रोफेसर साहब! सारांश यह है कि उसी व्यक्ति को कोई चाचा, कोई ताऊ, कोई मामा कोई भानजा कहता है। सभी परस्पर संघर्ष करते हैं कि यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, प्रोफेसर ही हैं, चाचा, ताऊ, मामा, या भानजा ही है, अब बताइए किस प्रकार निर्णय हो। उनका संघर्ष किस प्रकार समाप्त हो, वस्तुतः वह आदमी क्या है। यहाँ पर स्याद्वाद न्यायाधीश के पद को ग्रहणकर मुन्ने को कहता है यह पिता भी है। यह तुम्हारे लिए पिता है क्योंकि तुम इसके पुत्र हो, पर अन्य लोगों का यह पिता नहीं है, वृद्ध से कहता है, हाँ, यह पुत्र भी है, आपकी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से नहीं है, क्या यह सारे संसार का पुत्र है? तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा से भाई है अपने विद्यार्थी की अपेक्षा से प्रोफेसर है। इसी तरह अपनी-अपनी अपेक्षा से, चाचा, ताऊ, मामा, भानजा, पति, आदि सब कुछ है। भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक आदमी में अनेक धर्म है। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा से पिता, उसी की अपेक्षा से पुत्र, उसी की अपेक्षा से भाई, प्रोफेसर, चाचा, ताऊ, और भानजा हो, इस प्रकार नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमों से विपरीत है।

स्याद्वाद के गंभीर रहस्य को बताने के लिए आचार्यों ने एक बहुत सुन्दर व सरल उदाहरण प्रस्तुत किया है। किसी व्यक्ति ने पूछा—आपका स्याद्वाद क्या है? आचार्य ने अपना कनिष्ठा और अनामिका दोनों अंगुलियां फैलाते हुए कहा—इन दोनों में से बड़ी कौन-सी है? उसने उत्तर दिया—अनामिका! कनिष्ठा को समेटकर मध्यमा अंगुली फैलाते हुए पूछा—अब बताइए दोनों में से छोटी कौन-सी है? उत्तर दिया–अब अनामिका छोटी है, आचार्य ने कहा—यही हमारा स्याद्वाद है, सापेक्षवाद है, जो आप एक ही अंगुली को छोटी भी कहते हो और बड़ी भी कहते हो।[१९]

इन उदाहरणों से अपेक्षावाद की मूल भावना स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक वस्तु लघु भी है और महान् भी है। इसीतरह प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं और उन्हें समझने के लिए अपेक्षावाद का सिद्धान्त उन पर लागू होता है, दर्शन की भाषा में इसे ही अनेकान्तवाद कहते हैं

नित्य और अनित्य

जैन दर्शन कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण व्यक्ति यह बात सुनते ही घपले में पड़ जाते हैं कि जो नित्य है वह अनित्य किसप्रकार हो सकता है, किन्तु जैन दर्शन अनेकान्त के द्वारा गंभीर समस्या को सुलझा देता है। नित्यत्व पदार्थ के उस मूल स्वभाव अर्थात् द्रव्य से सम्बन्ध रखता है, जिसका कभी भी नाश नहीं होता। पदार्थ अपने मूल रूप में ध्रुव है शाश्वत है। अनित्यत्व पदार्थ की पर्याय से सम्बन्धित है। कल्पना कीजिए—एक मिट्टी का घडा है वह नित्य भी है और अनित्य भी है। मिट्टी और घडे की आकृति ये दोनों घडे के निज रूप है, उसका एक रूप विनाशी है, वह आज है, कल नहीं है, घडे का जो आकार है वह विनाशी है, घडा बनता भी है और मिटता भी है, जैनदर्शन ने इस अनित्य रूप को पर्याय कहा है। पर्याय बदलता है इसलिए नाशवान है। घडे का दूसरा रूप मिट्टी है, वह अतीत काल में भी थी, वर्तमान में भी है और आगामी काल में भी रहेगी। अर्थात् घडे के विनाश हो जाने

१९. यथा अनामिकायाः कनिष्ठामधिकृत्य दीर्घत्वं, मध्यमामधिकृत्यह्रस्वत्वम्। —प्रज्ञापना वृत्ति

पर भी मिट्टी रूप में विद्यमान ही रही है। जैन-दर्शन ने पदार्थ के इस द्विविध रूप को द्रव्य और पर्याय कहा है। इस दृष्टि से पदार्थ न एकान्त नित्य है न एकान्त अनित्य है, पर नित्य-अनित्य है।

जीव भी कथंचित् शाश्वत है और कथंचित् आश्वत है। गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम ! द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है।[20] यहां पर दो दृष्टियों से उत्तर दिया गया। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। किसी भी अवस्था में क्यों न हो, जीव में जीवत्व का कभी अभाव नहीं होता, वह सदा जीव ही रहता है, अजीव नहीं होता। यह द्रव्य दृष्टि है। इस दृष्टि से जीव नित्य शाश्वत है। किन्तु जीव हमेशा एक रूप में ही नहीं रहता, उसके पर्याय बदलते रहते हैं। वह एक पर्याय को छोड़कर दूसरे पर्याय को ग्रहण करता है। ये पर्याय भी व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय रूप में दो प्रकार की है। व्यंजनपर्याय स्थूल अवस्था है, जो चर्म-चक्षुओं के द्वारा देखी जा सकती है। जैसे जीव की देव, मनुष्य पशु-पक्षी आदि पर्याय। यह पर्याय दीर्घकाल तक रहती है किन्तु अर्थ-पर्याय एक समय की होती है। आत्मा में प्रतिपल-प्रतिक्षण जो परिवर्तन की प्रक्रिया चल रही है, उसे अर्थ-पर्याय कहते हैं। इन दोनों पर्यायों की दृष्टि से सभी जीव और अन्य सभी पदार्थ अशाश्वत और अनित्य है।

जीव की तरह लोक भी कथंचित् शाश्वत है और कथंचित् अशाश्वत है। लोक का तीनों कालों में अस्तित्व रहा है, ऐसा न कभी समय आया और न आयेगा जिस समय लोक का अस्तित्व न हो, इसलिए लोक भी नित्य और शाश्वत है। कालचक्र के परिवर्तन-प्रभाव से लोक अशाश्वत भी है। अवसर्पिणी के पश्चात् उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के पश्चात् अवसर्पिणीकाल आता है।[21] यह क्रम अनादि काल में चला आरहा है। काल भेद की दृष्टि से कभी उसमें सुख की मात्रा बढ़ जाती है और कभी दुःख की मात्रा बढ़ जाती है, इस दृष्टि से लोक अनित्य और अशाश्वत है।

सत् और असत्

जैनदृष्टि से प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। प्रश्न हो सकता है जो पदार्थ सत् है वह असत् किस प्रकार हो सकता है, और जो असत् है वह सत् किस प्रकार हो सकता है ? एक ही वस्तु में दो विरोधात्मक धर्म किस प्रकार पाये जा सकते हैं। प्रस्तुत रहस्य को जानने के लिए अनेकान्त वादी दृष्टि की अपेक्षा है। अनेकान्तवाद का कथन है—स्वरूप से पदार्थ सत् है, पररूप से असत् है। दूध, दूध के रूप में सत् है, दही के रूप में असत् है। दूध की दूध के रूप में सत्ता स्वीकार न की जायेगी तो वह शून्य हो जायेगा, यदि दही के रूप से सत्ता मानी जाए तो वह अनुभव विरुद्ध है। प्रत्येक पदार्थ का वस्तुतः नियत स्वरूप ज्ञात होता है जब उसे सत्-असत् उभय रूप में स्वीकार करें।

त्रिपदी

संसार के सभी पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त हैं इसके लिए

---

२०. जीवाणं भंते ! किं सासया, असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया।
गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया। —भगवती ७।२।७७३

२१. भगवती सूत्र २।६।३८७

जैनदर्शन में क्रमश: उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्दों का प्रयोग किया गया है।[२२] इसे त्रिपदी भी कहते हैं, एक वस्तु मे परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है, इसके लिए आचार्य समन्तभद्र ने एक रूपक दिया है,[२३] तीन व्यक्ति एक साथ स्वर्णकार की दुकान पर पहुंचे, एक को स्वर्ण का घडा चाहिए था, दूसरे को स्वर्ण का मुकुट चाहिए था और तीसरे को सोना चाहिए था। उस समय सुवर्णकार स्वर्ण कलश को तोड़कर स्वर्ण का मुकुट बना रहा था, यह देखकर पहले व्यक्ति को परिताप हुआ, दूसरे व्यक्ति को प्रसन्नता हुई, तीसरा व्यक्ति मध्यस्थभाव से देखता रहा, क्योंकि उसे स्वर्ण की आवश्यकता थी। एक ही स्वर्ण में तीन व्यक्ति तीन रूप देख रहे हैं। कलश रूप का विनाश है, मुकुट रूप की उत्पत्ति है और स्वर्ण रूप की ध्रुवता है। प्रस्तुत रूपक से पदार्थ के तीनों गुण धर्मों की वास्तविकता का परिज्ञान होता है। तीनों तत्त्व एक ही वस्तु में स्पष्ट रूप से दिखलाई देते हैं।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भी दिया गया है। गोरस दूध रूप से नष्ट हुआ तो दधि के रूप में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अपेक्षा भेद से एक पर्याय का विनाश और अन्य पर्याय का उत्पाद है।[२३]

जैनदृष्टि से पदार्थ गुण और पर्याय का आश्रय स्थल है। गुण पदार्थ का स्वभाव है और पर्याय उसकी अवस्था है। पर्याय में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, अतः उत्पाद और विनाश का क्रम भी चलता रहता है। इस क्रम में पदार्थ अपने मौलिक स्वभाव का कभी त्याग नहीं करता।

जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जहां पर स्याद्वाद का उपयोग न हो। जहां पर दार्शनिकवाद विवाद को मिटाने के लिए स्याद्वाद की आवश्यकता है, वहां सामाजिक, राजनैतिक गुरु-ग्रन्थियों को भी सुलझाने में उपयोगी है। महात्मा गांधी ने लिखा—'अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) मुझे बहुत प्रिय है। उसमें से मैंने मुसलमानों की दृष्टि से उनका, ईसाइयों की दृष्टि से उनका (इस प्रकार अन्य सभी का) विचार करना सीखा है। मेरे विचारों को कोई गलत मानता, तब मुझे उसकी अज्ञानता पर पहले क्रोध आता था। अब मैं उनका दृष्टिबिन्दु उनकी आंखों से देख सकता हूं, क्योंकि मैं जगत के प्रेम का भूखा हूं। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।''

वैज्ञानिक क्षेत्र में भी स्याद्वाद ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। वस्तु को अनेक दृष्टियों से अवलोकन करना, और उनके विविध धर्मो से, गुणों से परिचित होना क्या अनेकान्तवाद नहीं है? विज्ञान यदि अपनी पूर्व मान्यताओं पर ही दृढ़ रहता तो क्या आज अपूर्व वैज्ञानिक प्रगति दृष्टिगोचर हो सकती थी। 'लोहा अत्यन्त भारी है और वह पानी में डूब जाता है'' ऐसी रूढ मान्यता थी किन्तु वैज्ञानिकों ने अनेकान्त दृष्टि से लोहे को अन्य वस्तुओं के मिश्रण से हलका कर लोहे के जलयान बनाये और अनन्त सागर पर तैर रहे हैं। बिजली, ध्वनि, अणुशक्ति आदि सभी अन्वेषण अनेकान्त दृष्टि पर अवलम्बित है।

---

२२. उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्। —तत्त्वार्थसूत्र ५।२९

२३. पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।
उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वाद-द्विड्जनो ऽपि कः? —आप्त-मीमांसा

१९

वैज्ञानिक जगत जब अनेक समस्याओं से परेशान था, तब सन् १६०५ में प्रोफेसर अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद प्रस्तुत किया जिससे अनेक समस्याओं का समाधान हो गया। गणित की बहुत सारी पहेलियों के कारण सापेक्षवाद दुरुह भी बन जाता है। सापेक्षवाद को सरलता से समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। एक बार आइन्स्टीन की पत्नी ने उनसे कहा—"सापेक्षवाद क्या है, यह मैं कैसे समझूं ?" आइन्स्टीन ने एक दृष्टान्त में उत्तर दिया "जब एक मनुष्य सुन्दर लड़की से बात करता है तो उसे एक घंटा भी एक मिनट जैसा लगता है। उसे ही गर्म चूल्हे पर बैठा दिया जाय तो उसे एक मिनट भी एक घंटे के बराबर लगता है, यह सापेक्षवाद है।"

परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य को समझाने के लिए प्रोफेसर आयन्स्टीन ने सापेक्ष उदाहरणों का प्रयोग किया है। वे एक स्थान पर लिखते है 'जिस किसी घटना के सम्बन्ध में हम यह कहते है कि यह घटना आज या अभी हुइ, हो सकता है कि वह घटना सहस्रों वर्ष पूर्व हुई हो। जिसप्रकार एक दूसरे से लाखों प्रकाश वर्ष की दूरी पर दो चक्करदार नीहारिकाओं (क. ख) में विस्फोट हुए और वहां दो नये तारे उत्पन्न हुए। इन नीहारिकाओं में उपस्थित दर्शकों के लिए अपने यहां की घटना तत्काल हुई मालूम होगी, किंतु दोनो के बीच लाखो प्रकाश-वर्ष की दूरी होने से, 'क' का दर्शक 'ख' की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित हुई कहेगा, जबकि दूसरा दर्शक अपनी घटना को तत्काल और 'क' की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित होने वाली बताएगा। इस प्रकार विस्फोट, विस्फोट का परमार्थ काल नही, सापेक्ष काल ही बताया जा सकता है।

इसी प्रकार प्रो० एडिंगटन भी दिशा की सापेक्षता पर प्रकाश डालते हुए लिखते है—'सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए सबसे सहज उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा का है। एडिनबर्ग की अपेक्षा से केम्ब्रिज की एक दिशा है और लन्दन की अपेक्षा से एक अन्य दिशा है। इसी तरह और अपेक्षाओं से हम यह कभी नही विचारते कि उसकी वास्तविक दिशा क्या है ?"

प्रो० आइन्स्टीन प्राकृतिक स्थितियों के सम्बन्ध में अपेक्षा-प्रधान बात कहते है। वे लिखते हैं 'प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसी ही क्यों न हो, वास्तविक गति का निर्णय असंभव ही है।" ऐसा क्यों है, इसका उत्तर सर जेम्स जीन्स के शब्दों में इस प्रकार है 'गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म है, एक जहाज, जो स्थित है वह पृथ्वी की अपेक्षा से ही स्थित है किन्तु पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति मे है और जहाज भी इसके साथ। यदि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक जाए, तो जहाज सूर्य की अपेक्षा स्थिर हो जायेगा। किन्तु दोनों उस समय भी आस-पास के तारों की अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गति शून्य हो जाए, तो भी ग्रह दूरस्थ नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील ही मिलेंगे। आकाश मे इस प्रकार यदि हम आगे से आगे जाएँगे, तो हमें पूर्ण स्थिति जैसी कोई वस्तु नही मिलेगी।"

स्याद्वाद और सापेक्षवाद ये दोनों अपेक्षा-प्रधान है, और सत्य-तथ्य के समुद्घाटक है, वस्तुतः स्याद्वाद और सापेक्षवाद सत्य ज्ञान की कुन्जी है। आज संसार में जो भी विषमता है वे स्याद्वाद और सापेक्षवाद से समता के रूप में परिवर्तित की जा सकती है।

●●

स्याद्वाद

सत्य को समझने की सही दृष्टि

—मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'कमल' काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

'स्याद्वाद' जैनदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। 'स्याद्वाद' के विना जीवन-जगत का व्यवहार चल नहीं सकता। जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। 'स्याद्वाद' इसमें दो शब्दों का संयुक्तीकरण है 'स्यात्' और 'वाद'।

'स्यात्' का अर्थ है अपेक्षा, दृष्टिकोण और 'वाद' का अर्थ है सिद्धान्त या मन्तव्य! दोनों शब्दों का अर्थ हुआ 'सापेक्ष-सिद्धान्त'। अर्थात् जो अपेक्षा को लेकर चलता है और भिन्न-भिन्न विचारों का एकीकरण करता है।

'स्याद्वाद' को अपनाए विना संपूर्ण सत्य के निकट हम पहुंच नहीं सकते, विना इसके वस्तु का सही निर्णय कर नहीं सकते। 'वस्तु' अनन्त धर्मात्मक है और हम यदि किसी एक ही धर्म को पकड़कर वैठ जाएं, अन्य धर्मों की उपेक्षा करके अपनी, केवल अपनी ही अपनी राग अलापते रहें, मनमानी ठानते रहें, वस, जो कुछ हमने निर्णय कर दिया है यही सत्य है और सव मिथ्या है, इस प्रकार का राग आलापते रहें तो निःसंदेह हमें अटकना पड़ेगा, काफी भटकना पड़ेगा, असफल रहना पड़ेगा। अधिक क्या? **'एयन्ते निरवेक्खे न सिज्झई विविहयावगं दव्वं के'** अनुसार ऐसे व्यक्ति कभी सत्य को पा ही नहीं सकते। आपके सामने एक उदाहरण है, आप अपने पिता को पिता कहते हैं, ठीक है, एकदम आप सत्य के निकट हैं, किन्तु यहाँ प्रश्न है, क्या अपका जग-पिता है? वह सम्पूर्ण सृष्टि का पिता है? उत्तर स्पष्ट है—नहीं? क्योंकि आपके पिता आपकी अपेक्षा से ही पिता है, किसी अन्य को अपेक्षा से नहीं। किसी अन्य की अपेक्षा से वे भाई भी है, पुत्र भी है, चाचा भी है, मामा भी है, तो फिर हम एकांत रूप से यह किस प्रकार कहें कि ये केवल पिता ही है। हमेशा एकांत आग्रह से ही विग्रह बढ़ते हैं, क्लेश बढ़ता है। भगवान महावीर ने इन क्लेशों से, वैचारिक पूर्वाग्रहों और मतवादों से मानव जाति को मुक्ति दिलाने के लिए ही स्याद्वाद का दर्शन दिया। उन्होंने केवल 'ही' का नहीं, अपितु 'भी' का प्रयोग करने के लिए कहा। इसी वात को समझने के लिए लीजिए भगवती सूत्र के ये दो तीन प्रश्नोत्तर हमारे समक्ष हैं—

"भगवन् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत है ? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—गौतम ! जीव किसी दृष्टि से शाश्वत है और किसी दृष्टि से अशाश्वत है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है। पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है।

गौतम—जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

महावीर—जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी है ! गौतम ने पुनः शंका रखी—भगवन् ! यह किस प्रकार ?

महावीर—जीव दो प्रकार के है ?

(१) संसारी और (२) मुक्त।

मुक्त तो अवीर्य है। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं—शैलेशी-प्रतिपन्न और अशैलेशी प्रतिपन्न। शैलेशी-प्रतिपन्न लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है। अशैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी और अवीर्य भी है। जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है। और जो जीव पराक्रम नहीं करते वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है।

ऐसे एक दो नहीं, अनेक प्रश्नोत्तर प्रसंग आदि हैं जिन से तत्त्व निरूपण की सुन्दर शैली व्यक्त होती है।

स्याद्वाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो समस्त विरोधों का शमन करता है, वादी, प्रतिवादी दोनों को न्याय देता है, परस्पर एक दूसरे को टकराने से रोकता है। जटिल से जटिल उलझनों को सुलझा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र की भाषा में " 'स्याद्वाद दृष्टि' अनेक अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता, सदृशता, विसदृशता, वाच्यता, अवाच्यता, सत्ता असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर, यथार्थ समन्वय प्रस्तुत करती है।"

हरिभद्र सूरि, समन्तभद्र, सिद्धसेन जैसे अनेक महान् दार्शनिकों ने इसका गम्भीर विवेचन किया है जो उनके ग्रन्थों—आचार्य श्री हरिभद्र की 'अनेकान्त जयपताका' आचार्य समन्तभद्र की 'आप्त-मीमांसा' सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' में तथा उपाध्याय यशोविजयजी की 'अनेकान्तव्यवस्था' आदि से अच्छी तरह जाना जा सकता है। 'स्याद्वाद' सिद्धान्त जैन संस्कृति का तो आधारभूत सिद्धान्त है ही पर अन्य दर्शनों ने भी शब्दान्तर के साथ आश्रय लिया है, सच बात तो यह है कि 'अनेकान्त' व स्याद्वाद के बिना कोई भी दार्शनिक विवेचन अधूरा रहेगा, वक्ता मूक व लड़खड़ाता रहेगा, वाणी अव्यवस्थित रहेगी व सिद्धान्त पंगु !

स्याद्वाद की सर्वव्यापकता

ईशावास्योपनिषद में आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है—

तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः। अर्थात् आत्मा चलती भी है, दूर भी है, समीप भी है सबके अन्तर्गत भी है और बाहर भी है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती से किसी ने पूछा—आप विद्वान है या अविद्वान ? तो उन्होंने उत्तर दिया—दार्शनिक क्षेत्र में विद्वान हूं और व्यापारिक क्षेत्र में अविद्वान।

बुद्ध के विभज्यवाद को भी एक प्रकार से अनेकान्तवाद ही कह सकते है।

सांख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणमयी मान कर स्याद्वाद को ही स्वीकार करते हैं।

ऋग्वेद में भी—'**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' (ऋग्वेद—१६४, ४६) एक ही सत् तत्त्व को विद्वान् विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। यह स्याद्वाद का बीज वाक्य है।

शंकराचार्य ने सत्य की तीन अवस्थाएं मानी और उन्हें नाम दिया, परमार्थसत्य, व्यवहार-सत्य और प्रतिभाससत्य।

ब्रेडले ने एक ही वाक्य में कहा है कि झूठी से झूठी बात में भी सत्य रहता है। अल्प से, अल्प पदार्थ में भी सत् तत्व रहता है।

और यह पंक्ति—**दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्**—इस लोक में दिखाई देनेवाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है न निर्गुण है। वस्तु के अनेक रूपों को ध्वनित करती है।

'लुई फिशर' ने गांधी जी का एक वाक्य लिखा है "मैं स्वभाव से ही समझौतापसंद व्यक्ति हूं क्योंकि मैं ही सच्चा हूं ऐसा मुझे कभी विश्वास नहीं होता।"

आधुनिक विज्ञान ने भी अपने अन्वेषणों के माध्यम से इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है। विज्ञान ने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि जिन पदार्थों को हम स्थित, नित्य और ठोस समझते हैं वे पदार्थ बड़े वेग से गतिशील है, इतना ही नहीं परिवर्तनशील एवं खोखले भी हैं।"

प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा—हम तो केवल सापेक्षिक सत्यों (Relative Truth) को जान सकते हैं, पूर्ण या निरपेक्ष सत्य (Ab olute Truth) तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकता है।

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो आदि ने समस्त पदार्थों को सत् और असत् इन दो में समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता एवं विश्व की विविधता सिद्ध की है। प्लेटो ने कहा—हम लोग महासागर के किनारे खेलनेवाले उन बच्चों के समान है जो अपनी सीपियों से सागर के पूरे पानी को नापना चाहते हैं। हम उन सीपियों से महासागर का पानी खाली नहीं कर सकते फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियों में जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं वे उस सागर के पानी का एक ही अंश है, इसमें कोई संशय नहीं और भी कहा है कि भौतिक पदार्थ सम्पूर्ण सत् और असत् के बीच अर्ध सत् जगत में रहते हैं। (सी० ई० एम० जोड़—फिलासोफी फार आवर टाइम्स पृष्ठ, ४६)

उसने जगत को सदसद् कहते हुए कहा—पानी, वृक्ष, पक्षी अथवा मनुष्य 'आदि हैं' और "नहीं हैं", अर्थात् एक दृष्टि से है और अन्य दृष्टि से 'नहीं है' अथवा एक समय में 'है' और दूसरे समय में 'नहीं है' अथवा न्यून या अधिक है, अथवा परिवर्तन या विकास की क्रिया से गुजर रहे हैं। वे 'सत्' और असत् दोनों के मिश्रण रूप से है अथवा सत् और असत् के बीच में है—(एरिक-लेअन-प्लेटो पृष्ठ, ६०)

उसकी व्याख्या के अनुसार नित्य वस्तु का आकलन अथवा पूर्ण आकलन सायन्स (विद्या) है और असत् अथवा अविद्यमान वस्तु का आकलन अथवा संपूर्ण अज्ञात 'नेस्यन्स' (अविद्या) है किंतु इन्द्रिय-गोचर जगत् सत् और असत् के बीच का है। इसलिए उसका आकलन भी 'सायन्स' 'नेस्यन्स' के बीच का है। (वही पृष्ठ ६४)।

उसने उसके लिए 'ओपिनियन' शब्द का प्रयोग किया है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'नालेज' का अर्थ पूर्ण ज्ञान है और 'ओपिनियन' का अर्थ अंश ज्ञान है। उसने 'ओपिनियन' की व्याख्या 'संभावना विषयक विश्वास' (Truse in Probabilities) भी की है। अर्थात् ऐसा होना भी संभव है तुझे ऐसा लगता है।

एक तामिल लोकोक्ति को भी देखिए—स्याद्वाद की कितनी स्पष्ट ध्वनि है उसमें "मनयत्तन पापई कडिय तन पुण्य" अर्थात् मनुष्य पर्वत जितने पाप से भी तृण जितना पुण्य रहता ही है। बड़े से बड़े पापी मनुष्य में भी पुण्य का कुछ अंश तो होता ही है।

आज की आवश्यकता

इस प्रकार विश्व के लगभग सभी दर्शनों ने स्याद्वाद को स्वीकार किया है। वस्तुतः स्याद्वाद भेदों में अभेद देखने की दिव्य दृष्टि देता है, संघर्षों में समन्वय की सृष्टि करता है, स्याद्वाद संकीर्णता को तनिक भी स्थान नहीं देता। स्याद्वाद हमेशा यही दृष्टि लेकर चलता है कि जो भी सच्चाई है वह मेरी है, भले ही वह किसी भी जाति, धर्म, शास्त्र, ग्रन्थ आदि में ही क्यों न हो स्याद्वाद ही धार्मिक सहिष्णुता एवं सर्व धर्म समभाव का सर्जक है, न केवल धार्मिक, अपितु वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राजनैतिक प्रत्येक क्षेत्र में आनंद का संचार करनेवाला है।

बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि कहां तो जैन संस्कृति का इतना उदार दृष्टिकोण और कहां है आज हम ? आज हम अनेकांत के गीत उछल-उछल कर गाते है, लम्बी चौड़ी बातें बनाते हैं पर आज हमारा अन्तर अनेकांत से एकदम रिक्त है, सूना है, सच तो आज हम 'एकांतवाद' के परले सिरे के पुजारी बन बैठे हैं। जिस स्याद्‌वाद के माध्यम से जैन आचार्यों ने परस्पर विरोधी दर्शनों में समन्वय करने का प्रयास किया, वही जैन समाज आज एक प्रकार के कलहों से ग्रस्त हो गया। आनंदघनजी ने ठीक ही तो कहा—'गच्छना बहु भेद नयने निहालता तत्व नी बात करता, तमे लाज नी आवें।

अनेक छोटी-छोटी बातें जो तथ्यहीन है, जिनमें कोई चेतना नहीं, व्यर्थ ही उन्हें पकड़ कर आज हम मुट्ठी भर जैन परस्पर लड़ रहे है, संघर्ष कर रहे हैं। दिगम्बर किधर तो श्वेताम्बर किधर। और तो क्या, आज स्थानकवासी, स्थानकवासी भी एक नहीं, एक दूसरे पर कीचड़ उछाला जा रहा है, हम सच्चे हैं, उत्कृष्ट आचारवान है, तुम झूठे हो, शिथिलाचारी हो। जमाना किधर जा रहा है और हम ? कुछ लिखा नहीं जाता कितनी विचित्र स्थिति है आज हमारी ?

महावीर का जो स्याद्वाद अथवा अनेकान्त सिद्धान्त विश्व की उलझी हुई कड़ियों को सुलझाकर विश्व एकता का उज्ज्वल आदर्श लेकर आया. उस अमूल्य थाती को पाकर भी हम जहर फैला रहे हैं, परस्पर विभिन्न प्रकार की भिन्नताओ में विभाजित हैं। इससे बढ़कर और क्या भाग्य-हीनता हो सकती है ! आवश्यकता है परस्पर प्रेम, स्नेह, सौहार्द का वातावरण पैदा करने के लिए इसे हृदय की गहराई से आत्मसात् करें, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन की वीणा के तार जो बुरी तरह से उलझ गए है—और उनसे जो बेसुरी आवाज आ रही है, सुमधुर संगीत सुनने के लिए स्याद्वाद के द्वारा उन्हें सुलझाए।

श्रमणदर्शन की दो धाराएँ : कितनी निकट-कितनी दूर :

जैन और बौद्ध-दर्शन

एक तुलनात्मक समीक्षा

—डा० भागचन्द जैन 'भास्कर' एम. ए. पी-एच डी.
अध्यक्ष—पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय

आध्यात्मिक चिन्तन की दिशा में श्रमणदर्शन का योगदान अविस्मरणीय है। जैन-बौद्ध आदि श्रामणिक चिन्तकों ने जिस समानता और निष्पक्षता की आधारशिला नियोजित की है, वह विश्व-दर्शन के सौम्य प्रासाद की संरचना में निःसन्देह नींव के पत्थर के रूप में कार्य कर रही है। समाज की चतुर्मुखी प्रगति और उत्थान की पृष्ठभूमि में उसका विशेष मूल्याङ्कन किया जाना अपेक्षित है।

जैन-बौद्ध धर्म के पुरस्कर्ता और संस्थापक चिन्तन की लगभग समान भूमि पर प्रतिष्ठित रहे। भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने जिस क्रान्तिकारी मार्ग को पकड़ा वह मूलतः परस्पर बहुत अधिक भिन्न नहीं था। यही कारण है कि दोनों चिन्तक किसी विषय पर समान रूप से सोचते हुए दिखाई देते हैं, तो कहीं एक गम्भीर होता है और दूसरा व्यावहारिक। उनकी मनःस्थिति और चिन्तन परम्परा ने दोनों दर्शनों को अपने-अपने ढंग से प्रभावित किया है। उत्तरकाल में यह चिन्तन अधिक गहरा होता गया। परिवेश के आधार पर प्रत्येक दर्शन की शाखा प्रशाखाओं का भी उद्भव हुआ। फलतः चिन्तन की गहराई बढ़ती गई। इसके बावजूद मूल भूमिका से वे अधिक तिरोहित नहीं हुए।

प्रस्तुत निबन्ध में हम इसी उद्देश्य को लेकर संक्षेप में जैन-बौद्ध दर्शन में सादृश्य और वैसादृश्य को उपस्थित करते हुए उन पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत करेंगे।

१. समाज व्यवस्था—

श्रमण-संस्कृति सम, शम और श्रम पर आधारित है, अतः समाज और सांस्कृतिक व्यवस्था की दृष्टि से दोनों दर्शनों में कोई विशेष भेद नहीं। वैदिक संस्कृति जैसी जातिवाद की सीमा यहाँ नहीं। यहां तो व्यक्ति को कर्म से ही ब्राह्मण, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र कहा गया है। उत्तराध्ययन में कहा है कि "केवल मुण्डन से श्रमण, ओंकार के जपन से ब्राह्मण, अरण्यवास से मुनि और कुश-चीवर धारण से तपस्वी नहीं होता, प्रत्युत समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तपाराधन से तपस्वी होता है।' हरिएसिज्जं अध्याय इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

---

१. न दीसई जाइविसेस कोई —उत्तरा० १२।३७

रविषेण ने इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह शूद्र अथवा चाण्डाल है इस-लिए गर्हित है और यह ब्राह्मण है इसलिए पूज्य है, यह तथ्य संगत नहीं। वस्तुतः गुण कल्याणकारी होते हैं, क्योंकि कर्म से कोई चाण्डाल ही क्यों न हो, यदि वह व्रती है तो वह ब्राह्मण माना गया है :—

न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥[1]

भगवान् बुद्ध ने भी समाज की व्यवस्था का यही आधार बनाया। पालि त्रिपटक के प्रमुख ग्रन्थ सुत्तनिपात आदि में जातिवाद और वर्णवाद को जन्मना न मानकर कर्मणा स्वीकार किया गया है। बुद्धघोष ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धन से श्रेष्ठ नहीं। उसकी श्रेष्ठता तो उसके उत्तम कर्म, विद्या, धर्म और शील से है—

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा॥[2]

जैन-बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी भी व्यक्ति को आध्यात्मिक उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचने का अधिकार है। उसमें उसे किसी ईश्वर के प्रसाद की आवश्यकता नहीं। वह तो उसके स्वयं के पुरुषार्थ का फल होता है।

२ कर्मकाण्ड की निरर्थकता—

दोनों दर्शनों में कर्मकाण्ड की उपयोगिता पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा किया है। बुद्ध और महावीर दोनों ने प्रारम्भ में ही वैदिक कर्मकाण्ड की तीव्र निन्दा की थी। उनकी लोकप्रियता का भी यह कारण सिद्ध हुआ। दोनों महापुरुष क्रियावादी थे और अक्रियावाद के घोर निन्दक थे। अंगुत्तर निकाय में एक उद्धरण आता है जहां निगण्ठनातपुत्त बुद्ध को अक्रियावादी कह कर उनकी आलोचना करते हैं। बुद्ध इसका उत्तर देते हैं और कहते हैं कि वे क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों हैं। अक्रियावादी इसलिए हैं कि अकुशल कर्मों को न करने का उपदेश देते हैं और क्रियावादी इसलिए हैं कि कुशल कर्मों को करने का उपदेश देते हैं।[3] बुद्ध की यह व्याख्या अपने ढंग की है।

जैन दर्शन भी कर्मकाण्ड को मुक्तिदायक नहीं मानता। सद्भाव से की गई अर्चा, पूजा अवश्य शुभोपयोग का कारण है[4] पर मात्र कर्मकाण्ड सद्गति देने में सहायक नहीं हो सकता। दोनों दर्शनों के उत्तरकालीन विकास में कर्मकाण्ड का कुछ भाग समाहित हो गया। विशेषरूप से जैन दर्शन में समागत कर्मकाण्ड का उत्तरदायित्व आचार्य जिनसेन को है। आदिपुराण में प्रतिपादित कर्मकाण्ड का विरोध सोम देव ने यशस्तिलकचम्पू में किया अवश्य, पर कुछ दबी आवाज में। सम्भवतः उस समय तक वह अधिक प्रचलित हो गया होगा। बौद्धदर्शन का कर्मकाण्ड तो महायान और तन्त्रयान तक पहुँचते-पहुंचते अत्यन्त वीभत्स हो गया। और यदि यह कहा जाय कि वही कर्मकाण्ड बौद्धधर्म को पतित एवं विनष्ट करने में कारण बना तो अत्युक्ति नहीं होगी।

---

१. पद्मचरित, ११।२०३
२. विसुद्धिमग्गो
३. अंगुत्तरनिकाय (रोमन), भाग ४, पृ० १८२
४. प्रवचनसार, प्रथम अधिकार

कर्मकाण्ड का यह प्रकोप जैन दर्शन को नहीं झेलना पड़ा। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य उस पर यथासमय अंकुश लगाते रहे। कर्मकाण्ड यहां अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सका। शायद यही कारण है कि भट्टारकीय परम्परा द्वारा प्रदत्त कर्मकाण्ड घातक न होकर किसी अंश तक साधक ही रहा।

३ आत्मा एवं पुर्नजन्म—

दोनों दर्शन पुनर्जन्म को एक मत से स्वीकार करते हैं। पर आत्मा के विषय में कुछ मत भेद है। जैन दर्शन में आत्मा (जीव) के स्वरूप को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचार किया गया है। द्रव्यतः वह उपयोगमयी, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, संसारस्थ, सिद्ध और ऊर्ध्वगामी है, तथा पर्यायतः वह संसार में भ्रमण करनेवाला है।[1] रागादि कारणों से आत्मा को अनादिवद्ध माना गया है। यह अनादिवद्धता दूर की जा सकती है, यदि व्यक्ति को स्व-पर का विवेक जाग्रत हो जाये। इसी को जैन दार्शनिक परिभाषा में भेद-विज्ञान कहा जाता है। यही आत्मदृष्टि है। इसी को सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आत्मा मूलतः विशुद्ध और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुणों से युक्त माना गया है।[2] मुक्तावस्था में ये गुण उसमें पूर्ण रूप से प्रगट हो जाते हैं। गुण कभी की गुणी से पृथक् नहीं रह सकता। किसी कारण से आवृत भले ही हो जाये। मोहादि कारणों से यह आवृतावस्था वनी रहती है। उनके दूर होने पर आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध दर्शन के विषय में साधारणतः यह माना जाता है कि वह आत्मवादी नहीं है। पर हमारा मत है कि बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व को कभी अस्वीकार नहीं किया। छठी शताब्दी ई० पू० में तीर्थिक आत्मवाद को लेकर परस्पर तीक्ष्ण विवाद किया करते थे और जन समुदाय को विमोहित करने का प्रयत्न करते थे।[3] बुद्ध ने यह देखकर उससे दूर रहने का प्रयत्न किया और आत्मा की सर्वप्रथम अपने ढंग से यह व्याख्या की कि चूंकि यह समूचा जगत् अनित्य, भयावह और दुःखकारी है अतएव इसे अनात्म (अपना नहीं है) मानो।[4] ज्ञान प्राप्ति का यही साधन है। तथागत के शिष्यों ने उसके बाद अत्तभाव की परवर्ती व्याख्या अहंभाव भी की, जिसका परित्याग निर्वाणोन्मुख व्यक्ति के लिए अपरिहार्य है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि बुद्ध ने संसार से वैराग्य जागृत करने के लिए दुःख समुदय-निरोध की भावना से अनात्मवाद की स्थापना की। इसीलिए दुःख-समुदय का मूल कारण तृष्णा का निरोध हो जाने से प्रतिसंख्याज्ञान की उत्पत्ति बतायी है। ५ स्कन्ध, १२ आयतन और १८ धातु, इन ३६ धर्मों को तथागत ने अनात्मा माना और उनसे आसक्ति तथा मोहाच्छन्नता को दूर करने का उपदेश दिया है।[5] अनात्मवाद के विकास का यह प्रथम चरण है।

---

१ तत्वार्थसूत्र २-८-९; उत्तराध्ययन, २८-१०; द्रव्यसंग्रह, ३-१३,

२. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा,
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥ —उत्तरा० २८।११

३. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त, आदि, सूयगडाग प्रथम अध्याय।

४. पटिसम्भिदामग्ग, २,१००-१।

५. मज्झिमनिकाय, ३,५,६

२०

जन समुदाय ने बुद्ध के इस व्यावहारिक दृष्टिकोण के अनुकरण की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखायी। उत्तरकाल में बुद्ध के शिष्यों ने विशेष रूप से अनात्मवाद की प्रस्थापना में तीव्र आयास किया। विकास की इस चरम सीमा तक पहुंचने के लिए अनात्मवाद को अनेक चरण पार करने पड़े। इसमें नागार्जुन और आर्य देव की भूमिका विशेप महत्वपूर्ण रही।

बौद्धधर्म में आत्मवाद की जो जैसी भी स्थिति बनी, पर यह निश्चित है कि वहां आत्मा के अस्तित्व को मूलतः अस्वीकार नहीं किया गया। जहां तक कर्म का प्रश्न है, बौद्धधर्म संसारी को कम्म-दायाद, कम्मयोनि और कम्मपटिसरण कहता है।[१] कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है। कर्म और पुनर्जन्म के स्वीकार करने से आत्मा की असत् स्थिति कमजोर हो जाती है। शायद इसीसे बचने के लिए बौद्धधर्म ने आत्मा के स्थान पर सन्तान आदि शब्दों का प्रयोग किया हो। जन्मान्तर ग्रहण में प्रथम जन्म के अन्तिम विज्ञान का अन्त होते ही दूसरे जन्म के प्रथम विज्ञान का प्रारम्भ माना है।

जैनदर्शन में इस प्रकार आत्मा के जिस स्वरूप को स्वीकार किया गया है, बौद्ध दर्शन सन्तान, विज्ञान आदि शब्दों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से उस स्वरूप को अपनी स्वीकृति प्रदान करता है।

(४) प्रमाण स्वरुप—

प्रमाण का लक्षण साधारणतः यह किया जाता है—"**प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्**" अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो वह प्रमाण है। प्रमाण के इस स्वरूप पर दार्शनिकों में काफी विवाद होता रहा है। सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने स्वपरावभासी ज्ञान को प्रमाण कहा।[२] बाद में सिद्धसेन ने उसमें 'बाधविवर्जित' शब्द और जोड़ दिया।[३] अकलंक ने प्रमाण पर और मन्थनकर उसे कहीं व्यवसायात्मक[४] कहा और कहीं अविसंवादी होना आवश्यक बताया।[५] विद्यानन्द ने उसे और स्पष्ट कर सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा[६] तथा माणिक्यनन्दि ने अकलंक की परिभापा में 'अपूर्व' पद जोड़कर उसे अनिश्चित अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया है।[७]

प्रमाण लक्षण की इस जैन परम्परा से यह स्पष्ट है कि वहां स्वसंवेदित्व, अविसंवादित्व अथवा व्यवसायात्मकत्व जैसे विशेपण दिये गये हैं। यहां "**प्रमाकरणं प्रमाणम्**" में प्रमा का मूल करण क्या है, यह विशेप विवाद का प्रश्न है। न्यायवैशेपिक सन्निकर्प और ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, सांख्य इन्द्रियवृत्ति को, प्रभाकर अनुभूति को और जैन ज्ञान को ही करण मानते हैं। जैनदर्शन में इस प्रमा को चेतन स्वीकार किया गया है। चेतन क्रिया में साधकतम करण चेतन ही हो सकता है, अचेतन नहीं। अतः यहां प्रमा का करण ज्ञान हो सकता है, सन्निकर्प नहीं।

---

१ वही, ३-४५
२ स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्—**वृहत् स्वयम्भूस्तोत्र**, ६३
३ प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम् —**न्यायावतार**, १
४ व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्—**लघीयस्त्रय-६०**
५ प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थ लक्षणत्वात्—**अष्टशती अष्टसहस्री, पृ० १७४**
६ सम्यग्ज्ञानं, प्रमाणं स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं—**प्रमाणपरीक्षा**
७ स्वापूर्वार्थव्यसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्—**परीक्षामुख, १**

बौद्ध परम्परा में अविसंवादिज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार किया गया है और सारूप्य, तदाकारता और योग्यता को करण माना गया है।

प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देस्वभिप्रायनिवेदनात् ॥[१]

इस स्थिति में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक पदार्थों के आकार रूप में कैसे परिणत हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि ज्ञान में जो ज्ञेय प्रतिभासित हों वे संशयादि दोषों से निर्मुक्त ही हों। अन्यथा सीप में चांदी का प्रतिभास कैसे होता ! फिर भी बौद्धदर्शन में ज्ञान जैन-दर्शन की तरहं स्वसंवेदत्व धर्म से विभूषित है। वह मीमांसकों के समान न तो परोक्ष है. नैयायिकों के समान न ज्ञानान्तरवेद्य है और न सांख्यों के समान प्रकृति का धर्म है। विज्ञानवाद बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता अतः वहां अविसंवाद और प्रामाण्य व्यवहाराश्रित है। परन्तु सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं। अतः यह अविसंवादित्व स्वलक्षण पर आधारित है।

आचार्य अकलंक ने अपने प्रमाण के लक्षण में जो 'अविसंवादि' शब्द नियोजित किया है वह निश्चित ही बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति की देन है। उनके ही द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के लक्षण का अनुकरण किया गया है। अकलंक ने प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही कहा है और कथञ्चित् अपूर्वग्राही ज्ञान को भी प्रमाण की कोटि में रखा है। बौद्ध और मीमांसक भी ऐसे ही ज्ञान को प्रमाण स्वीकार करते है। इस प्रमाण से सम्बन्ध धारावाहिक ज्ञान का है। धारावाहिकज्ञान का तात्पर्य है—उत्तरकाल में लगातार ज्ञान का होना। बौद्ध धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते जबकि मीमांसक उसे स्वीकार करते हैं।

दिगम्बर जैन परम्परा में धारावाहिक ज्ञान को लेकर दो विचारधारायें है। प्रथम परम्परा अकलंक की है जिसके अनुसार धारावाहीज्ञान प्रमाण नही है, पर यदि उसका उत्तरवर्ती ज्ञान कुछ वैशिष्टययमय हो तो उसे प्रमाण कहा जा सकता है। यह मत अनेकान्तवाद पर आश्रित है। द्वितीय परम्परा विद्यानन्द[२] और प्रभाचन्द्र[३] की है। उसके अनुसार 'अपूर्व' विशेषण की कोई आवश्यकता नही। धारावाहिकज्ञान ग्रहीतग्राही हो अथवा अग्रहीतग्राही। यदि वह 'स्वार्थ' का विनिश्चायक है तो उसे प्रमाण कहा जायगा। स्मृति को यदि ग्रहीतग्राही होने से प्रमाण नही कहा जा सकता तो धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकता। श्वेताम्बर परम्परा निर्विवाद रूप से धारावाही ज्ञान को प्रमाण मानती है।[४]

प्रामाण्य व्यवस्था में भी जैन-बौद्ध दर्शन में अन्तर है। जैन-दर्शन अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य मानता है।[५] अभ्यस्तदशा का तात्पर्य है परिचित परिस्थितियां और अनभ्यस्तदशा का तात्पर्य है अपरिचित परिस्थितियां। मीमांसक वेद को स्वतः प्रमाण मानते है क्योंकि

---

१ प्रमाणवार्तिक, २. १. प्रमाणसमुच्चय, पृष्ठ २४
२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.१०
३ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ-५६
४ प्रमाणमीमांसा १.१.४
५ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च—परीक्षामुख, १.१३

प्रथम तो वह अपौरुषेय है और फिर नियमों आदि का विधायक है।[1] मीमांसक उसे स्वतः न मानकर परतः—प्रामाण्य मानते हैं। इसके पीछे उनका तर्क है कि वेद ईश्वरकर्तृक है।[2] सांख्य दोनों को स्वतः और नैयायिक दोनों को परतः मानते है। इन सभी से भिन्न बौद्धों का मत है। उनके अनुसार दोनों, प्रामाण्य और अप्रामाण्य—अपनी अवस्था विशेष पर निर्भर रहते हैं।[3] बौद्धों की यह प्रामाण्य-व्यवस्था निश्चित ही उत्तरकालीन है।

प्रमाण संप्लव में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति एक ही प्रमेय में देखी जाती है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी होने के कारण अनिश्चित अंश के निश्चित करने में प्रमाणसंप्लव को स्वीकार करता है।[4] पर बौद्ध चूंकि क्षणिकवादी हैं, इसलिए वहां प्रमाणसंप्लव के लिए क्षेत्र है ही नहीं।

५. प्रमाण भेद—

दार्शनिकों में प्रमाण-संख्या एक से लेकर छह तक देखी जाती है। सब से कम संख्या चार्वाक् दर्शन मानता है और सबसे अधिक मीमांसक।

१ चार्वाक्	—प्रत्यक्ष
२ जैन	—प्रत्यक्ष और परोक्ष
३. बौद्ध	—प्रत्यक्ष और अनुमान
४. वैशेषिक	—प्रत्यक्ष और अनुमान
५. सांख्य	—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द
५. नैयायिक	—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान
७. मीमांसक	—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव

जैनदर्शन में प्रमाण की चर्चा प्रारम्भ करने का श्रेय आचार्य उमास्वाति को है। उनके पूर्व आगम युग में ज्ञान और ज्ञेय पर विचार किया गया है। उसी आधार पर कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उमास्वाति ने इस परम्परा को स्वीकार कर उनके पूर्व मान्य ज्ञान के पांच भेदों का विभाजन कर दिया। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष कह दिया और अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान के अन्तर्गत रख दिया।[4]

जैनदर्शन आत्मिक-प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष मानता है और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को परोक्ष। यह मान्यता विलकुल निराली है। उसके प्रतिपक्ष में जैनेतर दार्शनिकों ने अनेक प्रश्न किये। फलतः प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये—सांव्यावहारिकप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्ष अथवा पारमर्थिकप्रत्यक्ष। जैनतर दर्शनों में जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता था उस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को यहां साम्व्यावहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नियोजित कर दिया। तथा स्मृति आदि प्रमाणों को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष मान लिया।[5] अकलंक के उत्तरवर्ती विद्या-

१ न्यायकुसुमाञ्जलि, २-१.
२ तत्वसंग्रहपञ्जिका, का. ३१२३
३ अष्टसहस्री, पृ. ४
४ आद्ये परोक्षम् : प्रत्यक्षमन्यत्—तत्त्वार्थसूत्र, १. ११-१२.
५ लघीयस्त्रय, १०.

नन्द आदि आचार्यों ने और तो सब स्वीकार कर लिया पर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम प्रमाण को परोक्ष के अन्तर्गत संयोजित किया। इस प्रकार प्रमाण के भेद जैनदर्शन में इस प्रकार निश्चित हुए—
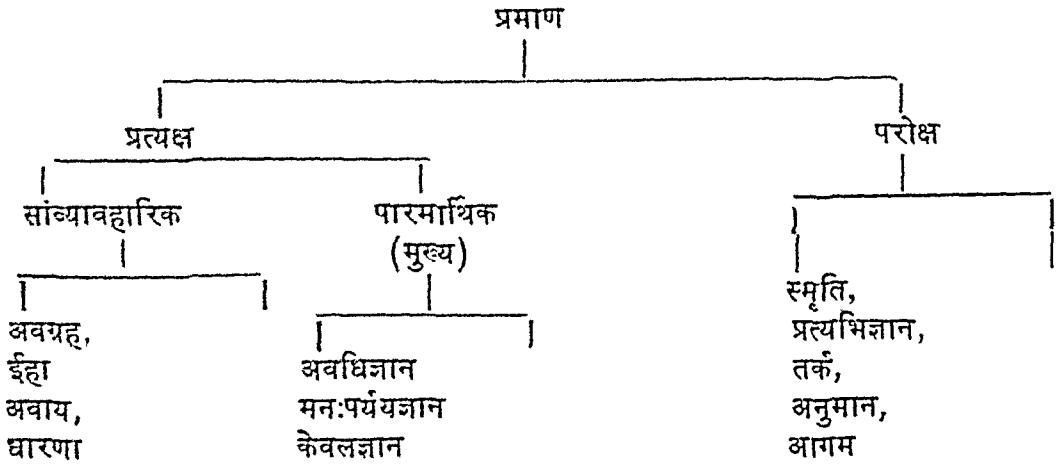
बौद्धदृष्टि में प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये भेद उसके प्रमेय विषयक मान्यता पर आधारित हैं। प्रमेय दो प्रकार के हैं स्वलक्षणात्मक और सामान्यलक्षणात्मक। स्वलक्षण में वस्तु का स्वरूप शब्दादि के बिना ही ग्रहण किया जाता है। यह वस्तु-ग्रहण प्रत्यक्ष का विषय है। पर सामान्यलक्षण में वस्तुग्रहण अनेक वस्तुओं के साथ होता है। यही वस्तुग्रहण अनुमान का विषय होता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार आगमादि प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है क्योंकि शब्दादि से सम्बद्ध परोक्ष अर्थ का बोध लैङ्गिक होता है जो अनुमान का ही पर्यायवाचक है। अर्थापत्ति, स्मृति, अभाव, प्रत्यभिज्ञान, उपमान आदि प्रमाणान्तरों को भी अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। क्योंकि उनके मतानुसार सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान शब्द से ही होता है और वह शब्द लिङ्ग रूप ही है। अतः लिङ्ग रूप से उत्पन्न ज्ञान लैङ्गिक अथवा अनुमान ही होगा। बौद्धों का यह प्रमाण-भेद दार्शनिक युग की देन है।

६. प्रत्यक्ष प्रमाण—

जैनदर्शन में स्पष्ट अथवा विशद ज्ञान को प्रयत्क्ष कहा गया है।[1] विशदज्ञान वह है जिसे ज्ञानान्तरों की सहायता अपेक्षित नहीं होती।[2] यह विशद ज्ञान आत्मिक ज्ञान होने पर ही संभव है। उसके कालान्तर में दो भेद हुए—सांव्यावहारिकप्रत्यक्ष और पारमार्थिकप्रत्यक्ष। इसके विषय में हम पीछे प्रमाण-भेद के सन्दर्भ में लिख चुके है। वहाँ निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण की सीमा में आता है।

बौद्ध दर्शन में भी प्रत्यक्ष की परिभाषा में विशदत्व अपेक्षित है।[3] यह विशदत्व निर्भ्रान्त होना

१ प्रत्यक्ष लक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा—**न्यायविनिश्चय, ४**
२ लघीयस्त्रय, ४
३ प्रत्यक्षकल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्—तत्वसंग्रह, १२३४

चाहिए।[1] यहां निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना है। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के बाद ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक ज्ञान की विशदता सविकल्पक में प्रतिभासित होने लगती है। परन्तु जैनदर्शन इसे स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान निराकार होता है और निराकार ज्ञान निश्चयात्मक कैसे हो सकता है ?

सन्निकर्षजन्य पदार्थज्ञान होने के सन्दर्भ में जैन मान्यता चक्षु और मन को ही अप्राप्यकारी मानती है पर बौद्ध श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी स्वीकार करते हैं। पर यदि वह अप्राप्यकारी होता तो श्रोत्र के ही भीतर प्रविष्ट मच्छर आदि का शब्द नहीं सुनाई देना चाहिए।

बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष के चार भेद मिलते हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, और योगिप्रत्यक्ष। स्वलक्षण को विषय करनेवाला इन्द्रियप्रत्यक्ष है। मन से उत्पन्न होनेवाला मानसप्रत्यक्ष है। निर्विकल्पक ज्ञान को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है और समाधि से उत्पन्न प्रत्यक्ष को योगिप्रत्यक्ष कहा है। यहां प्रथम तीन प्रत्यक्ष जैन दर्शन के सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में है और अन्तिम योगिप्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।

हीनयान द्वारा अनात्मवाद स्वीकार किये जाने पर वस्तुप्रत्यक्ष आन्तरिक वाह्येन्द्रियों पर निर्भर हो गया, माध्यमिकों ने शून्यवाद की स्थापना की और विज्ञानवादियों ने आलयविज्ञान को प्रस्तावित कर अनात्मवाद के विपरीत उपस्थित प्रश्नों को समाधानित करने का प्रयत्न किया। यही विज्ञानधारा आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से पदार्थदान करती हैं। क्षणभंगवाद की स्थिति में इन्द्रियसंपर्क होते ही वस्तु अतीत हो जाती है और तज्जन्य ज्ञान अर्थ के आकार में परिणत हो जाता है।[2]

७. परोक्षप्रमाण—

अविशद ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है। अविशद ज्ञान वह है जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा रखे। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम प्रमाणों का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में हो जाता है। इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष अंशतः विशद होने से प्रत्यक्ष की सीमा में आ जाते हैं।

स्मृतिप्रमाण—पूर्वज्ञात वस्तु का स्मरण होना स्मृतिप्रमाण है। अनुमानादि में भी स्मृति का होना आवश्यक है। बौद्ध स्मृति चूंकि ग्रहीतग्राही है अतः उसे प्रमाण कैसे कहा जाय ? पर इस स्थिति में तो कभी प्रत्यक्ष भी अप्रमाण की कोटि में आ जायगा।

प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मृति के माध्यम से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। बौद्ध इसे भी प्रमाण नही मानते। उनका कहना है कि स्मृति और प्रत्यक्ष ये दोनों परस्पर विरोधी प्रमाण हैं। उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? पर वस्तुतः यह सही नहीं। क्योंकि अनुमान में प्रत्यभिज्ञान भी एक कारण है।

तर्कप्रमाण—व्याप्ति-ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य-साधन के अविनाभाव को व्याप्ति कहा जाता है। अविनाभाव का तात्पर्य है साध्य के विना साधन का न होना अथवा साधन के विना साध्य का[1]

---

१ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादिसंयुतम्—**प्रमाणवार्तिक**, ३-२४३

२ प्रमाणवार्तिक, ३. २४७

३ उपस्तम्भानुपस्तम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानसमूह;—**लघीयस्त्रय** १, १६

का न होना। तर्क प्रमाण में प्रत्यक्ष, स्मरण और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का कारण होते है, व्याप्तिज्ञान में प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ कारण होते हैं।

बौद्ध तर्क को भी स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत विषय का ही संग्राहक हैं।[1] पर जैन उसे अपने विषय में अविसंवादी होने से प्रमाण मानते हैं। आचार्य अंकलंक इस मत के विशेष पुरस्कर्ता हैं।

८. अनुमान प्रमाण—

साधन (लिङ्ग) से साध्य (लिङ्ग) का ज्ञान होना अनुमान है।[2] जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान होना साधन और साध्य के बीच अविनाभाव सम्बन्ध होना चाहिए। इसलिए अकलंक ने उसे साधन (हेतु) का लक्षण 'साध्याविनाभाव' किया है। 'अन्यथानुपपत्ति' भी उसका लक्षण किया जाता है।

बौद्धदर्शन में साध्याविनाभाव को हेतु का लक्षण न मानकर उसके तीन लक्षण स्थापित किए हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षअसत्व। यही त्रैरूप्य ही हेतु का लक्षण है। यह लक्षण असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषों से विरहित हैं।

अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान वह ज्ञान है जो निश्चित साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान कराये और परार्थानुमान वह ज्ञान है जो अविनाभावी साध्य-साधन के वचनों से साध्य का ज्ञान कराए। इस परिभाषा के आधार पर स्वार्थानुमान को ज्ञानात्मक और परार्थानुमान को शब्दात्मक कहा जा सकता है। स्वार्थानुमान के तीन अङ्ग है—धर्मी, साध्य और साधन। धर्मी को पक्ष भी कहा जाता है। परार्थानुमान के दो अवयव हैं—प्रतिज्ञा और हेतु।

उपर्युक्त हेतु के स्वरूप को नैयायिक पञ्चरूप वाला मानते हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष-व्यावृत्ति, अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। त्रैरूप्यवादी बौद्ध हेतु के इन पंचरूप में से अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को अनावश्यक मानते हैं। तथा अविनाभाव को तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियत बताते हैं। वहाँ हेतु के तीन भेद कहे गए हैं—स्वभावहेतु, कार्यहेतु, और अनुपलब्धिहेतु। प्रथम दो हेतु विधिसाधक हैं और अन्तिम हेतु प्रतिषेधसाधक हैं। जैनदर्शन में हेतु के स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण पूर्वचर, उत्तरचर, और सहचर भेद किये गये हैं। जैनदर्शन में हेतु के सामान्यतः दो भेद मिलते हैं—उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप। ये हेतु विधेयात्मक और प्रतिषेधात्मक होते हैं। उनमें प्रत्येक के ६ भेद हैं—स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। बौद्धदर्शन में स्वभाव और कार्य ये दो ही भेद स्वीकार किये गये है। जैन दर्शन में हेतु का एक ही रूप माना गया है—अविनाभाव। उसके दो भेद हैं—सहभावनियम और क्रमभाव नियम।

९. हेत्वाभास—

हेतु के स्वरूप से विरहित होकर भी जो हेतु की तरह प्रतिभासित होता हो वह हेत्वाभास कहलाता हैं। नैयायिक हेतु के पंचरूप के समान पांच हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक

---

१. प्रमाणवार्तिक, मनोरथ, पृ०७

२. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्—**न्यायविनिश्चय १६७**

३. प्रमाणवार्तिक, ३, १४

कालात्ययपदिष्ट और प्रकरण-सम। बौद्ध त्रैरूप्य के रूप में तीन हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरुद्ध, और अनैकान्तिक। जैन दर्शन में भी साधारणतः इन्हीं हेत्वाभासों को स्वीकार किया गया है। पर अकलंक मात्र असिद्ध को हेत्वाभास मानते हैं।

१०. वाद-विवाद—

वादविवाद की परम्परा भारतीय संस्कृति में बहुत प्राचीन है। मिलिन्दपन्ह में वाद के दो रूपों का उल्लेख आया है—पण्डितवाद और राजवाद। पण्डितवाद में शैक्षणिक स्तर पर वाद विवाद किया जाता है। पर राजवाद में कठोर अनुशासन बना रहता है। न्यायशास्त्र में इसके तीन भेद मिलते हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। वीतरागकथा को वाद कहा जाता है। इसमें तत्त्वनिर्णय करना मुख्य उद्देश्य है। यहां छल, जाति आदि निग्रहस्थानों का प्रयोग नहीं किया जाता। परन्तु जल्प और वितण्डा में जय-पराजय की भावना होती है। और उसमें छलादि निग्रह स्थानों का यथासंभव प्रयोग किया जाता है। जैन-दर्शन प्रारम्भ से ही अहिंसा, संयम और त्याग की भूमिका पर अडिग रहा है इसलिए वहां छलादि का प्रयोग किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं किया गया।[1] बौद्धदर्शन में उपायहृदय आदि ग्रन्थों में निग्रह स्थानों का प्रयोग प्रचलित रहा है, परन्तु धमकीर्ति ने उनका प्रयोग अनुचित बताया। यहां अहिंसा का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। इसलिए धर्मकीर्ति ने असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नामक दो निग्रह-स्थानों को स्वीकार किया है।

११. शब्द अथवा आगम-प्रमाण—

शब्द अथवा आगम प्रमाण भी विवादास्पद विषय है। वैशेषिक शब्द को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत रखते हैं। मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध बताते हैं तथा शब्द को नित्य मानकर वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वैयाकरणों के अनुसार शब्द क्षणिक होने से अर्थबोधक नहीं होते अतः वे स्फोट नामक एक अन्य नित्य तत्व मानते हैं तथा यह मत व्यक्त करते हैं कि संस्कृत शब्दों मे ही अर्थबोधक शक्ति होती है। पालि-प्राकृत आदि देशी भाषा में उस शक्ति का अभाव है। जैनदार्शनिक शब्द या आगम प्रमाण को तीर्थंकर के वचनों से निबद्ध साक्षात् या प्रणीत ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रखते, बल्कि व्यवहार में संकेतादि से उत्पन्न ज्ञान को भी आगम प्रमाण में गर्भित कर लेते हैं।

परन्तु बौद्ध शब्द को ही प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ उनकी दृष्टि में न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति। उनकी दृष्टि में शब्द विकल्प-वासना से उत्पन्न होते हैं अतः वे बाह्यार्थ का ग्रहण कराने में असमर्थ है, जैसे—"अंगुलि के अग्रभाग में सौ हाथी हैं।" इस प्रकार के तथ्यहीन वाक्यों के उच्चारण में व्यक्ति अथवा वक्ता दोषी नहीं। क्योंकि यदि वक्ता गूंगा हो तो वह इस प्रकार का असत्य ज्ञान नहीं करा सकता। इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न करने में तो शब्दों की ही महिमा मूल कारण है। अतः पुरुष भी यदि ये शब्द बोलेगा तब भी असत्य ज्ञान होगा। अतः विकल्प-वासना से शब्दों का जन्म होता है और शब्दों से विकल्पों का जन्म होता है। शब्द अर्थ का स्पर्श भी नहीं कर सकता है।[2]

---

१. सिद्धिविनिश्चय, जल्पसिद्धि

२. प्रमाणवार्तिक टीका १,पृ० २८८। जैन न्याय, पृ. १३६।

१२. अनेकान्तवाद—

किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ के विपय में छद्मस्थ जीवन परिपूर्ण रूप से जानने में असमर्थ होता है। चिन्तक अपने-अपने दृष्टिकोण से उसके विपय में विचार करता है। विचार वैभिन्न्य होने के कारण संघर्प का जन्म होता है। ऐसे ही संघर्षों को दूर करने के लिए जैनदर्शन ने स्याद्वाद (भापागत) और अनेकान्तवाद (विचारगत) की प्रस्थापना की। इस सिद्धान्त में प्रत्येक व्यक्ति के दृप्टिकोण का समादर किया है। हठ और कदाग्रह की भावना इस विचार में नही है। पालिसाहित्य मे भगवान वुद्ध ने विभज्जवाद सिद्धान्त को प्रस्तुतकर लगभग इसी भावना को प्रस्फुटित किया है। वहां विभज्जव्याकरणीय के माध्यम से प्रश्नों का विभाजनकर उत्तर प्रस्तुत किया जाता है। अहिंसा की भावना इन दोनों सिद्धांतों में समाहित है।

इस प्रकार जैनदर्शन और वौद्धदर्शन में अनेक सादृश्य और वैसादृश्य परिलक्षित होते हैं। उनकी पृष्ठभूमि में श्रमणसंस्कृति की मूल भावनाएँ सन्निहित है। पर चूंकि चिन्तन परम्परा की दिशा कथंचित् पृथक् थी इसलिए कालान्तर में वैसादृश्य वढ़ता गया। सादृश्य की भूमिका अवश्य एक थी। इन सादृश्यों और वैसादृश्यों के वावजूद दोनों दर्शनों ने भारतीय चिन्तन परम्परा को वहुत कुछ दिया है, जिसकी समीक्षा करना अभी भी शेप है।

श्रद्धा और मेधा

जैनदर्शन में जितना महत्व श्रद्धा का है, उतना ही तर्क का भी है। तर्क के द्वारा वस्तुतत्व का सम्यक् परीक्षण किया जाता है, और फिर श्रद्धा के द्वारा उसका स्वीकरण! श्रद्धा और मेधा का सम्मिलन ही—सम्यग्दर्शन है। साधक के लिए आगमों में इसीलिए दो विशेष शब्दों का प्रयोग हुआ है—'सड्ढी' और 'मेहावी' श्रद्धावान और मेधावान!

बुद्धि को ताक पर रखकर विश्वास करना—अंधविश्वास है, अंधश्रद्धा है और श्रद्धा-शून्य तर्क-वितर्क करना—केवल कुतर्क, विवाद एवं विग्रह है।

श्रद्धा और मेधा का संतुलित विचार मंथन ही—जैन दर्शन है।

—मधुकर मुनि

२१
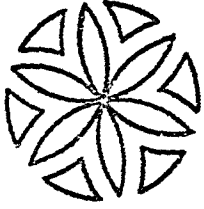
जैनधर्म का साधना-मार्ग

एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

—श्री कन्हैयालाल लोढा एम० ए०

'जैनधर्म'—जैन और धर्म दो शब्द से बना है। 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जैसे आग का स्वभाव उष्णता, आग का धर्म है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव अनंत-ज्ञान, दर्शन, आनन्द अर्थात् 'सच्चिदानन्द स्वरूप' आत्मा का धर्म है। जब आत्मा का स्वभाव परपदार्थ-पुद्गल के निमित्त से राग-द्वेष, विषय, कषायरूप विकारी अवस्था को प्राप्त हो, अशुद्ध हो जाता है तो वह विभाव कहा जाता है, इसे ही अधर्म भी कहा जाता है और जिन कारणों से यह विभाव अवस्था होती है उन कारणों को भी, उन पर कार्य का आरोप कर उपचार से अधर्म कहा जाता है। अधर्म मिटने पर धर्म स्वतः उपलब्ध हो जाता है।

धर्म के दो रूप हैं—पहला आत्मा का स्वभाव रूप धर्म है और दूसरा जिन उपायों, कारणों से विभाव छूटकर स्वभाव की उपलब्धि हो उन उपायों को भी कारण में कार्य को आरोप कर उपचार से धर्म कहा जाता है। धर्म के पहले रूप का निरूपण निश्चयनय से किया गया है और यह साध्य रूप धर्म है। धर्म का दूसरा रूप उपचार पर आधारित है अतः इसका निरूपण व्यवहारनय का विषय है। और यह साधन या साधना रूप धर्म है। अतः धर्म के दो रूप हुए—एक निश्चयनय से और दूसरा व्यवहारनय से। निश्चयनय से 'साध्य' धर्म है और व्यवहारनय से 'साधना' धर्म है। साधना से ही साध्य की उपलब्धि होती है अर्थात् व्यवहार से ही निश्चय की प्राप्ति होती है। अतः साधक को साध्य अर्थात् गन्तव्यस्थल को लक्ष्य करके साधना-पथ पर अपने प्रगतिरथ को सतत आगे बढ़ाते रहना चाहिए।

साधना-पथ के पथिक को ही साधक या जैन कहा जाता है। जैन का अर्थ है जीतने का प्रयत्न करनेवाला। जो विषय-कषाय रूप विकारों पर, अधर्म पर विजय पाने का प्रयत्न करता है, साधना करता है, वह जैन है। अतः 'जैनधर्म' का अर्थ हुआ—वह मार्ग, जिस पर चलकर विकारों पर विजय पायी जाय, अनिष्ट अवस्थाओं से छुटकारा पाया जाय। इस प्रकार जैन-साधना जीवन-साधना है, जन-साधना है, प्राणीमात्र की साधना है, आनन्द पूर्वक जीने की पद्धति है।

आध्यात्मिक चिकित्सा :

जैन साधना को हम आध्यात्मिक चिकित्सा भी कह सकते हैं। क्योंकि चिकित्सा उसे कहा जाता है जिससे विकार दूर हो व स्वास्थ्य की प्राप्ति हो। जिससे शरीर के विकार या रोग मिटकर शरीर स्वस्थ हो, उसे शारीरिक चिकित्सा कहा जाता है। जिससे मन के विकार या रोग मिटकर मन स्वस्थ हो, उसे मानसिक चिकित्सा कहा जाता है। इसीप्रकार जिससे आत्मा के विकार मिटकर आत्मा स्वस्थ होवे उसे आध्यात्मिक चिकित्सा कहा जा सकता है। यही कार्य साधना का भी है अतः साधना एक प्रकार से आध्यात्मिक चिकित्सा ही है। साधना की सारी प्रक्रिया प्रायः चिकित्सा की प्रक्रियाओं से मिलती है।

ऊपर कहा गया है कि आत्मा के विकारों पर विजय पाने का उपाय ही जैनसाधना है। विजातीय तत्व का संयोग ही विकार है। शरीर में जब विजातीय तत्व का संयोग होता है तब शरीर में विकारोत्पत्ति होती है जो रोग के रूप में प्रकट होती है; इसीप्रकार आत्मा का जब विजातीय तत्व पुद्गलद्रव्य से संयोग होता है तब आत्मा विकार ग्रस्त होती है और वे ही विकार कर्मोदय के रूप में जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, दुःख, दारिद्रय आदि अनिष्ट दशाओं में प्रकट होते हैं जो किसी भी प्राणी को इष्ट नहीं है। जिस प्रकार शारीरिक विकारों या रोगों से छुटकारा पाने या स्वस्थ होने के दो उपाय हैं—(१) पथ्य और (२) उपचार। पथ्य-पालन से नये विकारों की उत्पत्ति रुक जाती है और दवा आदि के उपचार से शरीर में संचित विकार नष्ट हो जाते हैं और शरीर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इसीप्रकार आत्मा के विकारों या कर्मों से छुटकारा पाने के भी दो उपाय है—(१) संवर और (२) तप। संवर यह पथ्य रूप उपाय है। इससे आत्मा में नये विकारों की उत्पत्ति या कर्म बध होना रुक जाता है और निर्जरा से आत्मा में संचित कर्म क्षय हो जाते है। जिससे आत्मा पूर्ण स्वस्थ हो जाती है, अर्थात् स्वरूप में स्थित हो जाती है। इसी को मुक्ति कहा जाता है। मुक्ति अर्थात् सर्व विकारों से, कर्म बन्धनों से, अनिष्ट दशाओं से, दुःखों से सदा के लिए छुटकारा।

संवर :

आश्रव का निरोध करना अर्थात् कर्मबन्ध के कारणों का निवारण करना संवर है। संवर का कार्य पथ्य-पालन करने के समान है। जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सा में पथ्य-पालन का तात्पर्य है—ऐसा आहार-विहार न करना जो विकार बढ़ाता हो प्रत्युत ऐसा आहार-विहार करना जो विकार घटाने में सहायक हों। इसीप्रकार आध्यात्मिक चिकित्सा में, साधना क्षेत्र में संवर से तात्पर्य है—ऐसी प्रवृत्ति न करना जो विकार बढ़ाती हों, कर्म बंध की कारण हो प्रत्युत ऐसी प्रवृत्ति करना जो विकार घटाने में सहायक हों। अतः संवर के दो रूप हुए—(१) निषेध-परक रूप अर्थात् निवृत्ति—कर्मबंध के हेतुओं को यथाशक्य रोकना और (२) विधि-परक रूप अर्थात् शुभ योगों की प्रवृत्ति—खाना पीना, उठना-बैठना, बोलना-चालना आदि क्रियाएं विवेकपूर्वक करना, नम्रता, सरलतापूर्वक व्यवहार करना, मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ आदि शुभ भावनाओं का चिन्तन करना।

कर्म बंध के पांच हेतु है—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) अशुभयोग। इनके निवारण करने के साधन है—(१) सम्यक्त्व (२) विरति (३) अप्रमाद-

सजगता (४) अकषाय या कषायमंदता और (५) शुभयोग। ये ही संवर है। यहां इन कषायों व इनके निवारण के उपायों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

सम्यक्त्व—जो वस्तु जैसी नहीं है उसे वैसी मानना मिथ्यात्व है। पर को 'स्व' मानना सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। यही अन्य सब मिथ्यात्वों की भूमिका है। 'पर' वह है जो आत्मा से भिन्न है, जो आत्मा के साथ सदा न रहे। इस दृष्टि से धन, धाम, धरा आदि वस्तुएं तो 'पर' हैं ही, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि भी पर हैं। इन्हें मैं मानने से इनमें आत्मभाव, अपनत्वभाव, जीवन बुद्धि हो जाती है। प्राणी इनकी प्राप्ति में ही अपना जीवन मानने लगता है और इनके नाश में अपना नाश मानने लगता है। फलतः वह इनके अधीन हो जाता है अर्थात् पराधीन हो जाता है। 'पर' में अपनत्व भाव होने से प्राणी मोह में आबद्ध हो जाता है, अपना भान भूल जाता है जिससे अहंता-ममता, विषय-वासना, कषाय-कामना आदि समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है जो समस्तबंधनों व दुःखों के कारण हैं।

विरति—मिथ्यात्व के कारण जीव 'पर-पदार्थों' की उपलब्धि में ही जीवन मानता है। पर में जीवन बुद्धि होने से पर के भोग में जीव को सुख की प्रतीति होती है। सुख की प्रतीति होने से पदार्थों के प्रति रति या अनुरक्ति भाव उत्पन्न होता है। यही रति या सुख लोलुपता वासनाओं एवं कामनाओं को जन्म देती है, जिनके अधीन हो बेचारा उनकी पूर्ति के लिए प्रवृत्ति करता है। उसकी यही रागात्मक वृत्ति की पूर्ति हेतु की गई प्रवृत्ति अविरति है। अविरति में आबद्ध व्यक्ति की वृत्ति या प्रवृत्ति भोगों की प्राप्ति के लिए स्वच्छन्दता का रूप धारण कर लेती है। यही स्वच्छन्दता असंयम कहलाती है। असंयम अविरति भाव का ही क्रियात्मक रूप है।

सम्यक्त्व प्राप्ति से साधक इस तथ्य को जान लेता है कि पर-पदार्थ मेरे से भिन्न हैं और मेरा सुख-परपदार्थों के आधीन नहीं है। परपदार्थों से सुख की प्राप्ति यथार्थ सुख न होकर सुख की प्रतीति मात्र है, सुखाभास है। परपदार्थों से सुख की प्राप्ति होती है, इस मान्यता के हटते ही साधक का पर-पदार्थों के प्रति विराग भाव उत्पन्न हो जाता है। फिर उसे अपना हित व सुख भोगों, वासनाओं, कामनाओं के त्याग में अनुभव होने लगता है। फलतः वह भोगों, वासनाओं, कामनाओं व पापों को त्यागने, संकुचित व संयमित करने हेतु व्रत धारण करता है। व्रत विरतिभाव का क्रियात्मक रूप है, इसी को संयम भी कहते हैं।

विरति के दो रूप हैं—(१) पापरूप आरम्भ-प्रवृत्तियों का त्याग, यह विरति संवर साधना का निषेधपरक रूप है। (२) विरति का दूसरा रूप विधिपरक है इसमें अणुव्रत, महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा आदि समितियों का पालन करना, अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का चिन्तन करना इत्यादि शुभयोग की प्रवृत्तियाँ आती हैं। क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ राग घटाने व वृत्तियों से अतीत शुद्ध अवस्था प्राप्ति में हेतु हैं, इसलिए साधना की अंग हैं। विरति से राग घटता है। राग घटने से साधक में निराकुलता, शांति व स्वाधीनता के भावों को बल मिलता है व आत्मस्थिरता में वृद्धि होती है। विरति या व्रत धारण करना संवर साधना का प्रधान क्रियात्मक व विधिपरकरूप है। अतः यह व्यवहार में संवर का पर्यायवाची सा बन गया है।

अप्रमाद—भोग-जन्य सुख-लोलुपता में प्रमत्त (मस्त) होना प्रमाद है। प्रमत्तता से प्राणी में जड़ता आती है, सजगता नहीं रहती है। फलतः उसमें साध्य की प्राप्ति के प्रति उदासीनता, शिथिलता आ जाती है, जिससे साधना की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के सुख में आवद्ध रहना, साधना में वर्तमान में तत्पर न होकर भविष्य के लिए टालते रहना प्रमाद है। दूसरे शब्दों में पर के संग जनित विषय-कषाय के सुख में प्रमत्तता रूप सुप्तावस्था प्रमाद है।

विरति भाव से संसार की असारता, अनित्यता, अशरणता आदि वैराग्य भावों की उत्पत्ति होती है जिससे साधक की कर्म, पराधीनता व राग आदि दोषों से जनित दुःखों पर दृष्टि जाती है और दुःखों के कारणभूत वे दोष उसे असह्य होने लगते हैं। यह असह्यता ही उसे सजग वनाती है और दोषों व विकारों के निवारण के लिए कटिबद्ध करती है। पापों, दोषों की निवारक रूप साधना को भविष्य के लिए न टालना, पूर्ण सामर्थ्य से वर्तमान में ही साधना में तत्पर होना अप्रमाद है।

पाप या दोषों या विकारों का एक अंश भी विद्यमान रहते जीवन में शांति व सुख अनुभव करना पराधीनता में आवद्ध रहना है जिसके परिणामस्वरूप प्राणी को भयंकर दुःख भोगना पड़ता है। जिस प्रकार प्रत्येक छोटे से वीज में वृक्ष की सत्ता विद्यमान हैं जो अनुकूल निमित्त पाकर प्रकट हो जाते हैं इसीप्रकार पाप या कषाय के एक सूक्ष्म अंश में भी समस्त पाप या विकारों की सत्ता विद्यमान है जो अनुकूल निमित्त मिलने पर प्रकट हो सकते हैं। अतः पाप, कषाय, विषय-विकार का अंश मात्र भी विद्यमान रहते उसके नाश का उपाय न करना, शांति से वैठे रहना अपना घोर अहित करना है, यह महा प्रमाद है। प्रमाद महा शत्रु है। साधना में सतत सजग व अनवरत रत रहना ही अप्रमाद है। अप्रमाद मानव मात्र का कर्त्तव्य है। साधक को भ० महावीर का यह सूत्र सदैव स्मरण रखना चाहिये :—**समयं गोयम मा पमायए,** अर्थात् हे गोतम ! हे साधक ! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

अकषाय—जिन भावों से कर्मों का कर्षण हो वे कषाय हैं। कषाय का मूल है राग या आसक्ति। आसक्ति पर से होती है अतः यह पर के संग में आवद्ध करती है, पराधीन वनाती है। पराधीनता ही वंध है। आसक्ति से ही क्रोध, क्षोभ, मान, अहंत्व, ममत्व, माया, प्रवंचना, लोभ, संग्रहवृत्ति आदि दोषों का जन्म होता है। आसक्ति से पर के प्रति आकर्षण होता है। जिससे कर्म खिंचकर आत्मा से बंध जाते हैं। कर्म वंधने से आत्मा भारी हो जाती है, आत्मा का पतन हो जाता है।

वैराग्य की तीव्रता से सजगता आती है। सजगता से राग, द्वेष, कषाय या आसक्ति जनित आकुलता असह्य हो जाती है जिससे साधक कषाय रहित होने का प्रयत्न करता है। कषाय रहित होना व कषाय की तीव्रता कम करना संवर है।

शुभयोग—मन, वचन, काया के योगों की पाप रूप प्रवृत्तियां अशुभयोग हैं। अशुभयोगों, दुर्व्यसनों से पाप कर्मों का वंध होता है, जो दुःख का हेतु है। अतः अशुभयोगों का साधना में किंचित् भी स्थान नहीं है।

सवर और निर्जरा की क्रियात्मक साधना व चारित्र पालन निर्भर करता है मन, वचन व काया की शुभ प्रवृत्तियों पर। मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों अर्थात् योगों के अभाव में संवर और निर्जरा की विधिपरक साधना, साधुचर्य्या का पालन व तप करना संभव ही नहीं है। अतः मन, वचन, काया के जिन योगों से संयम पालन हो, तप हो अर्थात् संवर-निर्जरा की क्रिया हो वे शुभ योग कहे जाते हैं। शुभ योग विषय-कषाय को मंद व क्षीण करनेवाले, और वैराग्यवृत्ति वढ़ाने वाले होने से संवर हैं।

निर्जरा—कर्मक्षय की वह प्रक्रिया, जिससे प्राणी पूर्व संचित कर्मों को, विना फल भोगे ही परिपाक काल के पूर्व ही क्षय कर देता है उसे निर्जरा कहा जाता हैं। निर्जरा का कार्य उपचार के समान है, जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सा में उपचार का तात्पर्य है—दवा आदि का ऐसा प्रयोग जिससे शरीर में संचित विकार रोग के रूप में प्रकट होने के पूर्व ही नष्ट हो जायं। इसीप्रकार आध्यात्मिक चिकित्सा या साधना जगत में निर्जरा का तात्पर्य है—उपवास, ध्यान, स्वाध्याय आदि का ऐसा प्रयोग जिससे आत्मा के संचित कर्म उदय में आये विना ही, फल दिये विना ही नष्ट हो जाये।

निर्जरा को 'तप' भी कहा जाता है **'तपसा निर्जरा च'** [तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र ३] सूत्र के अनुसार तप में संवर भी रहता ही है अर्थात् तप-संवर से भी ऊपर की साधना 'निर्जरा' है।

जिस प्रकार ताप से वीज भस्म हो जाता है या भस्म नहीं होता तव भी ताप से उसकी सरसता नष्ट हो जाती है जिससे वह निष्प्राण हो जाता है और फल देने में असमर्थ हो जाता है; इसी प्रकार तप से कर्म भस्म या निष्प्राण हो जाते हैं। उनमें फल देने का सामर्थ्य नहीं रहता है। जिसप्रकार वीज में फल देने की शक्ति उसकी सरसता में है। सरसता का अंत होते ही वह निष्प्राण हो जाता है; इसीप्रकार कर्मों में फल देने की शक्ति उनकी सरसता अर्थात् कपाय में है। क्षीण होते ही 'रसवंध' नष्ट हो जाता है। रसवंध के नष्ट होते ही स्थितिवंध नष्ट हो जाता है। इन दोनों वंधों के नाश होते ही प्रकृतिवंध व प्रदेशवंध का नाश हो जाता है, कारण कि प्रकृति वंध को सजीव रखने वाला रसवंध व प्रदेशवंध को टिकाने वाला स्थिति वंध ही होता है। इन चारों प्रकार के कर्म वंधों के क्षय होते ही कर्म खिर जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं। फलितार्थ यह है कि विना फल भोगे ही कर्मो के क्षय का उपाय है—कपाय का क्षय। कपाय क्षय का उपाय ही निर्जरा या तप रूप साधना है। जिस प्रकार ताप से एक-एक वीज भस्म न होकर अगनित वीज एक साथ भस्म हो जाते हैं, इसीप्रकार तप से एक-एक कर्म भस्म या क्षय न होकर असंख्य कर्मो का एक साथ क्षय होता है।

कर्म-क्षय का उपाय कपाय-क्षय है और कपाय-क्षय का उपाय है कपाय को निर्जीव वनाना। कपाय सजीव रहता है राग के रस से अर्थात् रति या दोप-जनित सुख लोलुपता से। सुख लोलुपता का कारण है सुख भोग की मधुरता। जैसे सर्प के विप के प्रभाव से मानव मोह-ग्रस्त हो जाता है और सुध-बुध खोकर जड़ता को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार सुख की मधुरता में ग्रस्त व्यक्ति मोह, प्रमाद व जड़ता को प्राप्त हो जाता है जो मृत्यु तुल्य है। इतना ही नहीं, विप के सेवन से तो एक वार प्राणान्त होता है, परन्तु विपय-कपाय के सुख के भोगी को अनेक वार जन्म-मरण की असह्य वेदना सहनी पड़ती है।

सुख-लोलुपता ही समस्त दोपों, कर्म बंधनों व असाधनों की जननी है। सुख-लोलुपता सुख का प्रलोभन, सुख की दासता, सुख भोग की रुचि, सुख की आशा, आसक्ति आदि सुख-भोग रूप रति या अविरति के ही विविध रूप हैं। रति न हो तो दोपों की उत्पत्ति ही न हो। दोप ही दुःख के जनक हैं। स्वभाव से ही दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है। अतः दुःख का अन्त करने का प्रयत्न सभी करते हैं, परन्तु प्राणी फलरूप दुःख का ही अन्त करना चहता है, दुःख के मूल 'दोप' या रति या सुख-लोलुपता का नहीं। इससे दुःख का, वन्धन का आत्यंतिक क्षय नहीं हो पाता है।

पराधीनता-जनित सुख का भोग करते व सुखभोग की रुचि रहते दुःखों का अन्त करने का प्रयत्न निष्फल है। जिसप्रकार शरीर में उत्पन्न रोग शरीर में स्थित विकार का परिणाम है, कारण
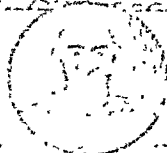
नहीं। रोग के लक्षण रूप में प्रकट होने पर रोगी को दुःख व पीड़ा होती है, जिसे दूर करने के लिए रोगी दवा लेता है। दवा दो प्रकार की होती है—एक प्रकार की दवा रोग-जनित वेदना को दवानेवाली होती है और दूसरे प्रकार की दवा विकार नाश करनेवाली होती है। प्रथमप्रकार की दवा से शरीर पर प्रकट रोग के लक्षण व पीड़ा कुछ काल लिए के दव जाते या लुप्त व शांत हो जाते हैं परन्तु शरीर के भीतर का विकार व उसके कारण ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं, जो कुछ समय पश्चात् पुन. रोग के रूप में प्रकट हो जाते हैं। अतः इस रोग को मिटा समझना भूल है। वास्तव में तो रोग तव ही मिटता है जव आंतरिक विकार नष्ट हो जाय, दूसरे प्रकार की दवा यही कार्य करती है। उपचार का यही सिद्धान्त आध्यात्मिक जीवन पर भी चरितार्थ होता है। प्राणी का दुःख उसकी आत्मा में संचित विकारों का परिणाम या लक्षण है। दुःख को सुख की सामग्री जुटाकर उसका उपयोग कर मिटाना दुःख को सुख रूप दवा से दवाना मात्र है। इससे दुःख का अन्त नहीं होता है कारण कि इस स्थिति मे विकार व उनके कारण ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। जो कुछ समय पश्चात् पुनः दुःख रूप में प्रकट हो जाते हैं। अतः इससे दुःख का अन्त नहीं होता दुःख केवल कुछ समय के लिए शान्त ही होता है। दुःख का अन्त तो तव ही संभव है जव दुःख के कारणभूत दोषों या विकारों का क्षय किया जाय। आत्मा में विकार या कर्म विद्यमान रहते दुःख मिटा समझना भयंकर भूल है। इसी भूल के कारण प्राणी अव तक दुःख से मुक्त नहीं हो सका है। यह तथ्य है कि फल का विनाश वास्तविक विनाश है। दुःख फल है और रागादि विकार रूप सुख भोग की रुचि या सुख-लोलुपता इसका मूल है। अतः सुख भोग की रुचि के नाश में ही दुःख का नाश निहित है।

सुख भोग की रुचि या सुख-लोलुपता के क्षय का उपाय हैं—सुख में दुःख का दर्शन करना। सुख में दुःख-दर्शन का उपाय है दुःख को सजीव वनाना। सजीव दुःख वह है, जो इतना असह्य हो जाय कि दुःखी विद्यमान दुःख के निवारण से सन्तुष्ट न होकर दुःख के मूल कारण सुखलोलुपता के निवारण के लिए उद्यत हो जाय। निर्जीव दुःख वह है जो सहन हो जाय, सुख-भोग से दव जाय और दुःख के मौलिक कारण के निवारण के प्रयत्न की जिज्ञासा ही उत्पन्न न हो।

दुःख की अनुभूति ताप है। ताप को सजीव वनाने की क्रिया तप है। तप का कार्य है दोष-जनित सुख-भोग की रुचि का नाश करना। सुख-भोग का आश्रय है तन और मन। तन-मन के तादात्म्य या तन-मन में जीवन वुद्धि से ही सुख-भोग की रुचि उत्पन्न होती है। अतः सुख-भोग की रुचि मिटाने के लिए तन-मन से तादात्म्य भाव हटाना आवश्यक है। शरीर से तादात्म्यभाव हटाने की क्रिया वाह्यतप है और मन से तादात्म्य भाव हटाने की क्रिया आभ्यन्तर तप है।

वाह्यतप—शरीर से तादात्म्यभाव हटाने की क्रियाएँ वाह्यतप हैं। ये क्रियाएं छः हैं—
१—अनशन २—उनोदरी ३—वृत्तिसंक्षेप ४—रसपरित्याग ५—काय-क्लेश और ६ --विविक्त शय्यासन।

अनशन का प्रभाव सीधा शरीर पर पड़ता है। इससे क्षुधा की पीड़ा उत्पन्न होती है। इस पीड़ा को भोजन पूर्त्ति से मिटाकर सुख प्राप्त करने की आशा से सहन करना, निर्जीव पीड़ा है। भूख की ऐसी निर्जीव पीड़ा प्रायः सभी प्राणी अनन्तकाल से भोगते आ रहे हैं परन्तु उनकी भूख की पीड़ा अव तक भी ज्यों की त्यों विद्यमान है। भूख की सजीव पीड़ा वह है, जिसमें प्राणी भूख का आत्यंतिक अभाव करने के लिए उसके आदि कारण को खोजता है तो वह पाता है कि इस पीड़ा का निकटतम व

प्रकट कारण शरीर है, शरीर प्राप्ति का कारण कर्म बंध है, कर्म-बंध का कारण विषय-कषाय आदि विकार हैं, विकार-उत्पत्ति का कारण है विकार जनित सुख-लोलुपता। अतः पीड़ा का वास्तविक कारण सुख-लोलुपता है। सुख-लोलुपता से विकार, विकार से कर्म और कर्म से शरीर की उपलब्धि होती है तथा शरीर के साथ आत्मा का तादात्म्य मात्र होता है जिससे शरीर में आत्मबुद्धि—जीवनबुद्धि होती है और प्राणी अपने को शरीर रूप ही समझने लगता है, शरीर की विद्यमानता में अपना जीवन व शरीर के नाश में अपना नाश 'मृत्यु' मानने लगता है।

क्षुधा की पीड़ा को सजीव बनाने की क्रिया ही अनशन है। क्षुधा की पीड़ा सजीव अर्थात् असह्य होते ही इसका आश्रय क्षेत्र शरीर, इसका तादात्म्य, तथा परम्परा कारण कर्म, दोष व सुख-लोलुपता असह्य हो जाती है तथा इससे आत्यंतिक क्षय की भावना प्रबल हो जाती है, जिससे साधक में शरीर, दोष व सुख की दासता से मुक्त होने की भावना उत्कट हो जाती है। सुख, दुःख का मूल होने से उसे सुख, दुखरूप अनुभव होने लगता है अर्थात् विरति हो जाती है। उसे विकार जनित सुख में पराधीनता, नश्वरता, आकुलता, जड़ता, क्षुब्धता की वेदना की अनुभूति होने लगती है। इस विरति रूप अनुभूति से वह इन दोषों व दुःखों से छूटने के लिए व्यग्र हो उठता है। यह व्यग्रता उसे प्रमाद से छुड़ाकर उसमें सजगता लाती है। यह सजगता दोष अर्थात् कषाय की विद्यमानता को असह्य कर देती है। जिससे कषाय व कषाय-जनित सुख-लोलुपता, रति, राग, सुखभोग की कामना गलने लगती है। कषाय-जनित सुख या रस सूखने से कषाय नीरस या निर्जीव होकर क्षय होने लगता है। कषाय के क्षय होते ही कर्मों का रस-बंध व स्थिति-बंध का क्षय हो जाता है। रस-बंध के क्षय होते ही कर्म नीरस, निष्प्राण, निर्जीव हो जाते हैं और स्थिति बंध का क्षय हो जाने पर कर्म खिर जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि दुःख या ताप की सजीवता से कर्मों का क्षय या निर्जरा होती है। अनशन, उनोदरी आदि बाह्य तप शरीर, इन्द्रिय आदि के ताप अर्थात् दुःख को सजीव बनाते हैं। तप के प्रताप से शरीर व इन्द्रिय-जनित विषय सुख सूखता है, क्षीण होता है, शरीर के प्रति आत्मबुद्धि, जीवनबुद्धि, तादात्म्य हटता है तथा विरति व सजगता (अप्रमाद) की वृद्धि होती है जिससे कषाय-क्षय होता है। कषाय-क्षय होने से कर्म-क्षय होते हैं।

शारीरिक रोग दूर करने के विविध उपाय हैं। प्रथम उपाय उपवास है इससे जठराग्नि की शक्ति जो पहले भोजन पचाने का काम करती थी अब पेट में भोजन न जाने से शरीर में संचित विकारों को भस्म करने लगती है। दूसरा उपाय है—रोगजनित पीड़ा का घटाना। तीसरा उपाय है—रोगों की संख्या घटाना। चौथा उपाय है—जो रोग शेष रहे हैं उनका प्रभाव क्षीण करना। पांचवां उपाय है—शल्य आदि क्रियाओं को कष्ट सहन करके भी मवाद आदि विकृत द्रव्य निकालना और छट्ठा उपाय है—अपनी शक्तियों को अपव्यय से बचाना। इसी प्रकार के आत्मिक विकार जो शरीर व इन्द्रियों के विषयों को अर्थात् इनकी वृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं उन्हें मिटाने के भी विविध उपाय है। प्रथम उपाय है—उपवास। दूसरा उपाय है उणोदरी अर्थात् वृत्तियों को नियन्त्रित करना व कुछ रोकना। तीसरा उपाय है—वृत्तिसंक्षेप अर्थात् इन्द्रियों की वृत्तियों को घटाकर संक्षिप्त करना। चौथा उपाय है—रस परित्याग अर्थात् जो वृत्तियाँ शेष रह गई हैं उसमें भी रस न लेना। पांचवां उपाय है—काय-क्लेश अर्थात् काया के कष्टों को समभाव से सहन करना। छट्ठा उपाय है—संलीनता अर्थात् आत्म-

शक्तियों को शरीर और इन्द्रियों के विपयों में लीन न कर आत्मा में लीन करना। वृत्तियों को इन्द्रियों के विकारों से हटाकर आत्मस्वरूप में तल्लीन होना।

आभ्यन्तर तप—विनय, वैय्यावृत्य, ध्यान, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और प्रायश्चित्त—ये छः आभ्यन्तर तप हैं। इनका सम्बन्ध अन्तर से अर्थात् अन्तस्मन से होने से इन्हें आभ्यन्तर तप कहा गया है। जिस प्रकार वाह्यतप द्वारा शारीरिक दुःखों को सजीव कर, उनके कारणों को दूर करने की क्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है; उसी प्रकार आभ्यन्तर तप द्वारा मानसिक दुःखों को सजीव कर उनके कारणों को दूर करने की क्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है। तन व इन्द्रियों के विपय स्थूल होने से उनके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले कर्मों का क्षेत्र ससीम है पर मन सूक्ष्म व तरल है अतः तरंगायित होता रहता है। जैसे तरल जल के ताल में पवन के निमित्त से अगणित तरंगें उठा करती है इसीप्रकार अति तरल होने से चित्त के सागर में परिग्रह के निमित्त से वासनाओं व कामनाओं की असंख्य तरंगें उठा करती हैं। ये तरंगें चित्त को चंचल, अशान्त व उद्विग्न करती हैं। चित्त की चंचलता, अशान्तता, उद्विग्नता से मानव को दुःख होता है। मानव इन दुःखों को कामना पूर्त्ति के सुख प्राप्ति की आंशा से सहन करता है तथा कामना पूर्त्ति से प्राप्त सुख से इन्हें दवाता है परन्तु इनके मूल कारण को खोजकर दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है। परिणाम स्वरूप अनन्त-अनन्त प्राणी अनन्त जन्मों में अनन्त कामनाओं की पूर्त्ति अनन्त-अनन्त वार कर चुके हैं फिर भी कामना-अपूर्त्ति का दुःख ज्यों का त्यों विद्यमान हैं अतः मानसिक दुःखों का अन्त उनके कारणों को खोजकर, उनका अन्त करने से ही सम्भव है।

मानसिक दुःखों के कारणों की खोज से ज्ञात होता है कि इन दुःखों का आश्रय-स्थल है—चित्त। चित्त-उत्पत्ति का कारण है कर्म। कर्म का कारण है—कामनाएँ। कामना उत्पत्ति का कारण है—कामना-पूर्त्ति जनित सुख-लोलुपता। कामनापूर्त्ति जनित सुखलोलुपता या सुखभोग से रागादि विकार, विकार से कर्म, कर्म से चित्त की उपलब्धि होती है तथा चित्त के साथ आत्मा का तादात्म्य भाव होता है जिससे प्राणी अपने को चित्तरूप ही देखने लगता है।

विनय, वैयावृत्य आदि आभ्यन्तर तप चित्त में चंचलता, अशान्ति, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव आदि दुःखों को सजीव वनाते हैं अर्थात् इनको सहन न करके इन दुःखों के मूल कारण चित्त का तादात्म्य, कर्म, अहंता, ममता, मोह आदि दोपों व इन दोपों में मिलनेवाले सुखों के त्याग की भावना प्रवल होती है। कामनापूर्ति-जनित सुख जड़ता, नश्वरता, आकुलता, क्षीणता, निर्वलता से युक्त है अतः सुख नहीं सुखाभास है। वास्तविक सुख कामनापूर्ति में नहीं, निष्काम होने में है, इस तथ्य का साक्षात्कार करता है। इससे साधक में सुखों के प्रति विरति उत्पन्न होती है। विरति से सजगता आती है। सजगता कामना या कपाय की विद्यमानता को असह्य कर देती है। जिससे सुख-लोलुपता रूप रस सूखने लगता है। रस सूखने से कपाय निर्जीव होकर क्षय होने लगता है। कपाय के क्षय होने से कर्म-निर्जरित होजाते हैं।

विनय से अहंता, वैय्यावृत्य से ममता, ध्यान से चंचलता, स्वाध्याय से पराधीनता, व्युत्सर्ग से संगता और प्रायश्चित्त से दोपता का नाश होकर निरहंकारता, निर्ममता, निर्विकल्पता, स्वाधीनता, असंगता और निर्दोपता की उपलब्धि होती है। जिससे कपाय क्षीण होकर कर्म खिरते हैं।

जिस प्रकार ताप से एक-एक वीज भस्म या निर्जीव न होकर अगणित वीज एक साथ निर्जीव होते हैं व फल देने की शक्ति खो देते हैं, इसी प्रकार तप से असंख्य कर्म एक साथ रसहीन व निर्जीव

२२

साधना किसकी—?

जैसा कि मैंने ऊपर संकेत किया है, जैन आचार में साधना का बड़ा महत्व है। और साधना का लक्ष्य है—मोक्ष, निर्वाण। जीवन-मरण के दुख से मुक्त होना ही साधना के केन्द्रविन्दु है। फिर भी यह प्रश्न स्वाभाविक है कि साधना किसकी की जाय ? शरीर की अथवा मन की ? वस्तुतः साधना के दो रूप हैं, एक वाह्य साधना जिसमें शरीर की इन्द्रियों को तपाकर साधित किया जाता है और दूसरी आन्तरिक साधना है जिसमें मन को साधित करके उसकी वायु के समान चंचलगति को वश में करके एक केन्द्रविन्दु पर स्थिर किया जाता है। एक केन्द्र विन्दु पर मन को स्थिर करके ही व्यक्ति अचूक लक्ष्य का साधक वन सकता है। महाभारत में यह कथा प्रसिद्ध है कि गुरु द्रोणाचार्य जव अपने शिष्यों को लक्ष्य वेध की विद्या सिखा रहे थे तो एक रोज उनके लक्ष्यवेध की परीक्षा हेतु एक काठ का पक्षी बनाकर पेड़ की झुरमुट में ऊँची डाल पर रख दिया और पांचों पांडवों से पृथक-पृथक प्रश्न किया कि तुम्हें सामने क्या दिखाई दे रहा है ? युधिष्ठिर, भीम, नकुल एवं सहदेव—चारों भाइयों ने अपने उत्तर में चिड़िया के साथ न्यूनाधिक पास के परिवेश को भी अपने लक्ष्य में बताया किन्तु एक अर्जुन ने चिड़िया की आंख और आँख में भी सिर्फ उसकी पुतली देखी। ज्ञातव्य है—लक्ष्यवेध पुतली का ही करना था। इस पर गुरु द्रोणाचार्य के आदेश पर अर्जुन ने वाण चलाये और चिड़िया की पुतली विध गयी—शेष चारों भाइयों के लक्ष्य चूक गये।

इससे यह स्पष्ट है कि साधना चाहे अंतरंग हो चाहे वहिरंग उसमें सम्यक्त्व का होना नितान्त आवश्यक है। वहिरंग और अतरंग साधना में जव तक समन्वय नहीं होगा साधना सम्पूर्णतः सफल नहीं हो पायेगी। अतः साधक के लिये साधना का प्रथम लक्ष्य सम्यक्त्व की साधना है। सम्यकत्व का अर्थ है साधना का आत्माभिमुखी होना। और जव साधना आत्माभिमुखी हो जाती है तो उसे 'पर' में भी 'स्व' के दर्शन होने लगते हैं। अतः सम्यकत्व हमें अंतरग और वहिरंग के समन्वय के माध्यम से समता पथ की ओर अभिमुख करती है। और यही समता का पथ आत्मा की ऊर्ध्वमुखी गति-प्रगति का कारण है।

इसप्रकार विश्लेषण करने पर यह पाते हैं कि जैनधर्म की साधना मुख्यरूप से आत्मा की साधना है आत्मा के विकास की साधना है। जैसा कि ज्ञात है, जैन धर्म में किसी अवतार का प्राविधान नहीं स्वीकारा गया है अर्थात् जैन धर्म को अवतार में विश्वास नहीं है। जैन धर्म के जितने भी अरिहंत अथवा तीर्थंकर होते हैं—सभी आत्मा की साधना द्वारा आत्मा का ऊर्ध्वमुखी विकास करके उक्त पद को प्राप्त करते हैं। किसी तथा कथित भगवान अथवा तीर्थंकर का मानव रूप में अवतार जैनधर्म को स्वीकार्य नहीं है। जैन धर्म में एकमत से यह स्वीकारा गया है कि जीव अपने राग का ऊर्ध्वमुखी विकास करके उसे अ-राग अर्थात वीतराग वन कर—ईश्वरत्व पद को प्राप्त करता है। इसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास है, अतः यह आस्तिक धर्म है, किन्तु किसी अवतारी ईश्वर में इसे विश्वास नहीं। इसके अनुसार विन्दु ही अपना विकास करके सिंधु वनता है, सिन्धु किसी परिस्थिति विशेष में अपने को विन्दु रूप में अवतरित नहीं करता और मुख्य रूप से जैन धर्म की साधना का यही मार्ग है,यही शाश्वत पथ है जिसे यह रत्नत्रय के रूप में प्राप्त करता है।

जव हम जैन धर्म की गहराई में पहुंचते हैं तो हमें साधना की सूक्ष्मता का ज्ञान होता है। वाह्य से लगता है कि मुक्ति (साध्य) प्राप्ति का मार्ग (साधन) जैन दर्शन में अनेकों दर्शाये गये हैं, इसी

कारण इसे सहस्ररूपा साधना भी कहा गया है। कहीं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों को मोक्ष का मार्ग बताया गया है।[१] कहीं ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीनों को मुक्ति का मार्ग बताया गया है।[२] वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है। क्योंकि तप का अंतर्भाव चारित्र में कर लेने पर साधना त्रिरुप रह जाती है. कारण जिस साधना से पापकर्म तप्त होता है, वह तप है[3] और चारित्र भी तो कर्म का नाश ही करता है—अज्ञान से संचित कर्मों के उपचय को रिक्त करना चारित्र है।[४] अतः तप का अन्तर्भाव चारित्र में हो जाता है। यहाँ हम साधना के इन्ही तीनों मार्गों—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र पर संक्षेप में विचार करेंगे।

सम्यक्ज्ञान--

ज्ञान वह प्रकाश है,जो हमें कुज्ञान के अथवा अज्ञान के अन्धकार से हटाकर शाश्वतज्ञान पथ का पथिक बनाता है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य अनेकानेक अकर्म्य कर्मो का भी सतत संचय करता हुआ महा-पाप का भागी बनता है। अतः ज्ञान का न होना भी अपने आप में महान पाप है। हम कौन है? हमें क्या करना चाहिये? हमारा कर्त्तव्य पथ क्या है? तथा हमें अन्त में कहाँ जाना है? क्या बनना है? ऐसे अनेकानेक प्रश्नों का समाधान हम ज्ञान प्राप्ति के पश्चात ही कर पाते है। जब तक हमारे अन्तःपट पर ज्ञान की विकाश किरणें प्रकीर्ण नही हो जातीं—हमारा मानस दर्पण न तो तब तक प्रतिबिम्बित हो पाता है और न ही हम वस्तुस्थिति का सही ज्ञान कर पाते है। और जब साधक को सही स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह ज्ञान के ज्ञापक अर्थ और जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'केवल ज्ञान' को प्राप्त कर लेता है। केवल ज्ञान जीवन्मुक्ति को कहते हैं अर्थात केवलज्ञानी पुरुष सशरीरी होते हुये भी सदेह सिद्ध हो जाते है। केवलज्ञान की दशा सर्वविकल्पातीत दशा, जिसे हम कल्पातीत अवस्था कहते हैं, उस अवस्था में विधि-निषेध जैसी किसी वस्तु की मर्यादा नहीं रहती। वैदिक संस्कृति में इसी को त्रिगुणातीत अवस्था कहते हैं— **"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः: ?"** यह ज्ञान साधना की चरम अवस्था है जहाँ न भक्ति की आवश्यकता है न कर्म की। आत्मा अपने विशुद्ध रूप में स्वतः ही परिणमन करती है। जैनधर्म में यह आत्मा की स्वरूप अवस्था - अर्थात् सिद्ध अवस्था है?

सम्यक्दर्शन—

सम्यक् दर्शन की साधना साधक को भोग से योग की ओर ले जाती है। जीव और जगत की सही स्थिति का दृष्टिगत होना ही सम्यक्दर्शन है। यही कारण है कि इस साधना से साधक अपने-अपने सही पथ का अनुसरण कर मन के विकारो और विकल्पों पर विजय पाने का प्रयत्न (साधना) करता है। मनोगत विकारों को पराजित कर आत्मविजय की प्रतिष्ठा करना ही उनका जयघोष रहा है। आत्मा

---

१. **नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहि॥** —उत्तराध्ययन २८।२

२. **(क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** —तत्त्वार्थसूत्र १।१
(ख) परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षकारणं, न लिंगादीनि। उत्तरा० चूर्णि० २३

३. **तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो।** — निशीथचूर्णि ९६

४. **अण्णाणोवचियस्स कम्मचयस्स रित्तीकरणं चारित्तं।** —वही, ४६

हो जाते हैं तथा अपनी फल देने की शक्ति खो देते हैं अथवा जिस प्रकार ताप के प्रभाव से, रस (जल) के अभाव से पौधे पर लगे प्रचुर पुष्प निर्जीव होकर विना फल दिये ही खिर जाते हैं, इसी प्रकार तप के प्रभाव से, व कपाय-रस के अभाव से असंख्य कर्म निर्जीव होकर विना फल दिये ही निर्जरित हो जाते हैं।

संवर (संयम) और निर्जरा (तप) रूप साधना ही धर्म है। संवर और निर्जरा रूप धर्म का फल तत्काल मिलता है। क्योंकि ये क्रियाएं कोई कर्म नहीं है, जिसका फल पीछे मिले। कर्म का फल कालान्तर में मिलता है, धर्म का फल तत्काल न मिलकर पीछे मिले ऐसा कोई कारण या हेतु नहीं है। संवर और निर्जरा आत्मा के विकारों को दूर करने की क्रिया है। यह नियम है कि विकार दूर होते ही तत्काल प्रसाद मिलता है। ऐसा नहीं होता है कि विकार तो अभी दूर हों और फल कभी मिले। जिसप्रकार शारीरिक विकार (रोग) जिस समय दूर होते हैं उसी समय पीड़ा मिटकर शान्ति व सुख की अनुभूति होती है। यह नहीं होता कि शरीर का रोग तो आज मिटे और शान्ति कल मिले। इसी प्रकार संवर और निर्जरा से आत्मिक विकार दूर होते ही तत्काल प्रसन्नता, स्वाधीनता व शान्ति की अनुभूति होती है।

जैन साधना पद्धति का आधार आत्मा के विकार दूर करना है। आत्मा में उत्पन्न विकार ही प्राणी के तन, मन आदि स्तरों पर प्रकट होते हैं। अतः तन-मन में उत्पन्न विकृतियों—रोगों के आदि कारण आत्मा के विकार ही हैं। आत्मा के विकार दूर होने पर, कर्म क्षय हो जाने से तन, मन के रोग भी स्वतः दूर हो जाते हैं। अतः जैनसाधना अर्थात् आध्यात्मिक चिकित्सा में शारीरिक और मानसिक चिकित्साएँ भी अन्तर्गभित हो जाती हैं। इस प्रकार जैन साधना सर्वांगीण या परिपूर्ण चिकित्सा पद्धति का भी कार्य करती है।

जैन साधना से केवल आत्मा से तन, मन के विकार ही दूर होते हों इतना ही लाभ नहीं है। इससे साधक व्यक्ति के अन्तस्तल में विद्यमान शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं। आत्मा अनन्त शक्तियों व गुणों का भंडार है, ऋद्धियां-निधियों का स्वामी है। जैसे ही आत्मा के विकार हटते हैं वे सब गुण व शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। व्यक्ति परम शान्ति, स्वाधीनता, सरसता, आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है। उसका दुःख दुम दबाकर भाग जाता है। वेदना विदा हो जाती है। पीड़ा पलायन कर जाती है। अभाव-अभाव को प्राप्त हो जाता है। अतः जैन साधना जीवन-साधना है, जीवन को आनन्दमय बनाने का साधन है।

जैसे आम का वृक्ष लगाने का वास्तविक लाभ उस वृक्ष के फलों के मधुर रस का आस्वादन करना है। उस वृक्ष से मिलनेवाली छाया की शीतलता के उपभोग का लाभ तो उसका आनुषंगिक फल है। इसी प्रकार जैन साधना का वास्तविक लाभ आत्मा की विभूतियों का उद्घाटन करना व उनसे उपलब्ध शान्ति, मुक्ति व परमानन्द का रसास्वादन करना है। इससे होनेवाले शारीरिक व मानसिक रोगों का निवारण, परिवार, समाज व राज्य का सुन्दर निर्माण, कीर्ति व सम्पत्ति की प्राप्ति आदि लाभ तो आनुषंगिक फल हैं। जिसका मूल्य मुख्य लाभ के समक्ष कुछ भी नहीं है।

सारांश यह है कि 'जैन-साधना' परमानन्दपूर्वक जीने की साधना है, सुख-शान्ति पूर्वक जीने की कला है। इससे जीवन की समस्त आधियाँ, व्याधियाँ व उपाधियाँ दूर हो जाती हैं और जीवन पूर्ण स्वस्थता, सफलता व प्रसन्नता युक्त विताया जा सकता है।

जैन-साधना पद्धति : एक विवेचन

—डा० उम्मेदमल मुनोत एम० बी० बी० एस०

हिन्दू धर्म—जिसे भारतीय धर्म की पृष्ठभूमि में अभिहित किया है—की सशक्त कड़ी—जैन धर्म प्रधानतः आत्म-साधनात्मक धर्म है । इस धर्म की प्रत्येक मान्यतायें, परम्परायें, रीतियाँ—रूढ़ियाँ एवं मूल्य आत्म-साधना पर आधारित हैं । एक तरह से यह सर्वतोमुखी साधना का धर्म है । और जैसा कि ज्ञात है, बिना साधना के, बिना निष्ठा एवं लगन के—किसी सामान्य कार्य में भी गति, प्रगति किंवा सफलता का मिलना कठिन है, फिर जीवन के ऊर्ध्वगामी प्रयास में आत्मोत्थान के मार्ग में तो साधना का एकमात्र साम्राज्य हैं। वैसे तो हिन्दू धर्म की प्रत्येक कड़ियों ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन के लिये साधना का महत्व असंदिग्ध है किन्तु जैन मत में इसका प्रचुर प्रावधान है ।

साधना के क्षेत्र में जैनधर्म के रत्नत्रय का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है । रत्नत्रय में ज्ञान, दर्शन, और चारित्र को सन्निविष्ट किया गया है । यह सर्वमान्य तथ्य है कि भारतीय मनीषा अनादिकाल से ज्ञान के अन्वेषण में संलग्न रही है । भारतीय संस्कृति का दिव्य मन्त्र—**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** इसका ज्वलन्त प्रतीक है । अभिप्राय यह कि भारतीय मनीषा ज्ञान के प्रकाश को जीवन के लिये सर्वोपरिस्थान देती आई है और उसका आज भी वही महत्व है । इसी प्रकार ज्ञान के बोध के साथ दर्शन की साधना को अपरिहार्य माना गया है जिससे आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत आदि का शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है । और, इन दोनों की स्थायी प्राप्ति के लिये चारित्र की साधना परमावश्यक है । अंग्रेजी में एक सूक्ति है—

"It wealth is lost, nothing is lost
It health is lost something is lost
It charaeter is lost everything is lost"

अर्थात् चारित्र के अवसान के पश्चात् जीवन में कुछ रह ही नहीं जाता । इसलिये जैन धर्म में विचार (ज्ञान+दर्शन) की साधना के साथ-साथ आचार (चारित्र) की साधना को महिमामय स्थान दिया है । एक प्रकार से यह रत्नत्रय—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र गंगा, यमुना एवं सरस्वती के तथा कथित संगम स्थल के समान धर्म की पावन प्रयाग भूमि (संगम) है । यही वह सेतु है, जिसके कारण जैन धर्म को समन्वयवादी परिवेश में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

के एक अशुद्ध भाव को जीत लेने पर चार क्रोधादि कषाय और मन जीत लिया जाता है और इन पाँचों के जीत लेने पर दश—मन, कषाय और पाँच इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं।[५]

जैसा कि पूर्व में संकेत किया है, जैनधर्म की साधना 'स्व' भाव की साधना है। 'स्व' भाव में रमण अर्थात् विश्व के सभी प्राणियों के सुख-दुखों को अपना सुख-दुख समझना—यह समताभाव ही सम्यक्दर्शन की आधार शिला है। **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** का महामंत्र साधक इसी साधना के द्वारा प्राप्त करता है। ऐसा कर लेने के पश्चात् साधक के लिये 'स्व' और 'पर' कोई पृथक-पृथक तत्व नहीं रह जाते दोनों एक में समाहित हो जाते है। 'स्वाकार' हो जाते हैं। और यही 'स्वाकार' की स्थिति 'स्वरूप' की स्थिति है। और जव साधक स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वहीं वह मुक्त दशा को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सम्यक् दर्शन की साधना द्वारा भी साधक अपने उसी चिरंतन लक्ष्य—मोक्ष, निर्वाण पद को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। इसी स्थिति में राग का ऊर्ध्वीकरण हो जाता है और क्रमशः साधक स्वयं अ-रागी किंवा वीतराग पुरुष वन जाता है।

सम्यक्चारित्र !

सम्यक्चारित्र का पर्याय है—सम्यक् आचार। आचार जैनधर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोपान है। आचार ही मानव की उन्नति का प्रमुख साधन है और यही प्रथम धर्म है। जैनधर्म में आचार के पाँच प्रकार के आचरण वताए गये है। उनके नाम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन्हें 'पंचमहाव्रत' कहा गया है। इन पांचों पर यहाँ पृथक्-पृथक् विवेचन करना सम्भव नहीं, किन्तु संक्षेप में इतना उल्लेख्य है कि अहिंसा की साधना द्वारा जैन धर्म भाव और द्रव्य दोनों प्रकार की हिंसा का निषेध करता है। हां, द्रव्य से अधिक भाव हिंसा को पाप का मूल माना गया है। इसी प्रकार सदाचरण सत्य का ध्वन्यर्थ है। किसी का कोई भी सामान यहां तक कि दांत साफ करने की दातून भी बिना उसके स्वामी की आज्ञा लेना वर्जित किया गया है। व्रह्मचर्य की साधना द्वारा मन एवं इन्द्रियों को अर्थात् इन्द्रिय-जन्य वासनाओं को वश में करना निदेशित किया गया है। और ध्यातव्य है कि व्रह्मचर्य बड़ा व्यापक शब्द है जिसका मात्र स्त्री-संभोग त्याग से ही मतलव नहीं है वल्कि हर प्रकार की वासनाओं के परित्याग से है। इसी प्रकार अपरिग्रह की साधना मूर्च्छात्याग की साधना है। किन्तु वस्तु के प्रति जव हमारे मन में आसक्ति होती है,तभी हम येनकेन प्रकारेण उसके संग्रह की ओर प्रवृत्त होते हैं। और वस्तु के सग्रह की प्रवृत्ति साधक को संसाराभिमुखी वनाती है—साधना के लक्ष्य से विमुख कर देतीं है। अतः मूर्च्छा के त्याग को जैन साधना में विशेष महत्व दिया गया है।

इस प्रकार सम्यक् चारित्र की साधना व्यक्ति के चारित्रिक विकास की महान् साधना है जो साधक को वहिरंग जगत् से अंतरंग की ओर आने को निर्दिष्ट करती है।

इस प्रकार संक्षेप में विचार करने पर हम पाते हैं कि साधना के तीनों सोपानों में साधक क्रम से आत्मा की ओर झुकता है। आत्मा को विशाल एवं विराट स्वरूप में परिणत करता है। और अंत में वही अरिहंत, तीर्थंकर एवं केवलज्ञानी के परमपद को प्राप्त कर परमात्मा वन जाता है। जैनधर्म में आत्मा के विकास का यही शाश्वत साधना पथ है।

---

५. उत्तराध्ययन सूत्र, २३, ३६,
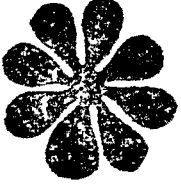
प्रमाणवाद

एक पर्यवेक्षण

—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

आगम—साहित्य में प्रमाणवर्णन

आगम-साहित्य में प्रमाण के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा है। स्वतन्त्र रूप से प्रमाण के सम्बन्ध में चिंतन किया गया है।

भगवती सूत्र[1] का मधुर प्रसंग है। गणधर गौतम ने भगवान महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! जिस प्रकार केवली अन्तिम शरीरी [जो इसीभव से मुक्त होनेवाला हो और वर्तमान शरीर के पश्चात् फिर कभी शरीर धारण नहीं करेगा] को जानते हैं। उसी प्रकार क्या छद्मस्थ भी जानते हैं?

भगवान् महावीर ने समाधान करते, हुए कहा—गौतम! वे अपने आप नहीं जान सकते, या तो किसी से श्रवण कर जानते हैं या प्रमाण से जानते हैं।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—किससे सुनकर?

उत्तर—दिया गया—केवली से ……

पुनः प्रश्न उद्बुद्ध हुआ—किस प्रमाण से जानते हैं?

उत्तर दिया गया—प्रमाण चार प्रकार के कहे गये हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और आगम। इनके विषय में जैसा अनुयोगद्वार में वर्णन है उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए।

स्थानाङ्ग सूत्र में प्रमाण और हेतु इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। निक्षेपपद्धति की दृष्टि से प्रमाण के द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव प्रमाण[2] ये चार भेद किये गये हैं।

---

१. गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा।
से किं तं पमाणं? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते।
तं जहा—पच्चक्खे अनुमाणे ओवम्मे, आगमे, जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं पमाणं॥

—भगवती सूत्र ५।३।१९१-१९२

२. चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते तं जहा—दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे भावप्पमाणे।

—स्थानाङ्ग ३२१

स्थानाङ्ग में जहाँ पर हेतु शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ पर भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद मिलते हैं।[3]

कहीं-कहीं पर प्रमाण के तीन भेद भी प्राप्त होते हैं। वहाँ पर प्रमाण के स्थान पर व्यवसाय शब्द का प्रयोग हुआ है। व्यवसाय का अर्थ निश्चय है। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। व्यवसाय के तीन प्रकार हैं—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और आनुगामिक।[४]

प्रमाण के भेदों के सम्बन्ध में विविध परम्पराएं हैं। कहीं पर तीन का उल्लेख है तो कहीं पर चार का वर्णन है। सांख्यदर्शन ने तीन प्रमाण माने हैं और न्यायदर्शन ने चार। ये दोनों परम्पराएं स्थानाङ्ग में प्राप्त होती हैं।

अनुयोगद्वार में प्रमाण की विस्तार से चर्चा है। उस चर्चा का संक्षेप में सारांश इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष :

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष।

इन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष (२) चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष (३) घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष (४) जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष (५) और स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष ये पाँच भेद है।

पाँच इन्द्रियों में मानस-प्रत्यक्ष का समावेश कर लिया है इसलिए मानसप्रत्यक्ष को स्वतन्त्र रूप से नहीं गिनाया है। वाद के दार्शनिकों ने इसको स्वतन्त्र रूप से स्थान दिया है।

अनुमान

अनुमान प्रमाण के– पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्ट-साधर्म्यवत् ये तीन भेद किये गये हैं। न्याय-दर्शन[५] बौद्धदर्शन[६] और सांख्यदर्शन[७] ने भी तीन भेद माने हैं।

पूर्ववत्

पूर्व-परिचित हेतु द्वारा पूर्व-परिचित पदार्थ का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। एक माता अपने पुत्र को वाल्यकाल में देखती है। पुत्र कहीं विदेश चला गया। वर्षों के पश्चात् वह लौटता है किन्तु

---

३. स्थानाङ्ग ३३८

४. तिविहे ववसाए पण्णत्ते तं जहा—पच्चक्खे, पच्चइए, अणुगामिए। —स्थानाङ्ग ३३८

(ख) व्यवसायो निश्चयः स च प्रत्यक्षः अवधिमनःपर्यय केवलाख्यः प्रत्ययात् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात्। नमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः साध्यमग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति योधमादिहेतुः सोऽनु-गामी ततो जातम् आनुगामिकम् अनुमानम्, तद् यो व्यवसायआनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्षः स्वयंदर्शनलक्षणः प्रात्ययिक आप्तवचनप्रभवः तृतीयस्तथवेति।

—स्थानाङ्ग, अभयदेववृत्ति

५. न्यायसूत्र १।१।५

६. उपायहृदय पृ० १३

७. सांख्यकारिका ५-६

कुछ समय तक माता उसे पहचान नहीं पाती। किन्तु उसके शरीर पर कोई चिन्ह देखकर शीघ्र ही उसे स्मृति हो आती है कि यह मेरा ही पुत्र है। यह है पूर्ववत् अनुमान।[८]

शेषवत्

शेषवत् अनुमान के (१) कार्य से कारण का अनुमान (२) कारण से कार्य का अनुमान (३) गुण से गुणी का अनुमान (४) अवयव से अवयवी का अनुमान (५) आश्रित से आश्रय का अनुमान ये पांच प्रकार हैं।

कार्य से कारण का अनुमान जैसे शब्द से शंख का, ताड़न से भेरी का, ढक्कित से वृषभ का अनुमान करना।

कारण से कार्य का अनुमान जैसे—तन्तु से ही पट होता है, पट से तन्तु नहीं, मिट्टी के पिण्ड से ही घड़ा बनता है, घड़े से मिट्टी का पिण्ड नहीं इत्यादि कारणों से कार्य—व्यवस्था करना।

गुण से गुणी का अनुमान जैसे—कसौटी से सोने का, गंध से पुष्प का, रस से लवण का, आस्वाद से मदिरा का, स्पर्श से वस्त्र का अनुमान करना।

अवयव से अवयवी का अनुमान जैसे शृंग से भैंसे का, दांत से हाथी का, दाढ़ से वराह का, पंख से मयूर का, खुर से घोड़े का, केसर से सिंह का अनुमान किया जाता है।

आश्रित से आश्रय का अनुमान जैसे धूम से अग्नि का, बगुले की पंक्ति से पानी का, बादलों से वृष्टि का, शीलवृत्त से कुलपुत्र का अनुमान किया जाता है।

कारण और कार्य को लेकर दो भेद किये हैं पर गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, आश्रित-आश्रय के दो-दो भेद नहीं किये गये हैं, इसके पीछे क्या रहस्य है यह आगममर्मज्ञों के लिए चिन्तनीय है।

दृष्टसाधर्म्यवत् :

सामान्यदृष्ट व विशेषदृष्ट इस प्रकार इसके दो भेद हैं। किसी एक वस्तु के दर्शन से सजातीय सभी प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान करना, या जाति के ज्ञान से किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है।

अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करके उसका परिज्ञान करना विशेषदृष्ट अनुमान कहलाता है। जैसे एक स्थान पर सैकड़ों पुरुष खड़े हों उनमें से किसी विशेष पुरुष को पहचानना कि यह वही पुरुष है जिसे पूर्व मैंने अमुक स्थान पर देखा था।

सामान्यदृष्ट उपमान के समान है और विशेषदृष्ट प्रत्यभिज्ञान के समान है।

अनुयोगद्वार में काल की दृष्टि से अनुमान के तीन भेद किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) **अतीतकालग्रहण**—घास व अन्य वनस्पतियों लहलहाती पृथ्वी, जल से छलछलाते हुए कुण्ड, तालाब, नदी आदि को देखकर यह अनुमान करना यहाँ पर वर्षा बहुत अच्छी हुई।

---

८. माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिंगेण केणई॥
तं जहा—खेत्तेण वा वण्णेण वा लंछणेण वा मसेण वा तिलएण वा।—**अनुयोगद्वार सूत्र, प्रमाणप्रकरण**

(२) **प्रत्युत्पन्नकालग्रहण**—भिक्षा के समय सुगमता से अच्छी तरह से भिक्षा खूब प्राप्त होने पर यह अनुमान करना कि यहाँ पर सुभिक्ष है।

(३) **अनागतकालग्रहण**—उमड-घुमड़ कर घनघोर घटाएं आ रही हों, विजली कौंध रही हो, मेघ की गम्भीर गर्जना हो रही हो, रक्त और स्निग्ध संध्या फूल रही हो इन सभी को देखकर यह जान लेना कि अत्यधिक वर्षा होगी।

इन तीन लक्षणों से विपरीत लक्षणों को देखकर विपरीत अनुमान भी किया जा सकता है। सूखे जंगलों को देखकर अनावृष्टि का, भिक्षा प्राप्त न होने पर दुर्भिक्ष का, वर्षा के लक्षणों को न देखकर वर्षा के अभाव का अनुमान किया जा सकता है।

अनुमान के अवयव :

यद्यपि मूल आगमों में अवयव की चर्चा नहीं है। दूसरों को समझाने के लिए अनुमान के हिस्सों का प्रयोग करना अवयव का अर्थ है। अनुमान का प्रयोग किसप्रकार करना चाहिए, वाक्यों की संगति उसके लिए किसप्रकार बैठानी चाहिए, अधिक से अधिक वाक्य के कितने प्रयोग हो सकते हैं, कम से कम कितने वाक्य का प्रयोग होना चाहिए। अवयव की चर्चा में इन सभी पर विचार किया गया है। दशवैकालिकनिर्युक्ति में अवयवों की चर्चा करते हुए दो से लेकर दस अवयवों के प्रयोग का समर्थन किया है।[९] दस अवयवों का दो प्रकार प्रयोग बतलाया गया।[१०] दो अवयवों की परिगणना करते हुए उदाहरण का नाम दिया है, हेतु का नहीं।

दो—प्रतिज्ञा, उदाहरण

तीन—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण

पांच—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार, निगमन

(१) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन, निगमनविशुद्धि।

(२) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, तत्प्रतिषेध, निगमन।

स्मरण रखना चाहिए कि दो, तीन और पांच अवयवों के नाम वे ही हैं जिनकी चर्चा अन्य दार्शनिकों ने भी की है[११] किन्तु दस अवयवों के नामों का वर्णन आर्यभद्रवाहु के अतिरिक्त कहीं भी नहीं मिलता है।[१२]

उपमान :

साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत ये उपमान के दो भेद हैं।

साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है—

(१) किञ्चित् साधर्म्योपनीत (२) प्रायः साधर्म्योपनीत और (३) सर्व-साधर्म्योपनीत।

---

९. दशवैकालिक निर्युक्ति ५०

१०. दशवैकालिक निर्युक्ति ९२

११. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।—न्यायसूत्र १।१।३२

१२. देखिए—जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता पृ० २५०

किञ्चित् साधर्म्योपनीत– जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है। ये उदाहरण किञ्चित् साधर्म्योपनीत उपमान के हैं, आदित्य और खद्योत का, कुमुद और चन्द्र का किञ्चित् साधर्म्य है।

प्राय: साधर्म्योपनीत—जिस प्रकार गौ है वैसा गवय है, जिस प्रकार गवय है वैसा गौ है। गौ और गवय का यहाँ पर अत्यधिक साधर्म्य है।

सर्व-साधर्म्योपनीत—किसी व्यक्ति की उपमा अन्य किसी व्यक्ति से न देकर उसी व्यक्ति से दी जाती है तब वह सर्वसाधर्म्योपनीत उपमान होता है, इन्द्र इन्द्र ही है, तीर्थंकर तीर्थंकर ही है। चक्रवर्ती चक्रवर्ती ही है।

वैधर्म्योपनीत के भी तीन भेद हैं किञ्चिद् वैधर्म्योपनीत, प्रायोवैधर्म्योपनीत और सर्ववैधर्म्योपनीत।

किञ्चिद् वैधर्म्योपनीत—जैसा शाबलेय है वैसा बाहुलेय नहीं है, जैसा बाहुलेय है वैसा शाबलेय नहीं है।

प्रायोवैधर्म्योपनीत—जैसा वायस (कौआ) है वैसा पायस (दूध) नहीं है। जैसा पायस है वैसा वायस नहीं है।

सर्ववैधर्म्योपनीत—जैसे उत्तमपुरुष ने उत्तम पुरुष के समान ही कार्य किया। नीच ने नीच के समान ही कार्य किया। डा० मोहनलालजी मेहता का मन्तव्य है कि ये उदाहरण ठीक नहीं है, कोई ऐसा उदाहरण देना चाहिए जिसमें दो विरोधी वस्तुएं हो। नीच और सज्जन, दास और स्वामी आदि उदाहरण दिये जा सकते हैं।[१३]

आगम :

आगम के लौकिक व लोकोत्तर ये दो भेद किए गए हैं—लौकिक आगम महाभारत, रामायण आदि और लोकोत्तरआगम सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा प्ररुपित आचारांग, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती आदि हैं।[१४]

लोकोत्तर आगम के सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम ये तीन भेद भी किये गये हैं।[१५]

एक अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और मिलते हैं—आत्मागम, अनन्तरागम, और परम्परागम।[१६] आगम के अर्थरूप और सूत्ररूप में दो प्रकार हैं। तीर्थंकर प्रभु अर्थरूप आगम का उपदेश करते हैं अत: अर्थरूप आगम तीर्थंकरों का आत्मागम कहलाता है क्योंकि वह अर्थागम उनका स्वयं का है, दूसरों से उन्होंने नहीं लिया है। किन्तु वही अर्थागम गणधरों ने तीर्थंकरों से प्राप्त किया हैं। गणधर और तीर्थंकर के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नहीं है, एतदर्थ गणधरों के लिए वह

---

१३. जैनदर्शन—डा० मोहनलालमेहता पृ० २५१

१४. अनुयोगद्वार ४९—५० पृ० ६८ पुण्यविजय जी सम्पादित।

१५. तं जहा—सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य। —अनुयोगद्वार सूत्र ४७० पृ० १७९

१६. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—अत्तागमे, अणंतरागमे परंपरागमे य।
—अनुयोगद्वार सूत्र ४७० पृ० १७९

अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है। किन्तु उस अर्थागम के आधार से गणधर सूत्ररूप रचना करते हैं।[१७] इसलिए सुत्तागम गणधरों के लिए आत्मागम कहलाता है। गणधरों के साक्षात् शिष्यों को गणधरों से सूत्रागम सीधा ही प्राप्त होता है, उनके मध्य में कोई भी व्यवधान नहीं होता। इसलिए उन शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम है किन्तु अर्थागम तो परम्परागम ही है क्योंकि वह उन्होंने अपने धर्मगुरु गणधरों से प्राप्त किया है, किन्तु वह गणधरों को भी आत्मागम नहीं था, उन्होंने भी तीर्थंकरों से प्राप्त किया था। गणधरों के प्रशिष्य और उनकी परम्परा में होनेवाले अन्य शिष्य-प्रशिष्यों के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागत है।[१८]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन आगमों में प्रमाण के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की गई है। ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में आगमों में सुन्दर सामग्री का संकलन है। यह सत्य है कि आगम-साहित्य को आधार बनाकर ही वाद के आचार्यों ने तर्क के आधार पर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया है, वह अनूठा है, अपूर्व है।

प्रमाण का लक्षण :

यथार्थज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है, प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान के दो प्रकार है—यथार्थ और अयथार्थ। जो ज्ञान सही निर्णायक है वह यथार्थ है। जिसमें संशय, विपर्यय आदि होता है वह अयथार्थ है। संशय आदि से रहित यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञान की करणता :

प्रमाण का सामान्य लक्षण इस प्रकार है—**'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'** प्रमा का करण ही प्रमाण है। **'तद्वति तत्प्रकारानुभवः प्रमा'**—जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही जानना प्रमा है। करण का अर्थ साधकतम है। एक अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक सहकारी होते हैं किन्तु उन सभी सहकारियों को 'करण' नहीं कह सकते। 'करण' वह कहलाता है—जिसका व्यापार फल की सिद्ध में विशेष रूप से उपकारक होता है। जैसे गन्ने को छीलने में हाथ और चाकू दोनों चलते हैं पर करण चाकू ही है। गन्ने को छीलने का निकटतम संबंध चाकू से है। हाथ साधक है और चाकू साधकतम है।

प्रमाण के सामान्य लक्षण के संबंध से दार्शनिकों में विवाद नहीं है, किन्तु 'करण' के संबंध में एक मत नहीं है। बौद्धदर्शन में सारूप्य और योग्यता को करण माना गया है।[१९] नैयायिक सन्निकर्ष

---

१७. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तेइ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ९२

१८. तित्थंगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणंतरागमे, गणहर सीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे अत्थस्स परम्परागमे, तेणं परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणंतरागमे, परम्परागमे। — अनुयोगद्वार ४७० पृ० १७९

१९. (क) न्यायविन्दु १।१९।२०
(ख) बौद्ध दर्शन के अभिमतानुसार ज्ञानगत अर्थाकार (अर्थग्रहण) ही प्रामाण्य है, उसे सारूप्य भी कहा जाता है।

और ज्ञान इन दोनों को करण मानते हैं। किन्तु जैन दर्शन ज्ञान को ही 'करण' मानता है।[२०] सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ का परिज्ञान करने के लिए सहायक अवश्य हैं किन्तु ज्ञान सबसे अधिक निकट है और वही ज्ञान और ज्ञेय के मध्य संबंध स्थापित करता है।

प्रमाण की परिभाषा का विकास :

आचार्यों ने प्रमाण की अनेक परिभाषाएँ निर्माण की हैं। जैनदृष्टि से 'निर्णायक ज्ञान' प्रमाण की आत्मा है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में लिखा है—[२१]

"तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद् विशेषणम् ॥

पदार्थ का यथार्थ निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है। अन्य सभी विशेषता व्यर्थ हैं, तथापि परिभाषा के पीछे जो अनेक विशेषण लगें हैं उनके प्रमुख तीन कारण हैं—

(१) दूसरों के प्रमाण लक्षण से अपने लक्षण को अलग करना।
(२) दूसरों के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण करना।
(३) बाधा का निराकरण।

न्यायावतार में आचार्य सिद्धसेन ने 'स्व' और 'पर' को प्रकाशित करनेवाले अबाधित ज्ञान को प्रमाण कहा है।[२२] मीमांसक ज्ञान को स्वप्रकाशित नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। हम अर्थ को जानते हैं इससे ज्ञात होता है कि अर्थ को जाननेवाला ज्ञान है। अर्थ के परिज्ञान से ही ज्ञान का परिज्ञान होता है—यह परोक्षज्ञानवाद है।[२३]

नैयायिक और वैशेषिक दर्शन ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। उनके अभिमतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म समवायी दूसरे ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान को छोड़कर अन्य सभी ज्ञान पर-प्रकाशित हैं, प्रमेय हैं। सांख्यदर्शन प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानता है। उनके मन्तव्यानुसार ज्ञान प्रकृति की पर्याय है, विकार है, एतदर्थ वह अचेतन है। एतदर्थ आचार्य सिद्धसेन ने 'स्वआभासि' शब्द देकर इन मान्यताओं का निरसन किया है। जैनदृष्टि से ज्ञान 'स्व-अवभासि'[२४] है। उसका स्वरूप ज्ञान ही है। ज्ञान प्रमेय ही नहीं, ईश्वर के ज्ञान की तरह प्रमाण भी है। ज्ञान अचेतन और जड़ प्रकृति का विकार नहीं है किन्तु आत्मा का गुण है।[२५]

"स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद् रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।"—**प्रमाणसमुच्चय पृ० २४**

(ग) प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यता वा।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १३-४४

२०. न्यायभाष्य १।१।३
२१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।१०।७७
२२. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।—न्यायावतार १
२३. मीमांसाश्लोकवार्तिक १८४-१८७
२४. स्याद्वादमंजरी कारिका १२
२५.. स्याद्वादमंजरी-१५

बौद्धदर्शन ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानता है, वाह्य पदार्थ को नहीं।[२६] इस मत का निरसन करने के लिए सिद्धसेन ने 'पर आभासि' शब्द का प्रयोग किया है और इससे सिद्ध किया है कि ज्ञान से भिन्न पदार्थों की भी सत्ता है।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान की भांति वाह्य पदार्थों की पारमार्थिक सत्ता है।[२७]

विपर्यय आदि कहीं प्रमाण न हो जाएँ इसलिए 'वाध-विवर्जित' विशेषण का प्रयोग किया है।

इस प्रकार सिद्धसेन ने उस समय में प्रचलित प्रमाण के लक्षणों से जैनलक्षण को पृथक् करने के लिए विशेषण का प्रयोग किया है।

जैनन्याय के प्रस्थापक अकलंक ने प्रमाण के लक्षण में कहीं 'अनधिगतार्थक' और 'अविसंवादि' दोनों विशेषण प्रयोग किये हैं।[२८] और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्थन किया है।[२९] आचार्य अकलंक का प्रतिविम्ब आचार्य माणिक्यनन्दी पर पड़ा। उन्होंने यह माना कि स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है।[३०] इसमें आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र द्वारा स्थापित और अकलंक द्वारा विकसित जैन परम्परा का संकलन किया है।

वादिदेवसूरि ने स्व–पर व्यवसायि ज्ञान को प्रमाण माना है।[३१] इन्होंने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' शब्द की ओर लक्ष्य नहीं दिया।

उस समय दो धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। दिगम्बराचार्य गृहीत-ग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते तो श्वेताम्बर आचार्य उसे प्रमाण मानते। दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने स्पष्ट कहा—स्व और पर का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है, चाहे वह गृहीत-ग्राही हो।[३२]

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षणसूत्र का परिष्कार ही नहीं किया किन्तु उन्होंने अपनी मौलिक कल्पना से और सूक्ष्म तर्क दृष्टि से ऐसी परिभाषा निर्माण की जो जैन प्रमाण लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। उन्होंने लिखा—'अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है।"

अर्थ की दृष्टि से मौलिक मतभेद न होने पर भी सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों के प्रमाण लक्षण में शाब्दिक भेद हैं, जो विचार विकास का प्रतीक है, साथ ही उस समय के साहित्य की स्पष्ट प्रतिच्छाया भी उस पर है।

---

२६. वसुवन्धुकृत विंशतिका ८
२७. स्याद्वादमंजरी १६
२८. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ॥—अष्टशती पृष्ठ १७५
२९. उक्तं च—सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः : तत् प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्।
—न्यायविनिश्चय टीका पृष्ठ ६३
३०. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परीक्षामुखमण्डन १।१
३१. स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्।—प्रमाणनयतत्त्वालोक १।२
३२. गृहीतमगृहीतं वा, स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्।
—श्लोकवार्तिक १।१०-७८

❀ देवता बान्धवा सन्तः ❀
संत- सबसे बड़े देवता व जगद्बन्धु हैं।

ज्ञान और प्रमाण :

उपर्युक्त प्रमाण के लक्षणों का अवलोकन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि ज्ञान और प्रमाण में अभेद है। ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान स्वप्रकाशक होकर ही किसी पदार्थ को ग्रहण करता है। जैनदर्शन में ज्ञान को स्वपर प्रकाशक कहा है, दीपक, घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ ही साथ अपने को भी प्रकाशित करता है, दीपक को प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं प्रकाश रूप होता है। इसी तरह ज्ञान भी प्रकाशरूप है जो स्वप्रकाश के साथ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। जैनदार्शनिकों ने निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है जो निश्चयात्मक हो—व्यवसायात्मक हो, निर्णयात्मक हो, सविकल्प हो। न्यायविन्दु में निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है।[३४] किन्तु जैनदर्शन ने उस मत का खण्डन करते हुए कहा है "जो निर्विकल्प होता है वह प्रमाण और अप्रमाण कुछ भी नही होता। जहाँ विकल्प अर्थात् निश्चय या निर्णय होता है, वही ज्ञान होता है। निर्विकल्पक उपयोग केवलदर्शन मात्र है। निश्चयात्मक उपयोग के विना प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय नहीं हो सकता।"

प्रामाण्य का नियामकतत्व :

प्रमाण सत्य होता है, इसमें दो राय नहीं है, किन्तु सत्य की परिभापा सभी की अलग-अलग है। यथार्थ, अवाधितत्व, अप्रसिद्धअर्थख्यापन या अपूर्वअर्थप्रापण, अविसंवादित्व या संवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्ति सामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता ये सत्य की परिभाषाएँ विभिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही हैं।

आचार्य विद्यानन्द अवाधितत्व-वाधक प्रमाण के अभाव या कथनों के पारस्परिक सामञ्जस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते है।[३५] आचार्य अभयदेव सन्मति-टीका में इसका निरसन करते है।[३६] आचार्य अकलंक वौद्ध और मीमांसक अप्रसिद्ध—अर्थख्यापन अर्थात् अज्ञात अर्थ के ज्ञापन को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं।[३७] वादिदेवसूरि और हेमचन्द्राचार्य इसका निराकरण करते है।[३८]

संवादीप्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य इन दोनों का व्यवहार सभी द्वारा सम्मत है, परन्तु ये प्रामाण्य के प्रमुख नियामक नही हो सकते। संवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की तरह व्यापक नहीं है। प्रत्येक निर्णय में सत्य तथ्य के साथ ज्ञान भी आवश्यक है, वैसे प्रत्येक निर्णय में संवादक ज्ञान आवश्यक नहीं है, सत्य को वह कभी प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थ सिद्धि का द्वितीय रूप है। वह जव तक फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं हो जाता तव तक सत्य नहीं होता। यह भी पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि इसके विना भी तथ्य

---

३३. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।—**प्रमाणमीमांसा १।१।२**

३४. न्यायविन्दु का प्रथम प्रकरण

३५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १७५

३६. सन्मति-टीका पृ० ६१४

३७. तत्वार्थश्लोकवार्तिक १७५

३८. (क) प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका—१-२
(ख) प्रमाण-मीमांसा

के साथ ज्ञान का मेल होता है, कहीं पर वह सत्य का परीक्षण-प्रस्तर भी वनता है एतदर्थ इसे अमान्य नहीं कह सकते।

ज्ञान का प्रामाण्य :

सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। पर प्रश्न यह है कि कौनसा ज्ञान सम्यक् है ? और कौनसा मिथ्या है ? ज्ञान को जिसके कारण प्रमाण कहते हैं, वह प्रामाण्य क्या है ? प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परिभाषा क्या है ?

उत्तर है—जैन तार्किकों ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय स्वतः या परतः माना है। किसी समय प्रामाण्य का निश्चय स्वतः माना है और किसी समय प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए दूसरे साधनों का सहारा लेना पड़ता है। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी है, नैयायिक परतः प्रामाण्यकारी है। मीमांसकों का स्पष्ट मन्तव्य है ज्ञान स्वयं प्रमाणरूप है, वाह्य दोष के कारण ही उसमें अप्रामाण्य आता है। ज्ञान के प्रामाण्य-निश्चय के लिए अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। प्रामाण्य अपने आप उत्पन्न होता है और ज्ञात होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः होती है, एतदर्थ यह स्वतः प्रामाण्यवाद कहलाता है। नैयायिक स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार नहीं करता है। इस दर्शन का मन्तव्य है कि ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसी वाह्य आधार से ही किया जा सकता है। जो ज्ञान अर्थ से अव्यभिचारी है, वह प्रमाण है और जो व्यभिचारी है वह अप्रमाण है। वाह्य वस्तु ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य की कसौटी है, ज्ञान अपने आप में न प्रमाण है और न अप्रमाण है, वह जव वस्तु से मिलाया जाता है तव प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय होता है जो वस्तु जैसी है, वैसी ही परिज्ञात होना ज्ञान की प्रमाणता है। इससे विपरीत ज्ञान अप्रमाण है। यह नैयायिकों का प्रस्तुत सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवाद है। सांख्यदर्शन का मन्तव्य है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों स्वतः हैं, नैयायिक दर्शन से विल्कुल विपरीत इनका मत है। इन तीनों मान्यताओं से जैन दर्शन की मान्यता पृथक् है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रामाण्य निश्चय स्वतः और परतः दोनों प्रकार से हो सकता है। स्वतः या परतः निश्चय होना परिस्थिति विशेष पर निर्भर है।[३९] स्वतः प्रामाण्यवाद को समझाने के लिए उदाहरण दिये गये हैं। कि व्यक्ति को प्यास लगी है। वह पानी पीता है और प्यास शांत हो जाती है और वह समझ लेता है कि मैंने पानी पिया है। वह पानी था या नहीं, यह जानने के लिए दूसरे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। प्यास वुझ गई है यह जानने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार जलज्ञान और पिपासा-शान्ति के ज्ञान में स्वतः ही प्रमाणता आती है। इसके विपरीत कितनी ही वार ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं जव अपने आप ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो पाता है। इसके लिए उसे अन्य का सहारा लेना पड़ता है। जैसे कमरे में लघुछिद्र है। उससे कुछ प्रकाश वाहर आ रहा है, यह प्रकाश दीपक का है, मणि का है, वेट्री का है या मोमवत्ती का है, इसका निर्णय नहीं हो रहा है। कमरा खोला गया, मोमवत्ती को देखकर निर्णय हो जाता है कि यह प्रकाश मोमवत्ती का है। इसप्रकार मोमवत्ती विषयक ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। यह निश्चय के लिए मोमबत्ती का आधार लेना पड़ा। जैनदर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद दोनों का भिन्न-भिन्न दृष्टि से समर्थन

३९. तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च।—**प्रमाणनयतत्त्वालोक १।१९**

(ख) प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा"।—**प्रमाणमीमांसा-१।१।८**

करता है। अभ्यासावस्था आदि में प्रामाण्य का निर्णय स्वतः होता है और अनाभ्यासदशा में किसी अन्य आधार से होने वाला प्रामाण्य-निश्चय परतः होता है।[४०]

प्रमाण का फल :

प्रमाण के भेद-प्रभेदों पर चिन्तन करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रमाण का क्या फल है?[४१]

प्रमाणमीमांसा में प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अर्थ-प्रकाश बताया है। अर्थ का सम्यक् स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान अनिवार्य है। बिना प्रमाण-अप्रमाण के विवेक के अर्थ के यथार्थ व अयथार्थ स्वरूप का परिज्ञान नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में इसी बात को यों कह सकते हैं—कि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान से निवृत्ति है।[४२] सभी ज्ञानों का यही साक्षात्फल है। पर, परम्परा फल सब ज्ञानों का एक नहीं है। केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है और अवशेष ज्ञानों का फल ग्रहण-बुद्धि और त्यागबुद्धि है। सहस्ररश्मि सूर्य के उदय से अन्धकार का पूर्णरूप से नाश हो जाता है, वैसे ही प्रमाण से अज्ञान नष्ट हो जाता है। यह साधारण फल हुआ। अज्ञान विनष्ट होने से केवल-ज्ञानी को आत्मसुख की उपलब्धि होती है और उसका संसार के पदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव रहता है। कृतकृत्य होने के कारण केवली के लिए न कोई वस्तु उपादेय होती है, न हेय। अन्य व्यक्तियों के लिए अज्ञान-नाश का फल निर्दोषवस्तु के प्रति ग्रहणबुद्धि और सदोषवस्तु के प्रति त्यागबुद्धि उत्पन्न होना है। अर्थात् सत्कार्य में प्रवृत्ति होती है और असत्कार्य से निवृत्ति होती है।

प्रमाण-संख्या :

प्रमाण की संख्या के विषय में भारत के दार्शनिकों में एक मत नहीं रहा है। चार्वाक दर्शन एक मात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिकदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने गये हैं। सांख्यदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने हैं। न्यायदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। प्रभाकर मीमांसकदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण माने हैं। भाट्ट मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने हैं। बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं।

जैनदर्शन में प्रमाणों की संख्या के विषय में तीन मत हैं—

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणों का उल्लेख है।[४३] आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं। उमा-

---

४०. जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता पृ० २५५-२५७

४१. फलमर्थप्रकाशः।—**प्रमाणमीमांसा १।१।३४**

४२. प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्त्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्ष, शेषस्यादानहानधीः। —**न्यायावतार २८**

४३. अनुयोगद्वार।

स्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में, वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक में,[४४] आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में प्रत्यक्ष और परोक्ष-ये दो प्रमाण माने हैं।[४५]

बौद्ध दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो भेद स्वीकार किये हैं।[४६] जैनदर्शन ने अनुमान को परोक्ष का ही एक भेद माना है और परोक्ष के अनुमान, आगम आदि अनेक विभाग माने हैं। आगम आदि का अनुमान में समावेश न होने के कारण बौद्धदर्शन का प्रमाण विभाजन अपूर्ण है। चार्वाकदर्शन केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, परन्तु केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष के आधार पर हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण के अभाव में यह ज्ञान प्रमाण है और यह प्रमाण नहीं है—इस प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकती। कल्पना कीजिए—किसी व्यक्ति की भाषा तथा शारीरिक चेष्टाओं से हम यह जान लेते हैं कि इस समय इसके अन्तर्मानस में इस प्रकार की भावनाएं कार्य करनी चाहिए। इस प्रकार दूसरे की चेष्टाओं से उसके मानस का जो ज्ञान हमें होता है वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि अन्य प्रमाण नहीं है इस प्रकार निषेध भी प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। बिना अनुमान के कार्यकारण भाव आदि की व्यवस्था नहीं हो सकती और न अन्य के अभिप्राय का परिज्ञान ही हो सकता है। न अपने पक्ष की सिद्धि हो सकती है और न परलोक आदि का निषेध ही किया जा सकता है।[४७] इसलिए जैनदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष की मान्यता का विरोध करता है तथा अनुमान आदि सभी प्रमाणों को परोक्ष प्रमाण में स्थान देता है।

जो ज्ञान यथार्थ है उसे ही प्रमाण कहा गया है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि सभी ज्ञानों के लिए यही एक मात्र कसौटी है। जैनदृष्टि से सभी प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष में समा जाते हैं। अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। अनुमान, आगम, उपमान ये सभी परोक्षान्तर्गत हैं। अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है। अभाव प्रत्यक्ष का ही एक अंश है। वस्तु, भाव और अभाव उभयात्मक है। दोनों का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है। जहाँ हम किसी के भावांश का ग्रहण करते हैं वहाँ उसके अभावांश का भी ग्रहण हो जाता है। वस्तु भाव और अभाव इन दो रूपों के अतिरिक्त तीसरे रूप में नहीं मिलती। जिस दृष्टि से एक वस्तु भावरूप है, दूसरी दृष्टि से वह अभावरूप है। भावरूप ग्रहण के साथ अभावरूप का भी ग्रहण हो जाता है अतएव दोनों अंश प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं। अतः अभाव प्रमाण की आवश्यकता नहीं। दूसरे शब्दों में कहें—'इस टेबल पर पुस्तक नहीं है' यह अभाव का दृष्टान्त है। यहाँ पर अभाव प्रमाण पुस्तकाभाव को ग्रहण करना है। यह पुस्तकाभाव क्या है? इस पर हम चिंतन करें तो स्पष्ट होगा कि यह पुस्तकाभाव शुद्ध टेबल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जिस टेबल पर हमने पूर्व पुस्तक देखी थी उसी टेबल को हम शुद्ध टेबल के रूप में देख रहे हैं। यह शुद्ध टेबल ही पुस्तकाभाव है, इसका दर्शन प्रत्यक्ष हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अभाव प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है।

---

४४. तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च।—**प्रमाणनयतत्त्वालोक २।१**

४५. प्रमाणं द्विधा—प्रत्यक्षं परोक्षं च।—**प्रमाणमीमांसा १।१।९-१०**

४६. प्रत्यक्षमनुमानं च।—**न्यायबिन्दु १।३**

४७. व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतर प्रमाणसिद्धिः।—**प्रमाणमीमांसा १।१।११**

प्रत्यक्ष का लक्षण :

जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य या स्पष्टता माना है।[४८] सिद्धसेन दिवाकर ने अपरोक्ष रूप से अर्थ का ग्रहण करना प्रत्यक्ष माना है।[४९] इस लक्षण में परोक्ष का स्वरूप जब तक समझ में नहीं आ जाता, तब तक प्रत्यक्ष का स्वरूप समझा नहीं जा सकता। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में स्पष्टज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[५०] उनके लक्षण में 'साकार' और 'अञ्जसा' पद आये हैं अर्थात् साकार ज्ञान जब अञ्जसा-स्पष्ट परमार्थरूपसे विशद हो तब वह प्रत्यक्ष कहलाता है। जैन दर्शन में वैशेषिक दर्शन की भांति सन्निकर्षको या बौद्धदर्शनकी तरह कल्पनापोढ़त्व को प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं माना गया है।

वैशद्य किसे कहते हैं? जिस प्रतिभासके लिए किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता न हो अथवा 'यह'—इदन्तया-प्रतिभासित होना वैशद्य है।[५१] जिस तरह अनुमानादि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान, व्यक्तिस्मरण आदिकी अपेक्षा रखते हैं वैसे प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता। यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में विशेषता है। अनुमान आगम आदि प्रमाण अपने आप में पूर्ण ज्ञानान्तर निरपेक्ष नहीं है क्योंकि उनका आधार प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष अपने आप में पूर्ण है। उसे किसी अन्य ज्ञानके सहयोगकी आवश्यकता नहीं होती। 'यह' का अर्थ स्पष्ट प्रतिभास है। जिस प्रतिभास में स्पष्टता का अभाव हो, मध्य में व्यवधान हो, एक प्रतीतिके आधारसे द्वितीय प्रतीति तक पहुँचना पड़ता हो, वह प्रतिभास 'यह' एतद्रूप प्रतिभास नहीं है। इस प्रकार व्यवहित प्रतिभास परोक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष में इस प्रकारका व्यवधान नहीं होता।

प्रत्यक्ष के दो प्रकार :

प्रत्यक्षकी दो प्रधान शाखाएँ हैं—(१) आत्मप्रत्यक्ष (२) इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष। पहली शाखा परमार्थाश्रयी है, एतदर्थ यह वास्तविक प्रत्यक्ष है। और दूसरी शाखा व्यवहाराश्रयी है एतदर्थ यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्मप्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं (१) केवल ज्ञान—पूर्ण या सकलप्रत्यक्ष, (२) नो केवल ज्ञान—अपूर्ण या विकलप्रत्यक्ष।

---

४८. विशदः प्रत्यक्षम्। —**प्रमाणमीमांसा १।१।१३**
(ख) स्पष्टं प्रत्यक्षम्। — **प्रमाणनयतत्त्वालोक २।२**
(ग) विशदं प्रत्यक्षमिति। —**परीक्षामुख २।३**

४९. अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥—**न्यायावतारश्लोक, ४**

५०. प्रत्यक्ष लक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।—**न्यायविनिश्चयश्लोक, ३**

५१. प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।—**प्रमाणमीमांसा १।१।१४**
(ख) प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।—**परीक्षा मुख २।४**
(ग) अनुमानाद्यतिरेकेणविशेष प्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धे रवैशद्यमतः परम् ॥—**लघीयस्त्रय ४**

नो केवलज्ञान के अवधि और मनःपर्यव ये दो भेद हैं।

इन्द्रिय-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय और (४) धारणा—ये चार भेद हैं।

इन्द्रिय, मन और प्रमाणान्तर का सहारा लिए विना ही आत्मा को पदार्थ का साक्षात् ज्ञान होता है, वह आत्मप्रत्यक्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष या नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है।

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष है, और आत्मा के लिए परोक्ष होता है, इसलिए उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या संव्यवहार-प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियाँ धूम आदि लिंग का सहारा लिए विना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं इसलिए वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने जो 'अपरोक्षतया अर्थ परिच्छेक ज्ञान'[५२] को प्रत्यक्ष लिखा है, उसमें 'अपरोक्ष' शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि नैयायिक इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पैदा होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उन्होंने 'अपरोक्ष' शब्द से इस लक्षण के प्रति असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होनेवाला ज्ञान साक्षात् आत्मा (प्रमाता) से नहीं होता, एतदर्थ वह प्रत्यक्ष नहीं है। सिद्धसेन की प्रस्तुत निश्चयमूलक दृष्टि का आधार भगवती[५३] और स्थानाङ्ग[५४] की प्रमाण व्यवस्था है।

आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य अकलंक और आचार्यमाणिक्यनन्दी आदि ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष लिखा है।[५५] अपरोक्ष के स्थान पर 'विशद' को 'लक्षण' में स्थान देने का कारण है उनकी प्रमाण परिभाषा में व्यवहारदृष्टि का भी आश्रयण है। जिसका आधार नन्दी की प्रमाण-व्यवस्था है।[५६] इसके अभिमतानुसार प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—मुख्य और संव्यवहार। जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करता है वह मुख्य प्रत्यक्ष है संव्यवहार—प्रत्यक्ष में अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमें अपरोक्षतया अर्थग्रहण लक्षण नहीं बनता, इसलिए दोनों की संगति विठाने के लिए 'विशद' शब्द का प्रयोग करना पड़ा है।

'विशद' शब्द का अर्थ है—प्रमाणान्तर की अनपेक्षा और 'यह' है इस प्रकार प्रतिभासित होना। संव्यवहार—प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक विशेषों का प्रकाशक होता है, इसलिए वह अधिक विशुद्ध है।

यद्यपि 'अपरोक्ष' विशेषण का वेदान्त के और 'विशद' का वौद्ध के प्रत्यक्ष-लक्षण से अधिक सामीप्य है, तथापि उसके विषय-ग्राहक स्वरूप में मौलिक अन्तर है, वेदान्त की दृष्टि से पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्तःकरण (आंतरिक इन्द्रिय) की वृत्ति के माध्यम से होता है।[५७] अन्तःकरण दृश्यमान पदार्थ का आकार

---

५२. न्यायावतार ४

५३. भगवती ४।३

५४. स्थानाङ्ग ५।३

५५. देखिए ४८ का टिप्पण

५६. नन्दीसूत्र २–३

५७. अन्तःकरण की पदार्थाकार अवस्था को वृत्ति कहा जाता है।

धारण करता है । आत्मा अपने विशुद्ध-साक्षी चैतन्य से उसे द्योतित करता है तव प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।[५८]

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान और ज्ञेय के मध्य में कोई अन्य शक्ति नही होती । शुद्ध चैतन्य से अन्तःकरण को प्रकाशित मानें और अन्त.करण की पदार्थाकार परिणित मानें, यह प्रक्रिया भेद है । अन्त में शुद्ध चैतन्य से एक को प्रकाशित मानना ही है तव पदार्थ को ही क्यों न मानें ।

वौद्धदर्शन प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानता है । जैनदर्शन के अनुसार निर्विकल्पवोध (दर्शन) निर्णायक नहीं होता एतदर्थ वह प्रत्यक्ष तो क्या, प्रमाण भी नही वनता ।[५९]

हम वता चुके हैं जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का दो दृष्टियों से निरूपण किया है—पारमार्थिक और व्यावहारिकदृष्टि से ।[६०] अतः पारमार्थिकप्रत्यक्ष के सकलप्रत्यक्ष और विकलप्रत्यक्ष ये दो भेद है तथा व्यावहारिक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । इन सवका तथा इनके प्रभेदों का निरूपण 'ज्ञानवाद' निवन्ध में स्वतंत्र रूप से किया है ।

परोक्ष :

जो ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अविशद या अस्पष्ट है वह परोक्ष प्रमाण है ।[६१] परोक्ष प्रत्यक्ष से ठीक विपरीत है । जिसमें वैशद्य या स्पष्टता का अभाव है वह परोक्ष है । परोक्ष प्रमाण पांच प्रकार का है—स्मरण-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ।[६२] सभी जैन तार्किकों ने परोक्ष प्रमाण के उक्त पांच भेद किये है । परन्तु अकलंकदेवकृत— न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराजसूरि ने अपने 'प्रमाण निर्णय'[६३] नामक निवंध में परोक्ष के अनुमान और आगम ये दो भेद किये है । अनुमान के दो भेद किये है—गौण और मुख्य । गौण अनुमान के तीन प्रकार है—स्मरण, प्रत्यभिज्ञा और तर्क । स्मरण प्रत्यभिज्ञा में कारण है, प्रत्यभिज्ञा तर्क में कारण है और तर्क अनुमान में कारण है । इस प्रकार ये तीनों परम्परा से अनुमान प्रमाण के कारण हैं, एतदर्थ इन्हें गौण प्रमाण मानकर वादिराजसूरि ने अनुमान में सम्मिलित कर लिया है । इसका कारण यही है कि अकलंक ने न्यायविनिश्चय में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेद करके शेप तीन परोक्ष प्रमाणों को अनुमान में गर्भित किया है ।

चार्वाक मत का खण्डन :

चार्वाक प्रत्यक्ष और उसमें भी केवल इन्द्रियजप्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न किसी अन्य प्रमाण की सत्ता नही मानता । प्रमाण का लक्षण अविसंवाद करके उसने यह वताया है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष के अति-

---

५८. वेदान्त मे ज्ञान के दो प्रकार है—साक्षिःज्ञान और वृत्तिज्ञान । अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान साक्षिज्ञान है और साक्षि-चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति 'वृत्तिज्ञान' कहलाता है ।
५९. जैनदर्शन के मौलिक तत्व—भाग १. पृ० २६४-२६५ ।
६०. तद् द्विप्रकारं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च ।—**प्रमाणनयतत्त्वालोक** २।४
६१. अविशदः परोक्षम् । — **प्रमाणमीमांसा १।२।१**
६२. (ख) अस्पष्टं परोक्षम् । —**प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।१**
६२. स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पंचप्रकारम् —**प्रमाणनयतत्त्वालोक** ३।२
६३. **प्रमाणनिर्णय पृ० ३३१**

रिक्त अन्य ज्ञान सर्वथा अविसंवादी नहीं होते। अनुमान आदि प्रमाण प्रायः संभावना पर चलते हैं, कारण कि देश, काल और आकार के भेद से प्रत्येक पदार्थ की अनन्तशक्तियां और अभिव्यक्तियां होती हैं। उनमें अविनाभाव व अव्यभिचार का ढूँढ़ना अत्यन्त कठिन है। जो आंवले कषाय रसवाले हैं वे देशांतर, कालान्तर और द्रव्यान्तर का सम्बन्ध होने से मधुर रसवाले भी हो सकते हैं, इसलिए अनुमान का शत-प्रतिशत अविसंवादी होना असंभव है। स्मरण आदि प्रमाणों के सम्बन्ध में भी यही बात है।

किन्तु यह चार्वाक मत संगत नही है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, अनुमान प्रमाण को माने विना प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेक ही नहीं किया जा सकता। अविसंवाद के आधार से कुछ ज्ञानों में प्रमाणता की व्यवस्था करना और कुछ ज्ञानों को अविसंवाद के अभाव में अप्रमाण कहना भी तो अनुमान ही है। इसके सिवाय दूसरे व्यक्ति की बुद्धि का ज्ञान अनुमान के विना नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष असंभव है। वचन प्रयोग, तथा कार्यो को देखकर ही उसका अनुमान किया जाता है। जिन कार्यकारण भावों या अविनाभावों का निर्णय हम न कर सकें या जिनमें व्यभिचार देखा जाए उनसे पैदा होनेवाला अनुमान भले ही भ्रान्त हो जाय किन्तु अव्यभिचारी कार्य-कारणभाव आदि के आधार से उत्पन्न होनेवाला अनुमान अपनी सीमा में विसंवादी नहीं हो सकता। चार्वाक् को परलोक आदि के निषेध के लिए भी अनुमाण का ही आश्रय लेना पड़ता है। यदि सीमित क्षेत्र में पदार्थों के सुनिश्चित कार्य-कारणभाव न बिठाये जा सके तो संसार का सम्पूर्ण व्यवहार ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। यह उचित है कि जो अनुमान आदि विसंवादी सिद्ध हों, उन्हें अनुमानाभास कहा जाए किन्तु इससे निर्दिष्ट अविनाभाव के आधार से उत्पन्न होनेवाला अनुमान कभी गलत नहीं हो सकता। प्रमाता जितना अधिक कुशल होगा उतना ही वह सूक्ष्म और स्थूल कार्य-कारणभाव को जानता है। व्यवहार के लिए हमें आप्तवाक्य की प्रमाणता माननी ही पड़ती है अन्यथा संपूर्ण सांसारिक व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जायेगे। मानव के ज्ञान की कोई सीमा नही है इसलिए अपनी मर्यादा में परोक्ष ज्ञान भी अविसंवादी होने से प्रमाण ही है।[६५]

स्मरण-स्मृति :

वासना का उद्‌बोध होने पर उत्पन्न होनेवाला 'वह' इस आकारवाला ज्ञान स्मृति है।[६६] अतीत के अनुभव का स्मरण स्मृति है। किसी ज्ञान या अनुभव के संस्कार के जागरण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है। वासना की जागृति के समानता, विरोध आदि अनेक कारण हैं, जिनसे वासना उद्‌बुद्ध होती है, क्योंकि स्मृति अतीत के अनुभव का स्मरण है इसलिए 'वह' इस तरह का ज्ञान स्मृति की विशेषता है।

जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राच्यदर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानता है। जो दर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानते हैं उनका मन्तव्य है कि स्मृति प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति

---

६४. प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥ —धर्मकीर्ति—प्रमाणमीमांसा पृष्ठ ८

६५. जैनदर्शन- डा० महेन्द्रकुमार जैन पृ० २९४-२९५

६६. वासनोद्‌वोधहेतुका तादित्यकारा स्मृतिः । —प्रमाणमीमांसा १।२।३
(ख) संस्कारोद्‌वोधनिवन्धना तदित्याकारा स्मृतिः । —परीक्षामुख ३।३

का विषय अतीत का अर्थ है जो नष्ट हो चुका है। उसका ज्ञान वर्तमान में कैसे प्रमाण कहा जा सकता है? जिस ज्ञान का कोई विषय नहीं, जिसका वर्तमान में कोई आधार नहीं, वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? बिना विषय के ज्ञानोत्पत्ति किस प्रकार संभव है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जाता है कि ज्ञान के प्रामाण्य का आधार वस्तु की वर्तमानता नहीं, किन्तु उसकी यथार्थता है। यदि ज्ञान पदार्थ की वास्तविकता को ग्रहण करता है तो प्रमाण है। तीनों कालों में रहनेवाला पदार्थ ज्ञान का विषय बन सकता है। यदि वर्तमान कालीन पदार्थ को ही ज्ञान का विषय मानते हैं तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि वह भी त्रैकालिक वस्तु को ग्रहण करता है। केवल वर्तमान के आधार से ही अनुमान नहीं होता। अतीत के अर्थ को ग्रहण करनेवाली स्मृति यदि यथार्थ है तो प्रमाण है। ज्ञान इसलिए प्रमाण है कि वह यथार्थता को ग्रहण करता है। वर्तमान, अतीत और अनागत तीनों कालों में यथार्थता रह सकती है इसलिए वह प्रमाण है।

विरोधी दार्शनिकों का तर्क है कि जो वस्तु नष्ट हो चुकी है वह वस्तु ज्ञानोत्पत्ति का कारण किस प्रकार हो सकती है? उत्तर में जैनदर्शन का कथन है कि वह पदार्थको ज्ञानोत्पत्ति का कारण नहीं मानता। ज्ञान अपने कारणोंसे पैदा होता है और पदार्थ अपने कारणोंसे पैदा होता है। ज्ञान में इस प्रकारकी शक्ति है कि वह पदार्थ से न उत्पन्न होकर भी पदार्थ को अपना विषय बना सकता है। पदाथ का भी इसप्रकार का स्वभाव है कि वह ज्ञान का विषय बन सकता है। पदार्थ और ज्ञान में कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं है। उनमें ज्ञेय और ज्ञाता, प्रकाश्य और प्रकाशक, व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक का संबंध है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर स्मृति को प्रमाण मानना तर्क-संगत है। स्मृति को प्रमाण न मानने से अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि लिंग और लिंगी का सम्बन्धग्रहण भी केवल प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अनेक बार अवलोकन के पश्चात् निश्चित होने वाला लिंग और लिंगी का संबंध स्मृति के अभाव में किस प्रकार स्थापित हो सकता है? लिंग को देखकर साध्य का ज्ञान भी बिना स्मृति के नहीं हो सकता। संबंध स्मरण के बिना अनुमान बिल्कुल ही असंभव है।

प्रत्यभिज्ञान :

प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड़ रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।[६७] जैसे 'यह वही देवदत्त है' 'गवय गौ के समान होता है' 'भैंस गाय से विलक्षण होती है' 'यह उससे दूर है' इत्यादि। जितने भी जोड़रूप (संकलनात्मक) ज्ञान होते हैं वे सब प्रत्यभिज्ञान हैं। इन उदाहरणों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामने देवदत्त को देखकर पूर्व देखे हुए देवदत्त का स्मरण आने से वह ज्ञान होता है कि यह वही देवदत्त है। इस ज्ञान के होने में प्रत्यक्ष और स्मरण कारण होते हैं। यह ज्ञान पूर्व देखे हुए देवदत्त में और वर्तमान में सामने उपस्थित देवदत्त में रहनेवाले एकत्व को विषय करता है इसलिए इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। किसी मानव ने गवय नामक पशु देखा। देखते ही उसे पूर्व

---

६७. (क) दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं। तदेदेवं, तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।

—परीक्षामुख ३।५

(ख) दर्शनस्मरणसंभवं तदेदेवं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्।

—प्रमाणमीमांसा १।२।४

देखी हुई गौ का स्मरण हुआ। उसके बाद 'गौ के समान यह गवय है' इस प्रकार ज्ञान हुआ। यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंस को देखकर गौ का स्मरण आने पर भैंस गौ से विलक्षण होती है, इस प्रकार होने वाला यह ज्ञान वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष और स्मरण के विषयभूत पदार्थों में परस्पर की अपेक्षा को लिए हुए जितने भी जोड़रूप ज्ञान होते हैं, जैसे यह उससे दूर है, यह उससे पास है, या इससे ऊँचा है, यह इससे नीचा है, ये सब ज्ञान प्रत्यभिज्ञान—संकलनात्मक होने से प्रत्यभिज्ञान के अन्तर्गत हैं।

बौद्धदर्शन प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानता है, अतः क्षणिकवादी होने के कारण वह प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानता। उसका मन्तव्य है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में रहनेवाला जब कोई एकत्व अर्थात् स्थिर पदार्थ ही नहीं है तब उसको विषय करनेवाला ज्ञान प्रमाण किस प्रकार हो सकता है? अतीतकाल की अनुभूत वस्तु तो उसी क्षण नष्ट हो गयी अब वर्तमान में जो वस्तु है, वह उसके सदृश अन्य ही वस्तु है, अतः प्रत्यभिज्ञान उस अतीतकाल की वस्तु को वर्तमान में नहीं देखता, अपितु उसके सदृश अन्य वस्तु को जान रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो वह प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दो ज्ञानों का समुच्चय है। 'यह' इस अंश को विषय करनेवाला ज्ञान स्मरण है। इस प्रकार वह एक ज्ञान नहीं, किन्तु दो ज्ञान हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को एक ज्ञान मानने को प्रस्तुत नहीं है। इसके विपरीत नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानते हैं, किन्तु वे उस ज्ञान को स्वतन्त्र एवं परोक्ष प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जैनदर्शन का मन्तव्य है कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धों के समान अप्रमाण है और न नैयायिक-वैशेषिक दर्शन की तरह प्रत्यक्ष ही है किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मृति के अनन्तर उत्पन्न होनेवाला तथा अपनी पूर्व तथा उत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व एवं सादृश्य आदि को विषय करनेवाला स्वतंत्र परोक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। स्मरण अतीत पर्याय को ग्रहण करता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान ऐसा प्रमाण है जो उभयपर्यायवर्ती एकत्वादि को विषय करनेवाला संकलनात्मक ज्ञान है। यदि पूर्व और उत्तर पर्यायवाची एकत्व का अपलाप करेंगे तो कहीं भी एकत्व का प्रत्यय न होने से एक सन्तान की सिद्धि नहीं हो सकेगी। स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्वादि वास्तविक होने से वह प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं। जैनदर्शन ने उसे परोक्ष प्रमाण माना है।

तर्क :

उपलम्भानुपलम्भानिमित्तक व्याप्ति ज्ञान तर्क है। इसे 'ऊह' भी कहते हैं।[६८] जिसे जैन सिद्धान्त में चिन्ता कहा है उसे ही दार्शनिक क्षेत्र में तर्क कहा है। अमुक वस्तु के होने पर ही अमुक दूसरी वस्तु का होना या पाया जाना उपलंभ कहलाता है और एक के अभाव में किसी दूसरी वस्तु का न पाया जाना अनुपलंभ कहलाता है। जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना और अग्नि के अभाव में धूम का न होना।

साध्य तथा साधन के अविनाभाव को व्याप्ति कहते हैं। उपलम्भ और अनुपलम्भ रूप जो व्याप्ति है, उससे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान तर्क है।

---

६८. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानसमूहः। —प्रमाणमीमांसा १।२

प्राय: सभी दार्शनिकों ने तर्क को प्रमाण स्वीकार किया है। तर्क के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में न्यायदर्शन का मन्तव्य है कि तर्क न तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर, क्योंकि वह अपरिच्छेदक है किन्तु परिच्छेदक प्रमाणों के विषय का विभाजक होने से वह उनका अनुग्राहक है अर्थात् सहकारी है। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो प्रमाण से जाना हुआ पदार्थ तर्क के द्वारा परिपुष्ट होता है। प्रमाण पदार्थों को जानते है पर तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणता को स्थिर करने में सहायता देता है। इसीकारण न्यायदर्शन में तर्क को सभी प्रमाणों के सहायक रूप में माना है, परन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्य उदयनने और उपाध्याय वर्द्धमान आदि ने विशेपरूप से अनुमान प्रमाण में ही व्यभिचार-शंकानिवर्तकरूप से तर्क को माना है। व्याप्ति ज्ञान में भी तर्क को उपयोगी स्वीकार किया है। इस प्रकार न्यायदर्शन में तर्क की मान्यताएँ अनेक प्रकार से प्राप्त होती है, किन्तु न्यायदर्शन उसे स्वतन्त्र प्रमाण रूप से स्वीकार नहीं करता है। बौद्ध दर्शन में तर्क को व्याप्तिग्राहक मानकर भी उसे प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प कहकर अप्रमाण ही माना है। मीमांसक दर्शन ने तर्क को प्रमाण कोटि में माना है, परन्तु जैन दार्शनिक प्रारम्भ से ही तर्क को परोक्ष प्रमाण मानते रहे हैं। उन्होंने तर्क को सकल देश-काल व्यापी अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्राहक माना है। व्याप्तिग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करता है, जवकि व्याप्ति सकल देशकाल के उपसंहार पूर्वक होती है।

अनुमान भी तर्क के स्थान को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि अनुमान का आधार ही तर्क है। जव तक तर्क से व्याप्ति ज्ञान न हो जाय तब तक अनुमान की प्रवृत्ति ही असम्भव है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो तर्क ज्ञान के अभाव में अनुमान की कल्पना ही नहीं हो सकती। अनुमान स्वयं तर्क पर प्रतिष्ठित है। इसलिए तर्क का स्थान अनुमान नहीं ले सकता। जो ज्ञान जिससे पहले उत्पन्न होता है और उसका आधार भी वही है वह ज्ञान तद्रूप नहीं हो सकता। यदि इसप्रकार होगा तो पूर्व और पश्चात् का, आधार और आधेय का सम्बन्ध ही नष्ट हो जायेगा। इसलिए तर्क अनुमान से भिन्न है, व स्वतन्त्र है।

अनुमान :

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं।[६९] साधन को लिंग और साध्य को लिंगी भी कहते है अत: इस प्रकार भी कह सकते हैं कि लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[७०] लिंग का अर्थ चिह्न है और लिंगी का अर्थ उस चिह्नवाला है। जैसे धूम से अग्नि को जान लेना अनुमान है। यहाँ धूम साधन अर्थात् लिंग है, अग्नि साध्य अर्थात् लिंगी है। अग्नि का चिह्न धूम है। किसी स्थल पर धुंआ उठता हुआ दिखलाई देता है तो ग्रामीण लोग धुंए को देखकर सहज ही यह अनुमान

---

६९. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्। —**प्रमाणमीमांसा १।२।७**

(ख) साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्। —**परीक्षामुख ३।१४**

७०. लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिवोधैकलक्षणात्। लिङ्गिधीरनुमानं। —**लघीयस्त्रय ३।१२**

कर लेते हैं कि वहाँ पर आग जल रही है। विना अग्नि के धुआँ नहीं उठ सकता। इसलिए ऐसे किसी अविनाभावी चिह्न को निहार कर उस चिह्नवाले को जान लेना अनुमान है।

साधन या लिंग इस प्रकार का होना चाहिए जो साध्य या लिंगी का अविनाभावी रूप से सुनिश्चित हो अर्थात् जो साध्य के होने पर ही हो और साध्य के न होने पर न हो। ऐसा साधन ही साध्य की सम्यक् प्रतीति कराता है। अकलंकदेव ने साधन या लिंग को **'साध्याविनाभावाभिनिर्बोधैकलक्षण'** कहा है अर्थात् साध्य के साथ सुनिश्चित अविनाभाव ही साधन का प्रधान लक्षण है। संक्षेप में इसे अन्यथानुपपत्ति भी कह सकते हैं।[७१] अन्यथा अर्थात् साध्य के अभाव में साधन की अनुपपत्ति अर्थात् न होना। जो साध्य के अभाव में नहीं रहता हो और साध्य के सद्भाव में ही रहता हो, वही सच्चा साधन है। साधन को हेतु भी कहते हैं।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेप सभी पौर्वात्य दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है। चार्वाक दार्शनिक अनुमान को इसलिए प्रमाण नहीं मानते हैं क्योंकि वे किसी अतीन्द्रिय पदार्थ में विश्वास नहीं करते। जिन दर्शनों ने अनुमान को प्रमाण माना है उन्होंने अनुमान के दो भेद किये हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान :

साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाले सुनिश्चित साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान है।[७२]

सहभावी और क्रमभावी कार्यों का क्रमभाव और सहभाव-विपयक जो नियम हैं वह भी अविनाभाव है। कितने ही कार्य सहभावी होते हैं और कितने ही क्रमभावी होते हैं। रूप और रस सहभावी हैं। रूप को निहार कर रस का अनुमान करना या रस-दर्शन से रूप का अनुमान करना सहभावी अविनाभाव है। एक के होने के पश्चात् दूसरे का होना क्रमभाव है। कृतिका नक्षत्र का उदय होने के वाद शकट का उदय होना क्रमभावी अविनाभाव है। कारण और कार्य का सम्बन्ध भी क्रमभाव के अन्तर्गत है। आग से धुंए की उत्पत्ति क्रमभावी अविनाभाव है। इसतरह जिन पदार्थों में जिस प्रकार का अविनाभाव हो उसे तर्क प्रमाण द्वारा ज्ञात कर और साध्य के साथ अविनाभावी साधन को देखकर स्वयं साध्य का अनुमान करना स्वार्थानुमान है। स्वार्थानुमान में एक व्यक्ति दूसरे—दूसरे पर अवलम्बित नहीं रहता। साधन को देखकर साध्य का अनुमान व्यक्ति अपने आप कर लेता है, अपने लिए किये गये अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं।

साधन :

प्रमाणमीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थसमवायी और विरोधी-ये पांच साधन माने हैं।[७३]

स्वभाव साधन वह है जहाँ वस्तु का स्वभाव ही साधन वनता हो। जैसे उष्ण स्वभाव होने

७१. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते। —**प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२**

७२. स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्।—**प्रमाणमीमांसा** १।२।९

७३. स्वभावः कारणं कार्यमेकार्यसमवायि विरोधि चेति पंचधा साधनम्।—**प्रमाणमीमांसा** १।२।१२

से अग्नि जलाती है। शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य है। ये स्वभावसाधन या स्वभाव हेतु के दृष्टांत हुए।

आकाश में काली कजरारी घटाएं जब उमड़-घुमड़ कर आती हैं जिसे देखकर वर्षा का अनुमान करना कारण से कार्य का अनुमान है। उसी कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है जिसके होने पर कार्य अवश्य होता है। इसमें बाधक कारणों का अभाव और समग्र साधक कारणों की सत्ता ये दोनों आवश्यक हैं।

किसी कार्य विशेष का अवलोकन कर उसके कारण का अनुमान करना कार्य-साधन है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। बिना कारण के कार्योत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। कारण और कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो सकता है, जैसे धुएं को देखकर अग्नि का अनुमान करना, नदी में जोर से पानी को आते हुए देखकर कहीं पर तेज वर्षा हुई है, ऐसा जानना कार्य से कारण का अनुमान है।

एक अर्थ में दो या उससे अधिक कार्यों का एक साथ रहना एकार्थ-समवाय है। जैसे एक फल में रूप और रस साथ-साथ रहते हैं। रूप को देखकर रस का अनुमान करना या रस को देखकर रूप का अनुमान करना—यह एकार्थसमवाय है। रूप और रस में न तो कार्य—कारण भाव है और न रूप व रस का एक स्वभाव है। इन दोनों की एक स्थान पर अवस्थिति ही एकार्थसमवाय के कारण हैं।

किसी विरोधी भाव से उसके अभाव का अनुमान करना विरोधी साधन से होनेवाला अनुमान है। अग्नि व ठंड में परस्पर विरोध है, इसलिए एक के होने पर दूसरी नहीं हो सकती, अग्नि की ज्वालाएं धधक रही हों, वहाँ पर ठंड नहीं हो सकती। यहाँ पर ठंड नहीं है, क्योंकि अग्नि जल रही है। अग्नि की नन्ही-सी चिनगारी से ठंडक का अभाव नहीं हो सकता, अतः अनुमान सम्यक् होना चाहिए।

परार्थानुमान :

साधन और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध के कथन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परार्थानुमान है।[७४] स्वार्थानुमान स्वतः उत्पन्न होता है पर परार्थानुमान उससे विपरीत है। एक व्यक्ति ने स्वयं साधन और साध्य के अविनाभाव को ग्रहण किया है और द्वितीय व्यक्ति ऐसा है जिसे इस सम्बन्ध का किञ्चित् मात्र भी ज्ञान नहीं है। प्रथम व्यक्ति अपने ज्ञान का प्रयोग दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए करता है। उसके कथन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान है। जो व्यक्ति साधन और साध्य के सम्बन्ध से परिचित है उसके लिए यह अनुमान नहीं है। किन्तु जिसे इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है उसके लिए है।

परार्थानुमान स्वयं ज्ञानात्मक है, परन्तु उसे प्रकट करनेवाले वचन को भी उपचार से परार्थानुमान कहा गया है।[७५] ज्ञानात्मक परार्थानुमान की उत्पत्ति वचनात्मक परार्थानुमान पर अवलम्बित है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार—आरोप करके वचन को भी परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान

७४. यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्।—**प्रमाणमीमांसा २।१।१**
७५. पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।—**प्रमाणनयतत्वालोक ३।२३**

के लिए हेतु का वचनात्मक प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम प्रकार—साध्य के होने पर साधन का होना। दूसरा प्रकार है—साध्य के अभाव में साधन का अभाव होना। जिस अर्थ का प्रतिपादन प्रथम प्रकार में होता है उसी अर्थ का प्रतिपादन द्वितीय प्रकार में भी होता है। अन्तर केवल वाक्य रचना का है। जैसे—पर्वत में अग्नि है, क्योंकि अग्नि के होने पर ही धुआं हो सकता है। अग्नि रूप साध्य की सत्ता होने पर ही धुआं रूप साधन की उत्पत्ति हो सकती है। यह प्रथम प्रकार है। द्वितीय प्रकार—पर्वत में अग्नि है क्योंकि अग्नि के अभाव में धुआं नहीं हो सकता। अग्नि रूप साध्य के अभाव में धुआं रूप साधन के अभाव का प्रतिपादन करने वाला, द्वितीय प्रकार है।

परार्थानुमान के अवयव :

परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में दार्शनिकों में एक मत नहीं है। सांख्यदर्शन परार्थानुमान के तीन अवयव मानता है—पक्ष, हेतु और उदाहरण। मीमांसक दर्शन ने चार अवयव माने हैं—(१) पक्ष (२) हेतु (३) उदाहरण (४) और उपनय। न्यायदर्शन पांच अवयव आवश्यक मानता है—(१) पक्ष (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय (५) निगमन। जैनदर्शन कितने अवयव मानता है, इसकी संक्षिप्त चर्चा हम पूर्व कर चुके हैं। ज्ञानी को समझाने के लिए पक्ष और हेतु ये दो अवयव ही पर्याप्त हैं। मन्दबुद्धि वाले को समझाने के लिए दस अवयवों तक का निर्देश किया गया है। साधारण रूप से पांच अवयवों का प्रयोग होता है वह इस प्रकार है—

प्रतिज्ञा— साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है।[७६] हम जिस बात को सिद्ध करना चाहते हैं उसका प्रथम निर्देश प्रतिज्ञा है। इससे साध्य का परिज्ञान होता है। प्रतिज्ञा को पक्ष भी कहते हैं। जैसे—'इस पर्वत में अग्नि है।"

हेतु—साधनत्व को अभिव्यक्त करनेवाला वचन हेतु कहलाता है।[७७] जैसे—'क्योंकि इसमें धूम है।' इस हेतु का कथन हुआ। इसको अधिक स्पष्ट इसप्रकार किया जा सकता है—क्योंकि अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है, या अग्नि के अभाव में धूम नहीं हो सकता। साधन और साध्य के सम्बन्ध को दिखाते हुए इसका प्रयोग किसी भी प्रकार कर सकते हैं।

उदहारण—हेतु को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग करना उदाहरण है।[७८] उदाहरण साधर्म्य और वैधर्म्यरूप दो प्रकार का है। सादृश्य बताने के लिए उदाहरण का प्रयोग करना, जहां जहां धूम होता है वहां वहां पर अग्नि होती है जैसे पाकशाला, यह साधर्म्यदृष्टान्त है। विसदृशता को प्रकट करनेवाले दृष्टान्त का प्रयोग करना, जहाँ पर अग्नि नहीं होती वहां पर धूम भी नहीं होता जैसे तालाब, यह वैधर्म्यदृष्टान्त है। प्रायः दोनों में से किसी एक का प्रयोग करना ही पर्याप्त होता है।

उपनय—हेतु का धर्मी पक्ष में उपसंहार करना (दोहराना) उपनय है।[७९] जहां पर साध्य रहता है उसे धर्मी कहते है। 'इस पर्वत में अग्नि है' यहां पर अग्नि साध्य है और पर्वतधर्मी है, क्योंकि अग्निरूप

---

७६. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।—**प्रमाणमीमांसा २।१।११**

७७. साधनत्वाभिव्यंजकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः।—**प्रमाणमीमांसा २।१।१२**

७८. दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। —**प्रमाणमीमांसा २।१।१३**

७९. हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः। यथा धूमश्चात्र प्रदेशे। —**प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।४९-५०**

साध्य पर्वत में रहता है। हेतु का धर्मी में उपसंहार करना जैसे 'इस पर्वत में भी धूम है' इस प्रकार के वचन का प्रयोग करना उपनय है।

निगमन—साध्य का पुनर्कथन (दोहराना) निगमन है।[८०] प्रतिज्ञा के समय जिस साध्य का निर्देश किया जाता है उसको उपसंहार के रूप में फिर से दोहराना निगमन है। यह अन्तिम निर्णयरूप कथन होता है। जैसे—'इसीलिए यहां पर अग्नि है।' यह कथन निगमन है।

पांच अवयवों को लक्ष्य में रखते हुए परार्थानुमान का पूर्णरूप इस प्रकार से है—

'इस पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा), क्योंकि इसमें धूम होता है, जहां-जहां धूम होता है, वहां वहां अग्नि होती है, जैसे रसोईघर (साधर्म्य दृष्टान्त) जहां पर अग्नि नहीं होती वहां पर धूम भी नहीं होता जैसे जलाशय (वैधर्म्य दृष्टान्त) इस पर्वत में धूम है (उपनय), एतदर्थ यहां पर अग्नि है (निगमन)।

आगम :

आप्तपुरुष के वचन से आविर्भूत होनेवाला अर्थ संवेदन आगम है।[८१] आप्तपुरुष वह है जो तत्त्व को यथावस्थित जानने के साथ ही उसका यथावस्थित निरूपण करता हो। जो पुरुष राग-द्वेष से रहित है वह आप्त है, क्योंकि वह कभी भी विसंवादी व मिथ्यावादी नहीं हो सकता। ऐसे पुरुष के वचनों से होनेवाला ज्ञान आगम है। उपचार से आप्तपुरुष का वचन भी आगम है। परार्थानुमान में आप्तत्व आवश्यक नहीं है किन्तु आगम के लिए आप्तपुरुष का होना जरूरी है। आप्तपुरुष के वचन तीनों काल में प्रामाणिक होते हैं। उसकी प्रामाणिकता के लिए अन्य हेतु की आवश्यकता नहीं। तीर्थंकर आदि लोकोत्तर आप्त कहलाते हैं। सत्यप्रवक्ता साधारण व्यक्ति लौकिक आप्त होते हैं।

संक्षेप में प्रमाण के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। यहां पर प्रमाण के भेदों व प्रभेदों के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विवेचन करना इष्ट नहीं था, केवल इतना ही बताना इष्ट था कि जैनदर्शन में प्रमाण की क्या स्थिति रही है और उसका स्वरूप क्या रहा है और उसके मुख्य भेद कितने हैं। आगम-साहित्य में वह बीज रूप में है। फिर दार्शनिक आचार्यों ने उस बीज का अत्यधिक विस्तार किया है क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अधिगम प्रमाण और नय से ही होता है। वस्तु चाहे जड़ हो या चेतन, उसके वास्तविक स्वरूप का परिबोध प्रमाण और नय के अभाव में नहीं हो सकता। इसलिए प्रमाण और नय वस्तुविज्ञान के लिए अनिवार्य साधन हैं।
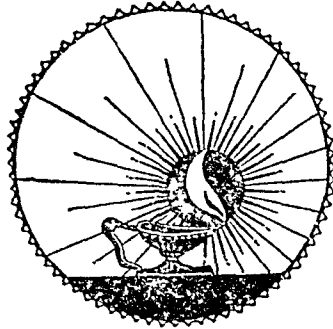
८०. साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम्। यथा तस्मादग्निरत्र। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।५१-५२

८१. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।—प्रमाणनयतत्त्वालोक ४।२

भारतीय संस्कृति की दो गतिशील धाराएँ

वैदिक और श्रमण-संस्कृति

● बाब गुलाबराय

प्रसिद्धसाहित्यकार एवं चिंतक स्व० बाबू गुलाबराय जी का यह शोध लेख हमें डा० जे० पी० खण्डेलवाल के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

एक दूसरे की पूरक
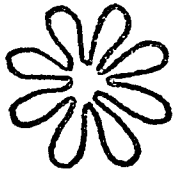
वैदिक एवं श्रमण संस्कृति दोनों ही प्रागैतिहासिक काल से ही विकसित होती हुई चली आ रही हैं। ऋग्वेद[1]. अथर्ववेद[2], गोपथब्राह्मण[3] और भागवत[4] आदि वैदिक-धर्म के साहित्य में श्रमणसंस्कृति के आदि पुरुप भगवान ऋपभदेव की चर्चाएं सर्वत्र बिखरी हुई मिलती हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे वेदकालीन थे। इससे यह भी सुस्पष्ट है कि श्रमणसंस्कृति का प्रवर्तक जैन-धर्म प्रागैतिहासिक धर्म रहा है। यह बौद्ध-धर्म की अपेक्षा बहुत प्राचीन है। 'भागवत' में वर्णित जैन-धर्म सम्बन्धी विवरणों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन-धर्म का आविर्भाव वैदिकधर्म के पार्श्व या उसके कुछ बाद में हुआ और तभी से दोनों धाराएं समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही हैं। विद्वानों का मत है कि अनादिकाल से ही भारतीय विचारधारा दो रूपों में विभक्त मिलतीं है।

१. परम्परामूलक - ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी वैदिक धारा।

२. पुरुपार्थमूलक प्रगतिशील श्रामण्य या श्रमण प्रधान धारा।

---

१. ऋग्वेद १०।१६।१

२. अथर्ववेद ११।५।२४-२६

३. गोपथ ब्राह्मण, पूर्व २।८;

४. भागवत ५।२८
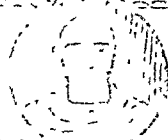
वस्तुतः ये दोनों विचारधारा एक दूसरे की पूरक रहीं हैं किन्तु दुर्भाग्यवश इनमें भेद उत्पन्न करनेवालोंकी कमी नहीं रही और ये दोनों धाराएं, जो वैदिकयुग में एक दूसरे की पूरक थीं, वैदिकोत्तर काल में धीरे-धीरे परस्पर विरुद्धगामी होती गईं और कालान्तर में पृथक हो गईं। इन दोनों की विचारधारा में पूर्ण समन्वय है। वेदों के नाम पर उस समय यज्ञों में जो बलि देने की प्रथा का अतिरेक हो गया, उससे महावीरस्वामी का हृदय द्रवित होना स्वाभाविक था। अहिंसाप्रधान जैन-धर्म को आधुनिक रूप देने का श्रेय भगवान पार्श्वनाथ एवं भगवान महावीर को है।

वैदिक और श्रमण—इन दो प्रकार की विचारधाराओं को—समानान्तर प्राचीन धाराओं को—हम क्रमशः ऋषिसम्प्रदाय और मुनिसम्प्रदाय भी कह सकते हैं। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्र द्रष्टा है—

ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः[1]

मुनि शब्द का अर्थ गीता के इस श्लोक में दर्शाया गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥[2]

इस प्रकार 'मुनि' शब्द के साथ ज्ञान, तप, योग, वैराग्य जैसी भावनाओं का गहरा सम्बन्ध है। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। श्रमणसंस्कृति में ही यह शब्द अधिकांशतः प्रयुक्त है। पुराणों में, जो वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, ऋषि और मुनि दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ मिले-जुले अर्थ में होने लगा था। दोनो संस्कृतियों में ऐतिहासिक-विकास क्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिक संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता, हिंसामूलक मांसाहार और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी तो श्रमणसंस्कृति या मुनिसंस्कृति में अहिंसा, निरामिषता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी—

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कन्द-मूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥[3]

वैदिकसंस्कृति की असहिष्णुता ने वेदों को सुननेवाले शूद्रों के कानों में रांगा घोलकर डालने का विधान[4] किया तो अनेकान्तवादी सहिष्णु श्रमणसंस्कृति ने जैन, बौद्ध और सन्त सम्प्रदायों को जन्म दिया जिनमें 'जांति पांति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।'

वैदिक धर्म के समानान्तर ही श्रमण धर्म भी जनजीवन में व्याप्त था। श्रमण धर्म की तीन प्रमुख विशेषताएं ये हैं—(१) श्रम, (२) संयम और (३) त्याग।

डॉ० राधाकुमुदमुखर्जी श्रमणधर्म को वैदिक चिन्तनधारा का ही अंग मानते हैं। इस श्रमण धर्म या सन्यास धर्म का बीज ऋग्वेद (११।१०९।४) में भी मिलता है जहां ऋषि तप के द्वारा

१. निरुक्त २।११
२. २।५६
३. वाल्मीकि रामायण २।२०।२९
४. गौतमधर्मसूत्र २।३।४

सत्य का साक्षात् अनुभव करने की क्षमता रखता है। यहां तो तप से विश्व की उत्पत्ति तक बतलाई गई है। (१०।१९०)[1]—

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में अर्हत्धर्म एवं श्रमण संस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। मेगस्थनीज ने अपनी भारतयात्रा के समय दो प्रकार के दार्शनिकों—ब्राह्मण और श्रमण—का उल्लेख किया है। उस युग में श्रमणों का बहुत आदर किया जाता था। मेगस्थनीज ने श्रमणों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है उसमें कहा गया है कि वे वन में रहते थे, सभीप्रकार के व्यसनों से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भांति उनकी स्तुति एवं पूजा करते थे।[2] रामायण में उल्लिखित श्रमणों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। 'गोविन्द राजीय रामायणभूपण' में श्रमणों को दिगम्बर कहा गया है।[3] ब्राह्मण साहित्य में भी श्रमणों का उल्लेख मिलता है।[4] इसप्रकार जैनधर्म श्रमण नाम से प्राचीनकाल में प्रचलित रहा और महावीर को श्रमण होते देखकर बुद्ध को मानने वाले गौतम बुद्ध को महाश्रमण कहने लगे। ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण-संस्कृति की प्राचीन परम्परा रही है। श्रीमद्भागवत्[5] में भी मरूदेवी (मरुदेवी) तथा नाभिराजा के पुत्र भगवान ऋषभदेव को श्रमण-संस्कृति का प्रवर्तक कहा गया है।

आदान-प्रदान

वैदिक और श्रमण संस्कृति में सामंजस्य की भावना के आधार पर आदान-प्रदान हुआ और इन्होंने भारतवर्ष की बौद्धिक एकता बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैन-धर्म ने किया। ब्रह्मोपनिषद् में श्रमण की चर्चा आई है—

यत्र लोका न लोका ·· श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापस।
एकमेव तत् परब्रह्म विभाति निर्वाणम् ॥१५१॥

शांकरभाष्य के अनुसार 'श्रमणः परिव्राट्।'

व्रात्य प्राकृत-भाषा बोलते थे और वे अर्हन्त को पूजते थे।[6] ऋग्वेद में व्रत, व्रात्य के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है—

व्रत—'अथा वयमादित्य व्रते तव'—ऋक० १।२४।१५ अहिंसादयोऽपि व्रतानि सन्ति तानि च देशकालदिभिर प्रतिवद्धानि महाव्रतान्युच्यन्ते। उक्तं हि—'जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।'—योगदर्शन २।३१ अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो राया प्राङ् नमो व्रात्याय —अथर्ववेद १५।१८।५

अर्थात् व्रात्य दिन में पश्चिमाभिमुख तथा रात्रि में पूर्वाभिमुख रहता है, व्रात्य को नमस्कार।

---

१. हिन्दू सभ्यता, पृ० २११
२. Translation of the Fragments of the Indica of Magasthenes. Bonn, 1846, P. 105.
३. श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणा वातवसना।
४. शतपथ ब्राह्मण १४।७।१।२२, तैत्तिरीय आरण्यक २।७।१।
५. ५।३।२०।
६. जयचन्द्र विद्यालंकार, भा० इति० की रूप० पृ० ३१२।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। —गीता २।६९
'अह्ना प्रत्यङ्‌व्रात्यो प्राङ्'—

व्रतों को धारण करनेवाले रात्रि आगमन (मृत्यु) से पूर्व ही (दिन में ही) प्रत्यग् वृत्तिमान (आत्मस्थ) हो जाते हैं ।

'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ।'
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत प्राजनयत् ।
—अथर्व० काण्ड १५।सूक्त १।१-६ मन्त्र

अर्थात् वह प्रजापति था । प्रजापति से उसने अपने आपको ऊपर उठाया । गृहस्थ से सन्यास की ओर चलते हुए तत्काल उस प्रजापति ने व्रतों को धारण किया, व्रात्य हो गया । उस प्रजापति ने आत्मा को सुवर्ण देखा ।

देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ।'
—अथर्व २ सूक्त ३ मन्त्र

ऐसे विद्वान (वेत्ता, सर्वज्ञ) व्रात्य को जो अपशब्द कहता है वह देवों का अपराधी होता है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—

यस्य पिता पितामहादि सुरां न पिबेत् स व्रात्यः ।

अर्थात् जिसके कुल में पिता और पितामह आदि ने मद्य न पिया हो वह व्रात्य है । प्रश्नोपनिषद् के शांकरभाष्य में—**व्रात्य इति स्वभावतः एव शुद्धः** (२।११) कहा है ।

ऋषभनाथ—जैनधर्म के आदि पुरुष ऋषभनाथ का परिचय भागवत पुराण में इन शब्दों में दिया है—

नाभेरसौ ऋषभ आप्तसुदेवसूनुः, यो वै चचार समदृग् योगचर्याम् ।
यत्पारहंस्यमृषयः पदमानमंति, स्वस्थः प्रशान्तकरणः परित्यक्तसंगः ।।
—भागवत पुराण २।७।१०

ईश्वर अग्नीन्द्र के पुत्र नाभि से सुदेव पुत्र ऋषभदेव जी हुए, वे समद्रष्टा जड़की भांति योगाभ्यास करते थे । उनके परमहंस पद को ऋषियों ने नमस्कार किया । स्वस्थ, शान्त इन्द्रिय, सब संग त्याग वे ऋषभदेव हुए, उनसे जैन धर्म प्रगट हुआ ।

क्षत्रियों के पूर्वज के रूप में ऋषभदेव का स्मरण किया गया है—

ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्यपूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।।
—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व० २।१४

क्षात्रो धर्मोह्यादिदेवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेष भूताश्चधर्माः ।
—महाभारत, शान्ति० १२।६४।२०

२६

क्षात्र धर्म भगवान आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ और शेष धर्म इसके पश्चात् प्रचलित हुए।

न प्राक्त्वत्तः पुराविद्या ब्राह्मणानगच्छति।
तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत ॥—छान्दोग्य० ५।३।७

पुराविद्या (आत्मविद्या) क्षत्रियों से पूर्व ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई अतएव यह मान्यता युक्तिसंगत है कि सम्पूर्ण लोक पर क्षत्रियों का ही प्रशासन था।

अथेदं विद्येतः पूर्वं न कास्मिंश्चन ब्राह्मण उवासताम्। —बृहदारण्यक ६।२८

इससे पूर्व आत्मविद्या किसी भी ब्राह्मण से व्यक्त होती हुई प्रतीत नहीं हुई।

सिंधु सभ्यता में जैन धर्म :

उपरोक्त उद्धरणों से श्रमणसंस्कृति की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। प्रागऐतिहासिक संस्कृति के जो अवशेष मोहनजोदड़ो में उत्खनन से प्राप्त हुए हैं, उनमें ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों से जैनधर्म की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। श्री रामप्रसादचन्दा ने सिन्धु घाटी में प्राप्त कुछ मुहरों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेषरूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापति तीर्थङ्कर श्री ऋषभ देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण (चिन्ह) है।[1]

SINDH FIVE THOUSAND YEARS AGO

1. 'Not only the seated deities engraved on some of Indus Seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus Valley in that remote age, the standing deities on the seals also show Kayotsarga posture of Yogu'. Further that "The Kayotsarga posture is peculiarly Jaina. It is a posture nat of sitting but of standing. In the Adi Purana, Book XVIII, Kayotsarga posture is described in connection with the Penauces of Rsabha or Virsabha. A standing image of Jaina Rsabha in Kayotsrga posture on a slab showing four such images, assignable to the 2nd Century A. D. in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura is reproduced in figure 12. Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties there are standing statutes with arms, hanging on two sides. But though these early Egyptian statutes and the archaic Greek Konroi show nearly the same pose, they lack the jealing of abondon that characterises the standing figures on the Indus Seals and images of Jinas in the Kayotsarga posture The name Rsabh means "bull" and the bull is the emblem of Jina Rsabh'.

R. B. prof. R P. Chanda—Modern Review, Aug. 1932 Page 155—160.

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने श्री चन्दा के उपरोक्त मत पर अपना यह अभिमत प्रकट किया है। 'मुहर संख्या F, G, H, फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल ही बना है, सम्भव है यह ऋषभ ही का पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैवधर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है।"[1] यहा हम श्री राम प्रसाद चन्दा द्वारा विवेचित मुहर का चित्र प्रस्तुत कर रहे है।
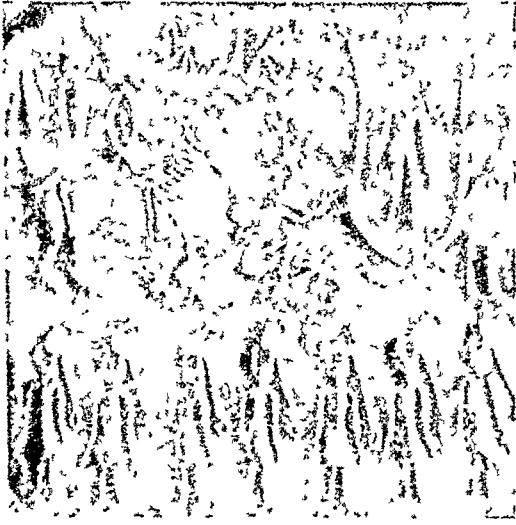
मोहनजोदड़ो से प्राप्त ऋषभनाथ की मुहर

प्रस्तुत चित्र में कायोत्सर्ग मुद्रा में ऋषभनाथ (आदिनाथ) है। उनके शिरोभाग में त्रिवल्ली त्रिरत्न (सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्राणि) की प्राप्ति की सूचक है। उनके शरीर के चारो ओर कल्पवृक्ष है, और उनके समीप उनके सुपुत्र एवं अजनाभवर्ष (भारतवर्ष) के प्रतापी सम्राट भरत करबद्धाञ्जलि है उनके पीछे वृषभ है। नीचे अमात्य वर्ग संभ्रम-मुद्रा में है। विमलसूरि ने अपने 'पउमचरिउ' में इस प्रसङ्ग का वर्णन किया है—

"साएयपुरवरीए, एगन्ते नाभिनन्दणो भयवं।
चिट्ठइ सुसंघसहिओ, तावय भरहो समणुपत्तो।
पणउत्तमंगमग्गो करजुयलं करियतस्स पामूले।
तो भणइ चक्कवही वलणमणिं मे निसामेह।" —४।६८-६९

अर्थात् साकेतपुरी में भगवान नाभिनन्दन एकान्त में संघ सहित विराजमान थे। वहां भरत आये। उन्होने अपना उत्तमांग (शिर) नवाते हुए, अपने कर युगल उनके चरणमूल में किये तथा नम्रभाव से इस चक्रवर्ती ने कहा—'हे भगवन ! मेरे वचनों को आप सुनें।'

दीक्षावल्ली और कल्पवृक्ष की बात जैनों के 'आदिपुराण' में आई है—

दीक्षावल्लया परिष्वक्तः कल्पांघ्रिवइवावभौ। —१७।२२१

आदिदेव मुनि दीक्षावल्ली से समालिगित कल्पवृक्ष के समान शोभायमान हुए। उपरोक्त चित्र में प्रदर्शित सभारूप की चर्चा आदिपुराण में हुई है—

ततो निभृतमासीने प्रवुद्धकुड्मले। सदः पद्माकरे भर्तुः प्रवोधमभिलाषुके।
प्रीत्या भरतराजेन विनयानतमौलिना। विज्ञापनमकारीत्थं तत्वजिज्ञासुना गुरोः।" —२४।७७।७८

भगवान के श्रीमण्डप में विराजमान होने पर जब सभारूप पद्मसमूह अपने पाणिपुटों को

---

१. हिन्दूसभ्यता, तृतीय सं०, पृ० ३९

आवद्धकर प्रणतिपूर्वक प्रवोध-प्रवचन की अभिलाषा लिए तूष्णीस्थित हो गया उस समय तत्वों की जिज्ञासा रखने वाले भरतनृपति ने विनय से आनम्र होकर वक्ष्यमाण विज्ञापन किया।

श्री पी० सी० राय चौधरी का मत है कि भगवान ऋषभ ने पाषाण युग के अन्त में और कृपि-युग में प्रारम्भ में जैनधर्म का प्रचार मगध में किया।[1]

जैन पुराणों में ऋपभनाथ को ही कृपि का आविष्कर्ता माना गया है। उनका उपदेश था 'कृपि करो और ऋपि जीवन विताओ।' इनसे पहले कल्पवृक्ष का युग था। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहन-सहन आदि के पदार्थ उन कल्पवृक्षों से ही अनायास मिल जाया करते थे। वह भोगयुग था। ऋपभनाथ जी के युग में कल्पवृक्षों के न रहने से जनता दुखी हुई और उन्होंने कृपि करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन बनाने की विधि सिखाई। ऋपभनाथ का चिन्ह बैल था, संभवतः वह कृपि में सहायक था। सिंध घाटी में खुदाई में जौ और गेहूं के दाने मिले हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि उस युग में कृपि प्रारम्भ हो चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों[2] में भी इसका वर्णन मिलता है। ऋपभनाथ जगत् में धर्म प्रचार करके, भरत को राज्य देकर, पूर्ण आत्मसाधना के लिए कैलाश पर्वत पर जाकर विराजमान हुए। वहां उन्होंने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी त्रिशूल के द्वारा अवशिष्ट कर्मशत्रुओं का क्षय किया। जैन-धर्म शास्त्रों में ऋपभनाथ और महादेवशंकर भगवान में समानता दिखाई है। भगवान शंकर को भी दिगम्बर कहा गया है किन्तु वह विपय गम्भीर अध्ययन एवं छानबीन की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है। संभवतः इसी आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में यह विचार प्रकट किए कि "जैनधर्म अनादि है। गौतम बुद्ध, महावीरस्वामी के शिष्य थे। चौवीस तीर्थकरों में महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे यह जैन-धर्म को पुनः प्रकाश में लाये, अहिंसाधर्म व्यापक हुआ।"

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के इतिहास में श्रमणसंस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

श्री कामताप्रसाद जैन लिखते हैं—"जैनियों ने भारतीय सभ्यता के विविध क्षेत्रों में क्या-क्या किया ? पहले ही ज्ञान कला को लीजिए। पार्थिव विज्ञान में आज जिस पुद्गल (Matter) के आविष्कार से तरह-तरह के करिश्मे दिखाई पड़ रहे हैं, जैनाचार्यो ने उसका सूक्ष्म विश्लेपण बहुत पहले ही किया था। उन्होंने जीव और तत्व के आधार पर इस जगत के विकास पर प्रकाश डाला था और उसमें अजीव को (१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) आकाश और (५) कालवत् माना था। पुद्गल पदार्थ ठीक

---

1. 'Not much research is possible in the prehstorical age as to the role Bihar played in the stay of Jainism: But some of of the ancient Jain sciptures mention that Jainism had been preached in Magadh (Bihar) by Lord Rishab at the end of the stone age and the begining of the Agricultural Age. At that remote period Magadh was separated from rest of India by Gange-Sagar. The ancient history of Nepal bears this out also.
—Shri P. C. Roy Chaudhary—Jainism in Bihar—P. 7. L. P.

२. शतपथ ब्राह्मण १।३।१।६

वही पदार्थ है जिसे डाल्टन साहब ने 'मैटर' बताया है। पुद्गल जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। उसका सूक्ष्म अविभागी अंश अणु कहलाता है। इस अणुवाद पर जैनों का कथन ही भारतीय साहित्य में प्राचीनतम है।" प्रो० जैकोबी ने लिखा है 'उपनिषदों में अणुवाद का पता नहीं चलता। सांख्य और योग दर्शन में भी वह दिखाई नहीं पड़ता। हाँ वैशेषिक और न्यायदर्शन में वह अवश्य मिलता है। जैनों और आजीविकों ने भी अणुवाद को अपनाया था। जैनों को प्रमुख स्थान देना उचित है क्योंकि उनका अणुवाद-सिद्धान्त पुद्गल विषयक प्राचीनतम मान्यताओं के आधार पर वर्णित है।"[१]

श्री कामताप्रसाद जैन ने वनस्पति शास्त्र के क्षेत्र में श्रमण-संस्कृति के प्रवर्तक जैनों के योगदान की चर्चा करते हुए लिखा है—जैनियों ने वनस्पति शास्त्र का भी अच्छा विवेचन किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। प्रो० बोस के आविष्कार के वर्षों पहले जैनाचार्यों ने वनस्पतिकाय को प्राणसहित बतलाया था। वे जल, वायु, अग्नि और पृथिवीकाय में भी जीवत्व मानते हैं। इन अवस्थाओं में जीव एक स्पर्शन-इन्द्री और सूक्ष्म ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। जीव अपनी इस निम्न अवस्था में भी चार संज्ञाओं (१) आहार (२) भय (३) मैथुन और (४) परिग्रह को रखता है। वृक्षों पर प्रो० बोस ने जो प्रयोग किए हैं उनसे जैनों की इस प्राचीन मान्यता का समर्थन होता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए यह गौरव की बात है कि उसके सदस्य जैनियों ने उसको ज्ञान मार्ग में इतना ऊँचा उठाया था।

जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य है। कर्मों का नाश करने के बाद ही मोक्ष प्राप्ति होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्मो की कई श्रेणियाँ हैं। ये चतुर्विध अंतराय कर्म जैन-दर्शन में 'घातीय कर्म' माने गए है। जैनधर्म का कर्म-विभाजन एवं कर्मो की निर्जरा द्वारा मोक्षोपलब्धि का सिद्धान्त बौद्ध-धर्म में ज्यों का त्यों अपना लिया है। जैन-धर्म की 'अहिंसा परमो धर्मः' की विचारधारा ही बौद्धों में मैत्री, करुणा और मुदिता के रूप में प्रसरित हुई। अतः जैनधर्म का बौद्धधर्म पर बहुत ऋण है।

जैनधर्म का त्रिरत्न[२]—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—वैदिक धर्म के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से साम्य रखता है। सांख्य और योगदर्शनों के ईश्वरवाद से जैन-दर्शन की कुछ समानता है।[3] सांख्य और जैन—दोनों दर्शन सृष्टि और ब्रह्म की पृथक् सत्ता प्रतिपादित

---

1. Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol II P. 199
२. रत्नत्रयमयं जैनं जैत्रमस्त्रं जयत्यदः।
   येनाव्याज व्यजेष्टार्हन दुरितारातिवाहिनीम्॥ —आदिपुराण १।४
३. जैन दर्शन में ईश्वर का स्वरूप :—
   "क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
   न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥
   —आचार्यसमन्तभद्र, रत्नकरंडश्रावकाचार
   जिस ईश्वर के क्षुधा, तृषा, जरा (बुढ़ापा), रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह और चिन्ता, मद, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य नहीं है, वही ईश्वर कहा जाता है।"

करते हैं। वेदान्त का जीवन्मुक्त ही जैन-दर्शन का अर्हत है। दोनों दर्शन आत्मा की हैं और आत्म-साक्षात्कार के लिए आत्मा की निर्मलता को महत्वपूर्ण मानते हैं। स्वरूप सम्वन्ध को दृष्टि में रखकर विचार करने पर जैनदर्शन भी वैदिकदर्शन ठहरता है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तु ने ईश्वर की जो व्याख्या की है वह भी इससे मिल "ईश्वर अशरीर है, इसलिए वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर स्वरूप है। ज्ञान ही ईश्वर की क्रिया है।"

ईश्वर को सभी वस्तुओं का स्वाभाविक ज्ञान है। आत्ममनन के अति कोई कार्य नहीं है। यदि कोई कार्य माना जायेगा तो ईश्वर से भिन्न उसका लक्ष्य जायेगा। इससे ईश्वर में परिमिता दोष आ जायेगा।" इस अंश में अरस्तु का ई से मिलता है।[१]

वैदिक ग्रंथों में महाभारत, स्मृति आदि में जो अहिंसा की महिमा वता जैनधर्म की अहिंसा-प्रधान विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

निष्कर्ष—डॉ रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में बौद्धधर्म की अपेक्ष वहुत अधिक प्राचीन है, वल्कि, यह उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। विशेपताएँ अहिंसा और तप हैं, इसलिए, यह अनुमान तर्क सम्मत लगता है कि वेद तप के वारीक वीज थे उन्हीं का विकास जैन धर्म में हुआ। यह वात जैन धर्म के इति होती है। महावीर वर्द्धमान ई० पू० छठी शताव्दी में हुए हैं और उन्होंने जैन-मार्ग किया, उससे मार्ग के प्रधाननेता वे ही समझे जाने लगे। किन्तु, जैन धर्म में चौवी नेता, पैगम्वर) हुए हैं और महावीर वर्द्धमान महज २४वें तीर्थकर हुए थे। तेइसवें थे जो ऐतिहासिक पुरुप हैं और जिनका समय महावीर और वुद्ध दोनों से कोई २५० वैराग्य और तपश्चर्या के जिस मार्ग पर उपनिपदें जोर देती थीं, वह जैनों का भी म के श्रमण उपनिषद् के युग में भी, वहुत अधिक संख्या में फैल रहे थे।"[२]

अंत में हम विद्वद्वर प० मंगलदेव शास्त्री का मत उद्धृत करते हैं 'इस केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगमन करने के लिए, अपितु भारतीय-स उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैनदर्शन का अत्यन्त महत्व है। भार अहिंसावाद के रूप में अथवा परम सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना और जैन विचारधारा की देन है, उसे समझे विना वास्तव में भारतीय संस्कृति के समझा जा सकता।[3]

---

१. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, गुलावराय, पृ० ५६
२. संस्कृति के चार अध्याय, १९५६, पृ० १०८
३. जैनदर्शन, प्राक्कथन, डॉ० मंगलदेव शास्त्री

जिन शासन की प्रक्रिया

—पं० सूरजचंद शाह 'सत्यप्रेमी' (डांगीजी)

जो जीतता है—वह शासन कर सकता है। वही 'जिन' कहलाता है। इसी हेतु तीर्थंकर सर्वदा क्षत्रिय होते हैं। क्षत-विक्षत (दीन हीन) का रक्षण ही उनका प्रधान वैशिष्ट्य है।

जो रागी होता है वह दोष नहीं देख सकता और जो द्वेषी है वह गुण नहीं देख सकता। गुण-दोष का ठीक-ठीक निर्णय करने के कारण श्री अर्हत प्रभु सबके न्यायाधीश हैं। उन्हें वादी-प्रतिवादी की श्रेणी में रखना उनकी अशातना है। वे तो निर्विवाद-निर्णयकार है।

अनेकांत नाम का कोई वाद नहीं, सिद्धान्त है प्रमाण है। स्याद्वाद की भी 'नय' संज्ञा है। भगवान के प्रवचन भी आत्म-प्रवाद या कर्मप्रवाद कहलाते हैं। या गणधर-तीर्थंकरके संवाद हैं।

वाद-विवाद, विसंवाद, दुर्वाद, आदि भगवान की शासन-प्रक्रिया के विरुद्ध है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के सदुपयोग को 'सम्यग्दर्शन', द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सम्यग्ज्ञान' और दान, शील, तप और भाव का सम्यक्-चारित्र का ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की उपलब्धि ही अपना ध्येय है। जिनशासन की प्रक्रिया में अरिहंत निर्वैर होने से सुप्रीमकोर्ट के जज हैं, लोकपति सिद्ध शिलासन पर विराजमान विश्व-राष्ट्र के स्वामी है। आचार्य प्रधानमंत्री हैं। उपाध्याय, उपराष्ट्रपति—उपलोक पति हैं। राज्यसभा के अध्यक्ष है। सिद्धों के प्रतिनिधि उपाध्याय और अरिहंत के प्रतिनिधि आचार्य हैं। उपाध्याय सिद्धान्त की मूर्ति हैं और आचार्य व्यवहार की मूर्ति। लोक में सर्वसाधु लोकसभा के स्पीकर हैं। इस तरह विश्व की व्यवस्था चल रही है। विश्व की व्यवस्था के लिये सिर पर अनन्त सिद्ध विराजमान है। कम से कम २० तीर्थंकर दीक्षा लेकर उनसे अनन्तवीर्य प्राप्त करते हैं और चार तीर्थ की उत्पत्ति होती है। तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति पुद्‌गल के घर से आकर अपना घर बसाती है, इसलिये वह माँ के समान हैं। वही हमें पिता सिद्ध का परिचय कराती है। आराधना से ऋद्धि प्राप्त होती है और साधना से सिद्धि। आराधना से अरिहंत होते हैं और साधना से सिद्ध।

अरिहंतों का उपकार सिद्धों का आधार, आचार्यों का आचार, उपाध्यायों का विचार, सर्व साधुओं के संस्कार, सम्यग्दर्शन का व्यवहार, सम्यग्ज्ञान का सुधार, सम्यग्-चरित्र का विहार और सम्यक् तप के स्वीकार से ही उद्धार होता है यह जिनशासन का सार है। कषायात्मा जीव द्रव्य है उसमें

मिथ्यात्व, अव्रत और प्रमाद रहता है मिथ्यात्व को दूर करने के लिये देव वंदन, अव्रत को दूर करने के लिये गुरु-वंदन और प्रमाद को दूर करने के लिये आगमानुसार आचरण चाहिये। भूतकाल का शोक दूर करने के लिये प्रतिक्रमण, भविष्यकाल का भय दूर करने के लिये प्रत्याख्यान का और वर्तमान काल की रति-अरति दूर करने के लिये सामायिक आवश्यक है। चउवीसत्थव, गुरुवन्दन और कायोत्सर्ग — क्रमशः पुरुषवेद, (सतोगुणी काम) स्त्रीवेद (रजोगुणी काम) और नपुंसकवेद (तमोगुणी काम) मिटाने के लिये आवश्यक है। हास्य (राग) और जुगुप्सा (द्वेष) के भाव मिटाने के लिये नमस्कार मन्त्र का उपक्रम और नमोत्थुणं से (शक्रस्तव) का उपसंहार करना चाहिये। इस तरह धीरे-धीरे अशुद्धयोग की प्रवृत्तियाँ नष्ट होकर सम्पूर्ण कर्म क्षय हो जाते हैं। तीर्थंकरों का पुण्यतत्त्व, सिद्धों का जीवतत्त्व आचार्यों का संवरतत्त्व, उपाध्यायों का निर्जरातत्त्व और सर्व साधुओं का मोक्षतत्व ग्रहण करने लायक है। सम्यग्दर्शन से अजीव तत्व छोड़ना है।

सम्यग्ज्ञान से पाप हटाना है सम्यक्चारित्र से आस्रव रोकना है। और सम्यक्तप से वन्ध तोड़ना है, आस्रव का फल दुःख, संवर का फल सुख, पुण्य का फल साता (सुविधा) पाप का फल असाता (असुविधा) निर्जरा का फल शान्ति और मोक्ष का फल सिद्धि है।

आस्रव का अर्थ अँवली समझ और संवर का अर्थ सँवली-समझ हैं। करना, आस्रव। धरना वन्ध, हरना निर्जरा। खेलना संवर, खिलना पुण्य और 'खुलना' मोक्ष है। देखनेवाला जीव, दीखनेवाला जड़ और दूखनेवाला पाप है। पाप, आस्रव और वन्ध को छोड़ना है। पुण्य संवर, निर्जरा और मोक्ष को ग्रहण करना है। जो सीधा खड़ा हो सकता है, सरलभावी मनुष्य होता है वह साधु हो सकता है और साधु ही सिद्ध हो सकता है। जो अँवले, तिरछे आचरण करते हैं वे सीधे खड़े नहीं हो सकते—तिर्यंच होते हैं। विपरीत कर्म करनेवाले झाड़ ऊँधे होते हैं। चल नहीं सकते, सिर नीचे और हाथ पैर ऊपर। उत्पाद में ऊँचा क्रम होता है। अधःपात में नीचे पड़ता है। नमस्कार से ऊँचा चढ़ता है। अहंकार से नीचा पड़ता है। पहले पद में पहला पूर्व है। अग्रायणीय लोक के अग्रभाग पर अपना घर हैं यह समझना। दूसरा पूर्व 'नमोसिद्धाणं' में हैं। अस्तिनास्ति और वीर्यप्रवाद आचार्य में हैं, निश्चय में वीर्य-वृद्धि, व्यवहार में आचार्यों के अनुशासन में विधि-निषेध, यह दोनों पूर्व तीसरे पद में है। ज्ञान प्रवाद उपाध्याय पद में है, सत्य प्रवाद पाँचवे पद में हैं सत्य साक्षात्कार साधना से ही होता है।

आत्म-प्रवाद और कर्मप्रवाद सम्यक् दर्शन में, विद्या प्रवाद और प्रत्याख्यान प्रवाद सम्यक् ज्ञान में कल्याण और प्राणापाद सम्यक् चारित्र में और क्रियाविशाल और लोकविंदुसार सम्यक् तप में सम्मिलित है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दो-दो पूर्व ४ आराधनाओं में आते हैं। इस प्रकार नमस्कार मंत्र में १४ पूर्वों का सार समझना ही जिन शासन की प्रक्रिया है। प्रत्येक द्रव्य का आते जाते रहना स्वभाव है। आते जाते उत्पाद—व्यय पर्याय अवस्थाएँ हैं, अभिव्यक्तियाँ हैं। और रहना ध्रुव शक्ति है—गुण, व्यक्ति—द्रव्य है—शक्ति गुण है अभिव्यक्तियाँ अवस्थाऐं हैं। अवस्थाऐं वदलती रहती हैं गुण शक्ति ध्रुव है इसलिये किसी भी अवस्था में रागद्वेष करना वर्ज्य है। जव एक समय की एक अवस्था भी स्थिर नहीं है तो क्या इष्ट और क्या अनिष्ट ?

हम सम्पूर्ण ज्ञानी होना चाहते हैं तो किसी को अपनी तरफ के अज्ञानी नहीं रक्खें। यही जिन शासन ही प्रक्रिया है।
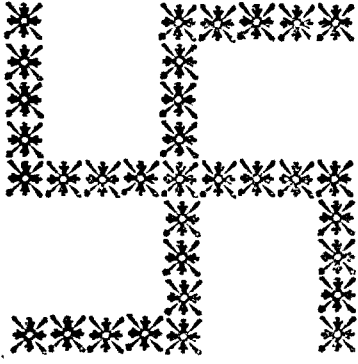
मंखलि गोशालक का नियतिवाद : एक टिप्पणी

—डॉ० अजित शुकदेव एम. ए. पी. एच-डी
दर्शनविभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन

भारतीय परम्परा में मंखलिगोशालक के नियतिवाद से आज भी प्रभावित कितने ही लोग दीख पड़ते हैं। नियतिवाद भाग्यवाद का ही दूसरा पहलू है। मंखलि गोशालक के पूर्व भी इस विचार धारा का दर्शन होता है और आधुनिक काल में भी इसका अस्तित्व जन-जीवन में परिव्याप्त है।

नियति को वस्तुतः नियम—समष्टि या नियमन करनेवाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। (**नियम्यन्ते धर्मा अनया इति नियतिः**)। इस दृष्टि से नियति ऋग्वैदिक शब्द 'ऋत्' के साथ साम्य रखता है, क्योंकि ऋत्, के कारण ही संसार के नियम—चक्र चलते हैं और ब्रह्माण्ड की व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दों में सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत् अथवा कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है। अर्थात् सूर्य, नदियाँ आदि सभी ऋत् को ही वहन करती हैं (**ऋतमर्पन्ति सिन्धवः**)। अतः यह विश्व एक ऐसी शक्ति अथवा व्यवस्था के अधीन है जिसे उलंघन करना अथवा प्रभावित करना मनुष्य शक्ति से सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति विश्व श्रृंखला की एक कड़ी मात्र है और नियति ब्रह्म शक्ति सम्पन्न होने के कारण ब्रह्माण्डों की स्थिति, विस्तार, सामर्थ्य, विवेक, रचना, जन्म और अर्थ क्रियाकारितादि की हेतु से महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महा-उद्भव और महास्पन्द गति आदि नामों से पुकारा जाता है। योगवाशिष्ठ (२।१०।१—२।६२।९) में बताया गया है कि सर्वत्र समरूप से स्थित जो व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, उसी का नाम नियति है; वही कार्य-कारण में नियम और नियामक रूप से स्थित है। यहाँ तक कि यह नियति नित्य उद्वेग रहित तथा परिमार्जित रहते हुए जगज्जाल रूप नाटक रचती रहती है।[1] पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलने वाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है। जिसकी जैसी भवितव्यता होती है, वह वैसा ही होता है। (—महाभारत, शान्तिपर्व—२२६।१०)। दूसरे शब्दों में नियति विश्व की नियामिका शक्ति है, जिसके अनुशासन को समस्त विश्व स्वीकारते हैं। वह अचलभाव से स्थित होती है और रुद्र से लेकर छोटे से छोटे तृण पर्यन्त नियति के नियम-व्यापार को भंग नहीं कर सकते (योगवाशिष्ठ ३।६२।२, ५।८९।२६, ३।५४।२२, ६।३७।२१)। शैवागमों में भी बताया गया है कि नियत कार्य की शक्ति ही नियति है,

---

१. नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिता परिमार्जिता।
एषा नृत्यति वै नृत्यं जगज्जालकनाटकम्।—६।३७।२३

जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु स्थितिशील अथवा कार्यशील बनती है। (**नियतिर्नियोजनां धत्ते विशिष्टे कार्य मण्डले**)। आकस्मिक आश्चर्यमयी आदि घटनाओं का कारण नियति ही है। नियति के रहस्य को न जानने के कारण ही हम किसी भी आश्चर्यजनक अथवा आकस्मिक घटनाओं को घटित होते हुए देखकर समझ नहीं पाते कि आखिर ये सब क्यों हो रहा है और कैसे हुआ। इसलिए नियति को विश्व की नियामिका शक्ति, कर्म-चक्र की संचालिका अथवा प्रेरकशक्ति मानी गयी है।

गोशालक का नियतिवाद भारतीय वैचारिक धरातल पर एक अपना अलग अस्तित्व रखता है। उनका कहना है कि कोई भी घटना, या कोई वस्तु पुरुष-प्रयत्न के द्वारा सिद्ध नहीं होती; बल्कि वह नियतिवाद के संदर्भ में इस प्रकार है—"सत्वों के क्लेश का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के ही प्राणी क्लेश पाते हैं। सत्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है और कोई प्रत्यय भी नहीं है। अपने कुछ नहीं कर सकते, पराये भी कुछ नहीं कर सकते और कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता क्योंकि बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्व, प्राणी, भूत और जीव अपने वश में नहीं हैं; निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग के फेर से वे सुख-दुःख भोगते हैं। अतः उनके अनुसार पुरुष के प्रयत्न पर कुछ भी अवलम्बित नहीं है क्योंकि शक्ति, पौरुष या मनुष्य-बल नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। उपाशकदशांग के सप्तम अध्ययन में सद्दालपुत्र के माध्यम से आजीवक मत की चर्चा देखने को मिलती है।

भगवान महावीर ने जब उससे पूछा कि—"बर्तन पुरुष-पराक्रम से तैयार हुए हैं अथवा बिना किसी पराक्रम से ही ? तो सद्दाल पुत्र ने निःसंकोच उत्तर दिया कि—मृत्तिका पिण्ड नियति बल से बनते हैं, पुरुष पराक्रम से नहीं। सभी पदार्थ नियतिवश होते हैं। जिसका जैसा होना नियत होता है, वह वैसा ही बनता है, उसमें कोई कुछ भी नहीं कर सकता।" इस मत की विवेचना सूत्रकृतांग (प्रथम अध्याय), आवश्यक निर्युक्ति, भगवती सूत्र आदि ग्रन्थों में देखने को मिलती है। इस सन्दर्भ में कुण्डकोलिक एवं देव के संवाद (उपासकदशा ६ अ.) भी द्रष्टव्य हैं, जिसमें बताया गया है कि 'नियति के बल पर जो कुछ शुभ अथवा अशुभ होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। प्राणी चाहे कितना ही बड़ा प्रयत्न क्यों न करे। जो कुछ नहीं होनेवाला होगा, नहीं होगा और इसी प्रकार, जो होनेवाला होगा उसका नाश भी नहीं हो सकेगा।" अर्थात् जो भवितव्य नहीं है नहीं होगा और भवितव्य बिना प्रयत्न के भी होगा। किन्तु जिस व्यक्ति के लिये उसकी भवितव्यता नहीं उसकी हथेली में आकर के भी वह नष्ट हो जायेगा।

नियतिवाद की विवेचना गुणरत्नसूरि (षड्दर्शनसमुच्चय) ने भी अच्छी तरह की है। लेकिन गुणरत्न सूरि और अन्यत्र प्रतिपादित नियतिवाद में थोड़-सा अन्तर है। अन्यत्र जहाँ भाग्यवादी विचार का पोषण हुआ है, वहाँ गुणरत्न ने नियतिवाद को प्रेरक शक्ति के रूप में चित्रित किया है।

आजीवकमत की मान्यता के सन्दर्भ में यह प्रतीत नहीं होती है कि नियति किसी सुव्यवस्था के सिद्धान्त का एक व्यापक एवं सर्वग्राही नियम है, जो प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक दृश्य को मूलतः शासित किया करता है। वास्तव में यह एक प्रकार के किसी प्राकृतिक या विश्वात्मक नियम का प्रतीक है। कर्मवाद में भी एक सर्वव्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियंत्रित करता है। सांख्य

के परिणामवाद में भी नियतिवाद के अंश दीख पड़ते हैं। इस प्रकार इन दोनों विचारधाराओं में आंशिक रूप से नियतिवाद का समर्थन होता हुआ दीख पड़ता है।

नियतिवाद के अन्तर्गत बुद्धघोष (सुमंगल वि० टीका पृ० १६०) ने संगति, भाव एवं परिणाम की चर्चा की है, जो नियतिवाद के ही विभिन्न पहलू हैं। भाग्यवाद एवं दैववाद आदि भी इसी की सीमा रेखा के अन्दर माने जाते हैं।[१] इस संदर्भ में यह भी कह देना उचित होगा कि कई विद्वान नियतिवाद को कर्मवाद एवं देववाद से भिन्न मानते हैं।[२]

नियतिवाद के संबंध में पाश्चात्य देशों में भी काफी विचार किया गया है। भवितव्यता अर्थात् नियति को स्वीकार करने वालों में दान्ते, होमर, शेक्सपीयर आदि का नाम लिया जा सकता है। ओडीपसंरेक्स की कहानी हमें बताती है कि किस प्रकार पूर्ण प्रयत्न करने पर भी वह अपने आप को अपने पिता की हत्या और अपनी माता के साथ विवाह करने से जो उसके भाग्य में बदे थे, बचा नहीं सका। होमर के काव्य में हैक्टर और एंड्रोमांश का एक दूसरे से अलग होना नियति का एक और उदाहरण है। शेक्सपीयर के नाटकों में भी कलाकार को हम अपने पात्रों को उनकी दुर्बलताओं से ही उनके लक्ष्य की ओर ले जाते हुए देखते हैं। लीयर में यह दुर्बलता अपराध पूर्ण भूल के रूप में दिखाई देती है। नियति के कारण ही हेमलेट का दिमाग चकरा जाता है और उसकी इच्छाशक्ति विभ्रम में पड़ जाती है। ओथेलो अपनी पत्नी को मार डालता है और फिर आत्मघात भी कर लेता है। ग्रीक साहित्य की दुखान्त रचनाओं में बुरे ग्रह-नक्षत्रों को नियति के कारण ही स्थान दिया गया है।

इस संदर्भ में प्रश्न उठता है कि जब विश्व में सब कुछ पूर्व निर्दिष्ट है अथवा नियति के अधीन हैं तो क्या मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का कोई मूल्य नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक अपने-अपने ढंग से उत्तर देते हैं कि मनुष्य में अपरिमित शक्ति का स्रोत है एवं वह अपने सामर्थ्य से मोक्ष अथवा पूर्णता की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इसलिए भारतीय दार्शनिक चिंतन में नियति का घोर-विरोध हुआ है। लेकिन यह बात उतनी ही सत्य है कि भारतीय व्यावहारिक जीवन में नियतिवाद किसी न किसी रूप में प्रतिष्ठित रहा है। माघ के शब्दों में—विद्वान् न तो केवल दैव का सहारा लेता है और न पौरुष पर ही स्थित रहता है। जिस प्रकार सत् कवि शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय ग्रहण करता है उसी प्रकार विद्वान् भी दैव और पुरुष दोनों जीवन में आवश्यक समझता है।[3] महाभारत में कर्ण ने नियति एवं इच्छा स्वातंत्र्य के सम्यक् संयोग पर बल देते हुए कहा था कि—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।

गीता की दृष्टि में किसी भी कर्म की सिद्धि के लिए अधिष्ठान, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, विभिन्न चेष्टाएँ और दैव वस्तुतः ये पांच हेतु हैं—यथा—

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखें —"हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स् आफ द आजीवकाज" पृ २२४-२२६

२. आजीवकों का नियतिवादी संप्रदाय—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

३. नालम्बते दैष्टिकतां, ना निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव, द्वयं विद्वानपेक्षते। —शिशुपालवध २।८६

पंचैतानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।
अधिष्ठानं तथाकर्त्ता कारणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथम् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।[1]

दूसरे शब्दों में एकांत कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतवाद, पुरुषार्थवाद आदि की मान्यताएँ अलग-अलग मिथ्यात्व है, लेकिन सबके समुदाय कार्य साधक हैं—

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणंगता ।
णिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ।।[2]

इस संदर्भ में श्वेताश्वेतर-उपनिषद् (१।२) भी कहता है कि काल, स्वभाव, नियति यदृक्षा, भूत और पुरुष—ये अलग-अलग विश्व के कारण नहीं हैं और इनका संयोग भी आत्मा के अधीन है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नियतिवाद का संबंध भारतीय विचारधारा से भी है और उसका महत्त्व व्यावहारिक जीवन भी में माना गया है । भारतीय जन-जीवन अपनी सफलताओं पर भाग्य अर्थात् नियति की ही दुहाई देते हुए दिखाई देते हैं । घोर से घोर कष्ट को नियतिवश ही स्वीकार कर जीवित रह लेते हैं । साधारणतः लोगों के मुंह से यह कहते हुए सुना जाता है कि **"भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषम्"** इस संदर्भ में यह कह देना समीचीन होगा कि व्यक्ति को मात्र भाग्य पर ही भरोसा न कर—अपनी इच्छाशक्ति को भी जाग्रत रखना चाहिए । राधाकृष्णन के शब्दों में—"यद्यपि आत्मा पूर्व निर्धारित घटनाओं (नियति) के बंधन से सर्वथा मुक्त नहीं है, तो भी वह अतीत को कुछ हद तक पराभूत कर उसे नये पथ की ओर प्रवृत्त और निर्देशित कर सकती है । मनुष्य अपनी स्वतंत्रता से अनिवार्य (नियति) को अपने लिये उपयोगी बना लेता है ।[3] इसी अर्थ में मानव को स्वतंत्र कर्त्ता माना गया है ।[4] व्यक्ति की इस स्वतंत्र इच्छा शक्ति के नियोजन के बदले मात्र भाग्य के प्रवाह में अपने आप को बहा देना निष्क्रियता अथवा पंगुता की निशानी है, जो कतई अपेक्षित नहीं । जीवन को सक्रिय, प्राणवान एवं कर्तव्य-निष्ठ बनाने के लिए महावीर द्वारा प्रतिपादित नियति एवं पुरुपार्थ का समन्वित दर्शन ही उपादेय हैं ।

१. गीता : १८।१३, १४
२. सन्मति तर्क ३ ।
३. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० ३५०
४. पाणिनि : १।४।५४
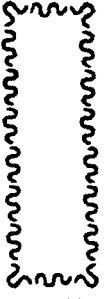
प्राचीन और अर्वाचीन योजन के मापदण्ड

—मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' 'आगमविशारद'

आगमकाल से लेकर अब तक 'योजन का परिमाण' अपरिवर्तित ही रहा है या यदा-कदा इसमें कुछ परिवर्तन भी हुए हैं? इस युग का एक बहुचर्चित प्रश्न रहा है। विशाल मरुस्थल के समान यह सर्वगिल प्रश्न समाधान की सरिता को लीलता चला जा रहा है, अतः कतिपय सम्भ्रान्त विचारकों ने इसे उपेक्षणीय मानकर (इसके समाधान के सम्बन्ध में चिन्तन करना ही) छोड़ दिया है। फिर भी प्रस्तुत निबन्ध में आगम-ग्रन्थों से संकलित सामग्री इसलिए उपस्थित की गई है कि चिन्तनशील पाठक इसे पाकर समाधान की दिशा तक पहुंच सकें।

आगमकालीन परिमाण प्रणाली :

जैनागमों में चार प्रकार के प्रमाण प्रतिपादित हैं। १ द्रव्य प्रमाण, २ क्षेत्र प्रमाण, ३ काल प्रमाण, ४ और भाव प्रमाण।[१] इस निबन्ध का विषय केवल क्षेत्र प्रमाण है, इसलिए इस विषय से संबंधित सूत्रों का सारांश ही यहां संकलित किया गया है।

प्रमाण शब्द की व्याख्या :

जुहोत्यादिगण में पठित "माङ् माने" धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर और 'प्र" उपसर्ग लगाने पर परिमाण अर्थ सूचक 'प्रमाण" शब्द सिद्ध होता है। प्रमाण का पर्यायवाची "परिमाण" इयत्ता[२] सीमा का सूचक है। लौकिकमान के लिए मान, उन्मान, अवमान आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं।[३]

क्षेत्र प्रमाण :

क्षेत्र प्रमाण दो प्रकार का है—१ प्रदेशनिष्पन्न, २ विभागनिष्पन्न। प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्र प्रमाण अनेक प्रकार का है—यथा एक प्रदेशावगढ़ यावत् असंख्येय प्रदेशावगाढ़। क्षेत्र का अविभाज्य अंश देश कहा जाता है। ऐसे एक प्रदेश में अवगाढ़-स्थित यावत् असंख्येय प्रदेशों में अवगाढ़ पदार्थ का परिमाण प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्र प्रमाण है।

---

१. अनुयोग द्वार सूत्र १३३।

२. प्रमाणं हेतु मर्यादा, शास्त्रेयत्ता प्रमातृपु—अमरकोश-३, ३, ५४।

३. त्रिलोकसार—सामान्याधिकार।

किसी क्षेत्र का आयाम[४], विष्कम्भ[५], उद्वेध[६], वाहल्य[७] उच्चत्व, परिधि[८], जीवा[९], धनुपृ[ष्ठ] सामिप्य या दूरी को अंगुल धनुष[११] योजन आदि से मापना विभाग निष्पन्न क्षेत्रप्रमाण है।

परिमाण के प्रमुख माप[द]

अंगुल, वितस्ति, रत्नि (हाथ), कुक्षी (उदर), धनुप, गाउ और योजन। अंगुल तीन प्र[कार] के हैं—१ आत्मांगुल, २ उत्सेधांगुल ३ प्रमाणांगुल।

आत्मां[गुल]

भरत (आदि कर्मभूमि) क्षेत्र में उत्पन्न अतीत, अनागत और वर्तमान काल के मनुष्यो[ं की] अंगुलियां आत्मांगुल हैं।

आत्मांगुल से मेय [पदार्थ]

अशास्वत—कूप, तालाब, द्रह, नदी, वापी, पुष्करणी, नहर, गुंजालिका, सर, सरपंक्ति, [गुफा,] गुफापंक्ति, उद्यान, कानन, वन, वनखण्ड, वनराजी, सभा, प्रभा, प्रपा, स्तूप, खाई, परिखा, प्राकार, अट्टालि[का,] चरिका, द्वार, गोपुर, प्रासाद, गृह, तोरण, लयन, आपण, श्रृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्त्वर, चतु[र्मुख,] महापथ, पथ, शकट, रथ, यान, युग, काठी, अंवारी, शिविका, लघुरथ, कड़ाही, कडाह, कडियल[,] भाण्ड, पात्र आदि उपकरण मापे जाते हैं।[१२]

---

४. दैर्घ्यमायम : (लम्वाई) —**अमरकोश**-२, ६, ११४।

५. विष्कम्भो योगभेदेख्याद्विस्तारप्रतिवन्धयोः—**मेदिनीकोष**। यहां "विष्कम्भ" शव्द का चौड़ाई [अर्थ] लिया गया है।

६. उद्वेध—गहराई, भूमि के अन्दर का भाग।

७. वाहल्य—मोटाई।

८. क्षेत्र की लम्वाई चौड़ाई से तीन गुणी परिधि होती है। यह वृत्ताकार होती है।

९. जीवा—धनुपृष्ठ के सामने का सीधा क्षेत्र।

१०. धनुपृष्ठ—धनुप की पीठ के समान आकारवाला क्षेत्र।

११. दण्ड, युग, नालिका, अक्ष और मूशल—ये सभी धनुप के समान परिमाण वाले होते हैं।

१२. (क) शाश्वत द्रह, नदी आदि का प्रमाण प्रमाणांगुलसे ज्ञात होता है।

(ख) श्रृंगार, कलश, भेरी, दर्पण, हल, मूसल, सिंहासन एवं मनुष्यों के निवासस्थान व नग[र] तथा उद्यान आदि के विस्तारादिका प्रमाण आत्मांगुल से जाना जाता है।

—**तिलोयपण्णत्ति, सामान्यलोकाधि[कार]**

(ग) अनुयोगद्वार सूत्र १३३।

(घ) आत्मांगुल तीन प्रकार के हैं – १ सूच्यंगुल, २ अतरांगुल, और ३ घनांगुल।

१—तीन आत्मांगुल जितनी लम्वी और एक आकाशप्रदेश जितनी चौड़ी "आकाश श्रे[णी"] सूच्यंगुल कहा जाता है।

२—सूच्यंगुल से सूच्यंगुल को गुणा करने पर अर्थात् ३ को ३ से गुणा करने पर ९अंगुल [लम्बी] और एक आकाश प्रदेश जितनी चौड़ी आकाश श्रेणी प्रतरांगुल कहा जाता है।

३—प्रतरांगुल से सूच्यंगुल को गुणा करने पर अर्थात् ९ को ३ से गुणा करने पर २७ अ[ंगुल] लम्वी आकाश प्रदेश जितनी चौड़ी आकाश श्रेणी घनांगुल कहा जाता है।

उत्सेधांगुल[१]

परमाणु दो प्रकार के हैं—१ सूक्ष्मपरमाणु[२], २ और स्थूलपरमाणु । अनन्त सूक्ष्मपरमाणु पुद्गल समुदाय से एक स्थूल परमाणु की रचना होती है। यह स्थूल परमाणु ही व्यवहार्य (प्रमाण योग्य एक इकाई) है।

आठ स्थूल परमाणु के समान एक "ऊर्ध्वरेणु" होता है।[३]
आठ ऊर्ध्वरेणु के समान एक "त्रसरेणु" होता है।[४]
आठ त्रसरेणु के समान एक "रथरेणु" होता है।[५]
आठ रथरेणु के समान एक "वालाग्र" होता है।[६]
यह वालाग्र (केश का अग्रभाग) देवकुरु या उत्तरकुरु में जन्मे मनुष्य का जानें।[७]

देवकुरु या उत्तरकुरु में जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान हरिवर्ष या रम्यक्वर्ष में जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

हरिवर्ष या रम्यक्वर्ष में जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान हैमवत या हैरण्यवत क्षेत्र में जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

हैमवत या हैरण्यवत क्षेत्र में जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान पूर्वविदेह या अपरविदेह में जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

पूर्वविदेह या अपरविदेह में जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान भरत या ऐरवत क्षेत्र में जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

भरत या ऐरवत क्षेत्र में जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान एक "लिक्षा" होती है।
आठ लिक्षा के समान एक "यूका" होती है।

इसी प्रकार उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल के भी ३, ३ भेद हैं। किसी मेय पदार्थ का परिमाण जानने के लिए सूच्यंगुलादि तीन अंगुलों का उपयोग किसी श्वेताम्बर आगम में दिखाई नहीं देता। तिलोयपण्णत्ति आदि दिगम्वर ग्रन्थों में सूच्यंगुलादि का प्रयोग प्रायः सर्वत्र हुआ है।

१. ऊँचाई मापने के लिए निश्चित प्रमाण का एक अंगुल।
२. सूक्ष्म परमाणु प्रमाण के उपयोगी नहीं होता—क्योंकि वह अति सूक्ष्म होता है।
३. गवाक्ष की जाली में होकर आनेवाली सूर्यरश्मियों में जो उड़ते हुए रजकण दिखाई देते है, वे ऊर्ध्वरेणु हैं, उनमें से एक रजकण यहां ग्राह्य है।
४. किसी प्राणी के उड़ने से या चलने से जो रजकण भूमि से ऊपर की ओर उठते हैं। उनमें से एक रजकण "त्रसरेणु" हैं।
५. रथ के चलने से उड़नेवाले रजकण "रथरेणु" कहे जाते हैं। उनमें से एक रजकण यहां ग्राह्य हैं।
६. वाल का अग्रभाग सूई की नोंक जैसा होता है।
७. ये अकर्मभूमियां हैं—इनमें युगल मनुष्य उत्पन्न होते हैं—एक पुरुष और एक स्त्री। इनके केश अति कोमल होते हैं।

आठ यूका के समान लम्बा एक "यवकामध्यभाग" होता है। और आठ यवमध्य भाग जितना लम्बा एक "उत्सेधांगुल" होता है।[1]

छ उत्सेधांगुल जितना चौड़ा एक "पग" होता है।[2]

बारह अंगुल की ऊँचाई एक "वितस्ति" की होती है।[3]

चौवीस अंगुल ऊँचा एक हाथ (रत्नि) होता है।

अड़तालीस अंगुल ऊँची एक कुक्षी होती है।[4]

छियानवें अंगुल ऊँचा धनुप, दण्ड, युग, नालिका, अक्ष और मूसल होता है।[5]

दो हजार धनुप का एक "गाउ" होता है।[6]

---

१. अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी माप निर्धारण करने के साधनों में लिक्षा, यूका आदि ही माप के साधन माने गये हैं किन्तु गणित के आधुनिक विद्वान् बालाग्र, लिक्षा, यूका और यवमध्यभाग आदि को माप के स्थूल साधन मानते है, क्योंकि इनका सर्वत्र समान एवं सुनिश्चित माप नहीं होता है।

२. "पादस्य मध्यतल प्रदेशः पडंगुलविस्तीर्णः पादैकदेशत्वात् पादः।"—**अनुयोग० सू० १३३**

३. "वितस्तिर्द्वादशांगुलः"—**अमरकोश** २, ६, ८४।

४. "पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुंदम्"—**अमरकोश** २, ६, ७७।

पृष्ठवंश से नाभि और नाभि से पुनः पृष्ठवंश तक की लम्बाई अड़तालीस अंगुल अर्थात् दो हाथ की होती है।

५. "ववहारिएणं दंडे छण्णउइ अंगुलाइं अंगुलमाणेणं। एवं धणू, नालिया, जुगे, अक्खे, मुसले विहु। —**समवायांग-सम० ९६**। इस में ९६ अंगुल परिमिति दण्ड, धनुप, नालिका, युग, अक्ष, और मूसल आत्मांगुल के माप से माने गये हैं। एक दण्ड से ही सभी मेय पदार्थ मापे जा सकते हैं फिर इन चार भिन्न भिन्न मापदण्डों के कहने का अभिप्राय क्या है? इसका समाधान इस प्रकार है—

(क) गृहभूमि का माप हाथों से,

(ख) क्षेत्र का माप दण्ड से,

(ग) मार्ग का माप धनुष से,

(घ) कूप का माप नालिका से किया जाता है। दश नालिका की एक रज्जु होती है। इस रज्जु से कूप की गहराई नापी जाती है।

१—युग-जुआ-बैलों की गरदन पर रखा जाता है।

२—अक्ष-चारसौ अंगुल का एक प्राचीन प्रमाण—**नालंदा वि० श०**

३—मूसल—बलभद्रजी का एक अस्त्र— **नालंदा वि० श०**

युग, अक्ष और मूसल से किन वस्तुओं का माप किया जाता था। यह शोध का विषय है।

६. 'गाउ" और गव्यूति" ये दोनों परिमाण वाचक हैं। गाउ का अर्थ एक कोश और गव्यूति का अर्थ दो कोश होता है। गुजरात में एक कोश के लिए "गाउ" शब्द प्रचलित है। "गव्यूति स्त्री क्रोशयुगम्"—**अमरकोश**—२,१,२८। गांव से गाए चरने के लिए जितनी दूर जाती हैं, उतनी दूरी को गाउ या गव्यूति कहा जाता है। शब्द रचना से यह अर्थ उचित प्रतीत होता है। किन्तु गायों के चरने का क्षेत्र किसी निश्चित माप का नहीं होता, अतः यह गाउ आदि का परिमाण अति स्थल परिमाण है।

चार गाउ का एक "योजन" होता है।[1]

उत्सेधांगुल से मेय पदार्थ :

उत्सेधांगुल से केवल नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के शरीरों की लम्बाई (अवगाहना) मापने का विधान है। अन्य किसी वस्तु का उत्सेधांगुल से मापने को विधान नहीं है।[2]

प्रमाणांगुल[2] :

काकिणीरत्न के प्रत्येक तल की ऊँचाई एक उत्सेधांगुल जितनी है। भगवान महावीर का अर्धांगुल भी इतना ही है। उत्सेधांगुल से एक हजार गुणा प्रमाणांगुल होता है। भगवान महावीर आत्मांगुल से ८४ अंगुल ऊँचे थे और उत्सेधांगुल से १६८ अंगुल ऊँचे थे, अतः उत्सेधांगुल से आत्मांगुल की ऊँचाई दुगुनी होती है।[3]

प्रमाणांगुल से मेय पदार्थ :

पृथ्वी के विभाग, पातालकलश, भवनवासी देवों के भवन, भवनप्रस्तट, नरक, नरकावली, नरकप्रस्तट, कल्पविमान, विमानप्रस्तट, टंक-कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, पर्वत का शिखर, विजय, वक्षस्कार, वर्ष, वर्षधर, वेदिका, द्वार, तोरण, द्वीप और समुद्र आदि सभी शास्वतपदार्थो का आयाम, विष्कम्भ, ऊँचाई, उद्वेध, परिधि आदि का प्रमाण प्रमांणागुल से मापा जाता है।

प्रमाणांगुल से परिमित धनुप, गाउ और योजन ही प्रमाण में उपयोगी माने गए हैं।

---

१ मागधस्स णं जोयणस्स अट्ठ धणुसहस्साइं निधत्ते पण्णत्ते—**ठाणांग** अ० ८। आत्मांगुल से परिमित आठ हजार धनुप का योजन मगध देश का निश्चित है अतः आगमोक्त सभी मापदण्ड २५०० वर्ष पूर्व मगधदेश में प्रचलित थे इस पाठ से यह अनुमान करना असंगत नहीं लगता।

२ अनुयोगद्वार सूत्र १३२।

३ प्रमाण के लिए निर्धारित माप का एक अंगुल।

४ एगमेगस्स रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवण्णिए कागणीरयणेछत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अहिगरणसंठाणसंठिए पण्णत्ते—तस्स णं एगमेगाकोडीउस्सेहंगुलत्रिक्खंभा तं समणस्स भगवओ महावीरस्स अद्धंगुल, तं सहस्सगुणं प्रमाणंगुलं भवइ। —**अनुयोगद्वार सूत्र १३३**।

भगवान महावीर की ऊँचाई (अवगाहना) उत्सेधांगुल प्रमाण से सात हाथ की थी, अतः उनके अर्धांगुल से सहस्रगुण प्रमाणांगुल होता है। और पूर्णांगुल से ५०० गुणा प्रमाणांगुल होता है।

अन्य किसी काल के उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल का तुलनात्मक वर्णन आगमों में नहीं मिलता है।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार ५०० उत्सेधांगुल जितना एक प्रमाणांगुल होता है। ५०० मानव योजन का एक प्रमाण योजन होता है। —**जैनेन्द्र० पृष्ठ २१५**

श्वेताम्वर मान्यता के अनुसार व्यवहार योजन आत्मांगुल से माना गया है। (दिगम्बर मान्यता के अनुसार व्यवहार योजन उत्सेधांगुल से माना गया है) यह मान्यता भेद आश्चर्यजनक है।

२८

अंगुलत्रय तालिका

१ उत्सेधांगुल, २ आत्मांगुल, ३ प्रमाणांगुल

	६ अंगुल का एक पग
बारह अंगुल—	२ पग की एक वितस्ति,
चौवीस अंगुल—	२ वितस्ति की एक रत्नि, (हाथ)
अड़तालीस अंगुल—	२ रत्नि की एक कुक्षि[1]
छियानवे अंगुल -	२ कुक्षि का धनुप[2],
	२ हजार धनुष का एक गाउ[3],
	४ गाउ का एक योजन[4],

"नल्व"—एक मापदण्ड :

(१) "नल्वः किष्कु चतुःशतम्"—**अमरकोश** २,१,२८ । किष्कूणां हस्तानां चतुःशतम् । चार सौ हाथ परिमित लम्वी भूमि की "नल्व" संज्ञा है ।

(२) नल्वं विंशहस्तशतम्—**भट्टक्षीरस्वामी** । एक सौ वीस हाथ परिमित लम्वी भूमी की "नल्व" संज्ञा है ।

(३) नल्वं हस्तशतम्—**कात्यः**—सौ हार्थ परिमित लम्वी भूमी की "नल्व" संज्ञा है ।

'नल्व' मापदण्ड के सम्वन्ध में ये तीन मत **भानुजीदीक्षित** ने अमरकोश की टीका में दिए है । "नल्व" मापदण्ड प्रादेशिक प्रतीत होता है । युग परिवर्तन के साथ-साथ मापदण्डों में परिवर्तन होने का यह एक प्रमाण है । इस "नल्व" मापदण्ड का उपयोग किस युग में किस प्रयोजन के लिए प्रचलित था यह अन्वेषणीय है ।

"निवर्तन"—एक मापदण्ड :

आनन्द श्रावक ने कृपि योग्य भूमि की मर्यादा करते हुए पांच सौ हलों से जितनी कृपि की जा सके इतनी भूमि की मर्यादा की थी । एक हल से सौ निवर्तन और पांच सौ हलों से पांच हजार निव-

---

१ दो हाथ का एक किष्कु, दो किष्कु का एक दण्ड । कुक्षि के स्थान में "किष्कु" का प्रयोग भी मिलता है । —**जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश** पृ० २१५ ।

२ धनुर्हस्तचतुष्टयम्—**इति शब्दार्णवः** ।

३ द्वाभ्यां धनुः सहस्राभ्यां गव्यूतिः पुंसि भापितः—इति शब्दार्णवः । इस कथन से गाउ और गव्यूति पर्यायवाची प्रतीत होते हैं ।

४ 'युजिर् योगे' धातु से कर्म में ल्युट् प्रत्यय करने पर "योजन" शब्द की सिद्धि होती है । युज्यते पथि इति योजनम् । चतुष्क्रोश्यां च योगे च—**इति मेदिनी**—मानव का मार्ग से योग (संबंध) होता है अतः **योजन** कहा जाता है ।

र्तन भूमि में कृषि कार्य करने की मान्यता उस युग में थी—ऐसा प्रतीत होता है। योजन आदि के समान नल्व और निवर्तन आदि का सार्वदेशिक माप प्रतीत नहीं होता।

आनन्द श्रावक वाणिज्य ग्राम के कोल्लाकसन्निवेश (उपवस्ति) में रहता था। आधुनिक भूगोल के मानचित्र में "वाणिज्यग्राम" का स्थान निर्धारित करके यदि अन्वेषण कार्य हो तो "नल्व" और 'निवर्तन' के मापदण्डों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त हो सकती है।

दस हाथ लम्बे वंश दण्ड के मापदण्ड से चौबीस वंश दण्ड परिमित एक निवर्तन माना जाता था—उपासक दशा प्रथम अध्ययन टीका पूज्य श्री घासीलाल जी म० कृत देखें।

माप दण्डों के मतभेद :

१ (क) गाउअ—गव्यूतः—द्विधनुः सहस्रप्रमाणक्षेत्रे **प्रज्ञापना, प्रथमपद**। दो हजार धनुष प्रमाण क्षेत्र की "गाउ" या "गव्यूत" संज्ञा है।

(ख) क्रोश द्वये च—**ओघनिर्युक्ति**।

(ग) गव्यूति स्त्री क्रोशयुगम् :—**अमरकोश** २, १, १८, दो कोस की "गव्यूति" संज्ञा है।

(घ) पाणिनीय का सामान्य कहना है—"अध्वपरिमाणे च"— **लघुकौमुदी**

(ङ) गव्यूति—क्षेत्र का एक प्रमाण। अपरनाम कोश है—**जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ० २३८**

(च) कोश-क्षेत्र का प्रमाण विशेष। अपरनाम गव्यूति—**जैनेन्द्रसिद्धांत कोश पृ० १७१**

२ (क) किष्कु-क्षेत्र का प्रमाण विशेष। अपरनाम रिक्कु या गज—**जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ० १२५**
दो हाथ का एक किष्कु (गणित शब्द)—**जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश २१५**

(ख) नल्वः किष्कु चतुःशतम्—**अमरकोश**—२, १, २१६
किष्कूणां हस्तानां चतुःशती – यहां किष्कु एक हाथ का पर्यायवाचि है।

३ (क) पांच सौ धनुष का एक कोश होता है—**बौद्ध ग्रंथ अभिधम्मकोश**

(ख) दो हजार धनुष का एक कोश होता है—**ठाणांग अ० ६**

४ (क) आठ कोश का एक योजन होता है—**बौद्ध ग्रंथ अभिधम्मकोश**

(ख) चार कोश का एक योजन होता है—**अनुयोगद्वार सूत्र १३३**

५ (क) मानव योजन (व्यवहार योजन) आत्मांगुल से होता है—**अनुयोगद्वार सूत्र १३३**

(ख) उत्सेधांगुल से मानव योजन या व्यवहार योजन होता है—**जैनेन्द्र सिद्धांत कोश पृ० २१५**

६ (क) पांच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण अवसर्पिणी काल के प्रथम भरत चक्रवर्ती का एक (आत्मांगुल) अंगुल होता है और इसीका नाम प्रमाणांगुल है –**तिलोयपण्णत्ति भाग १ पृ० १३**

(ख) एक हजार उत्सेधांगुल प्रमाण अवसर्पिणीकाल के प्रथम भरतचक्रवर्ती का एक (आत्मांगुल) अंगुल होता है और इसी का नाम प्रमाणांगुल है—**अनुयोगद्वार टीका। पृ० १५८**

(ग) चक्रवर्ती के काकिणीरत्न का एक कोणा एक उत्सेधांगुल लम्बा होता है और भगवान् महावीर का आधा अंगुल भी इतना ही लम्बा होता है –फलितार्थ यह हुवा कि भगवान महावीर का एक आत्मांगुल दो उत्सेधांगुल जितना होता है। भगवान् महावीर के आधे अंगुल से हजार गुणा और पूर्ण अंगुल से पांचसौ गुणा प्रमाणांगुल होता है—**अनुयोगद्वार सूत्रसटीक पृ० १५७**

(घ) किन्तु अनुयोगद्वार सूत्र के टीकाकार गणित की प्रक्रिया से यह सिद्ध करते हैं कि उत्सेधांगुल से चार सौ गुणा एक प्रमाणांगुल होता है। तात्पर्य यह है कि चार सौ उत्सेधांगुल जितना एक
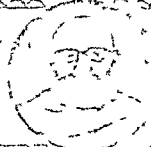
प्रमाणांगुल होता है। इस प्रमाण से शाश्वत पदार्थों का माप किया जाना चाहिए। टीकाकार इस सम्बन्ध में मतभेदों का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि "निश्चयं तु सर्ववेदिनो विदन्तीति।" आज का पाठक भी इन मतभेदों के जंगल में भटक गया है।

एक ही मूल से उत्पन्न श्वेताम्बर और दिगम्बर शाखा के मापदण्ड विषयक मतभेद इतने गहरे हैं कि उनका समन्वय असंभव सा प्रतीत हो रहा है।

भगवान महावीर और बुद्ध दोनों के देश, काल और प्रचार क्षेत्र में अन्तर नहीं था, फिर भी क्षेत्र के मापदण्डों में इतना अधिक अन्तर क्यों है—इसके कारणों की शोध हुए बिना भौगोलिक मापदण्डों का समन्वय कैसे संभव हो सकता है?

परिमाण प्रणालि में परिवर्तन :

भगवान महावीर के युग में योजन का परिमाण जो प्रचलित था, उससे आधुनिक योजन का परिमाण भिन्न है। यह एक तथ्य है—क्योंकि पच्चीस सौ वर्ष की इस सुदीर्घ अवधि में प्रादेशिक या सार्वदेशिक शासन बदलते रहे हैं। इसी प्रकार प्रादेशिक या सार्वदेशिक परिमाण के मापदण्ड भी बदलते रहे हैं। मुगलकाल से लेकर वर्तमान के लोकतंत्र तक शासन परिवर्तन के साथ-साथ माप-तोल की प्रणालियों में जो परिवर्तन होते रहे हैं, उनकी सामान्य जानकारी तो प्रायः सभी को है।

विकासकाल और ह्रासकाल के परिवर्तन :

भरत और ऐरवत क्षेत्र में विकासकाल (उत्सर्पिणीकाल) और ह्रासकाल (अवसर्पिणीकाल) में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। मनुष्यादि प्राणियों की आयु (स्थिति) में और ऊँचाई (अवगाहना) आदि में जो परिवर्तन होते हैं, वे सर्वविदित हैं।

ह्रासकाल के अन्त में वैताढ्य पर्वत के अतिरिक्त सभी पर्वत धराशायी हो जाते हैं और गंगा-सिन्धु के अतिरिक्त सभी नदियां सूख जाती हैं, जिससे उनमें मिट्टी भर जाने पर समस्त भूतल समतल हो जाता है।[1]

गंगा-सिन्धु जैसी शाश्वत नदियों के प्रवाह भी धुरी के छिद्र में से निकले जितनी पतली धारा-वाले हो जाते हैं।[2]

चंद्र से अतिशीत और सूर्य से अतिताप पड़ता है।

भरत क्षेत्र का भूभाग अतिरूक्ष, अतिरज एवं अतिपंक आदि से गमनागमन के अयोग्य हो जाता है।

शाश्वत समुद्रादि में भी परिवर्तन :

किसी क्षेत्र, समुद्र या पर्वत को शाश्वत कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वह सदा रहेगा, सर्वथा नष्ट नहीं होगा।

---

१ पव्वय-गिरि-डुगरुत्थल भट्ठिमादिए, वेअड्ढगिरिवज्जे विरावेहिंति सलिल विल विसम गड्ड णिण्णुण्ण-याणि य गंगासिंधु वज्जाइ समी करेहिंति।

२ गंगासिंधुओ महाणईओ रह पहमित्तवित्थराओ अक्खसोअप्पमाण मेत्तं जलंवोज्झिहंति।

—जंबुद्दीवपण्णत्ति-वक्ष० २।

सामान्य परिवर्तन तो शाश्वत कहे जानेवाले क्षेत्र, समुद्र या पर्वत में भी हो सकते हैं। लवणसमुद्र यद्यपि शाश्वत है फिर भी इसकी वेला का घटना बढ़ना आगम सम्मत है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र शाश्वत हैं फिर भी इनमें जितने पर्वत और नदी-नाले हैं, वे सब दुपमदुपमाकाल में ही समाप्त होकर केवल भूतल रह जायेगा। इस प्रकार शाश्वत क्षेत्र, पर्वत और समुद्र में सामान्य परिवर्तन स्वयं सिद्ध हैं। जैनागमों की मान्यता के अनुसार वम्वई के समीप का समुद्र लवण समुद्र है। वम्वई के समीप भरती करके समुद्र को वहुत कुछ पीछे धकेल दिया है। कुछ वर्षो पहले जिस जगह समुद्र था आज उस जगह अनेक भव्य भवन अपने पैर जमाए खड़े हैं।

स्वेज नहर से एक समुद्र दूसरे समुद्र से जुड़ गया है। ऐसी एक दो नहरें और वनने की योजना है, जिनसे लम्वे समुद्री मार्ग छोटे वन जाएंगे। ऐसे सामान्य परिवर्तन लवण समुद्र में हो रहे हैं।

श्वेताम्वर मूर्तिपूजक समाज मान्य शत्रुंजय माहात्म्य में शत्रुञ्जय पर्वत का उत्सर्पिणी काल में विकास और अवसर्पिणी काल में ह्रास होना लिखा है। उनकी मान्यतानुसार यह पर्वत भी शाश्वत है फिर भी इसमें अनेक परिवर्तन प्रत्यक्ष में हो रहे हैं।[1]

अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार शाश्वत पर्वत का प्रमाण शाश्वत योजन में माना गया है। शत्रुंजय पर्वत पांचवे आरे में (दुपमकाल में) वारह शाश्वत योजन का लम्वा है। अतः शाश्वत योजन का आधुनिक योजन से समन्वय करना असंभव नहीं है।

प्राचीन और अर्वाचीन योजनों का समीकरण :

भरत क्षेत्र के मध्य में अयोध्या—

जैनागमों की मान्यतानुसार अयोध्या भरत क्षेत्र के मध्य भाग में है। यह कोसल (कोशल) जनपद की राजधानी[2] वारह योजन लम्वी और नव योजन चौड़ी थी[3]। वैताढ्य पर्वत से और लवण समुद्र

---

१ अशीतियोजनान्याद्ये, द्वितीयकेतु सप्ततिम्।
पष्टिं तृतीये तुर्ये वा ऽरके पञ्चाशतं तथा ॥११॥
पञ्चमे द्वादशैतानि, सप्तरत्नि तथान्तिमे।
इत्याद्यैरवसर्पिण्यां, विस्तरस्तस्य कीर्तितः ॥१२॥

—अभिधानराजेन्द्र कोश, भाग ७ पृष्ठ ३३१

२ भरत चक्रवर्ती के समय में यह अयोध्या पूरे भरत क्षेत्र की राजधानी थी।

३ वाल्मिकी रामायण में अयोध्या की लम्वाई तो वारह योजन ही थी, किन्तु चौड़ाई केवल तीन योजन ही रह गई थी—

कोशलोनामजनपदो, स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टा सरयूतीरे, प्रभूतधनधान्यवान् ॥
अयोध्या नाम नगरी, तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण, या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥
आयता दश च द्वे च, योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा, सुविभक्तमहापथा ॥

—वाल्मिकी० वाल० ५वां सर्ग श्लो० ५,६,७

से (अर्थात् दोनों ओर से) एक सौ चौदह योजन दूर थी। गंगा नदी से पूर्व में, सिन्धु नदी से पश्चिम में, वैताढ्य पर्वत से दक्षिण में और (दक्षिण) लवण समुद्र के उत्तर में थी।

आधुनिक भूगोल के मानचित्र में अयोध्या उत्तरप्रदेश में है। भगवान ऋषभदेव के युग से लेकर रामायणकाल और वर्तमानकाल तक अयोध्या के स्थान तथा नाम में परिवर्तन नहीं हुआ है। नगरी की लम्बाई-चौड़ाई में ह्रास काल (अवसर्पिणी) के प्रभाव से अवश्य परिवर्तन हुआ है, फिर भी वर्तमान अयोध्या समुद्र से जितनी दूर है उतनी दूरी को एक सौ चौदह योजन मान कर संगति बिठाई जाए तो योजनों का समन्वय सफल हो सकता है। अयोध्या के साकेत या विनीता नाम भी हैं।

(१) कालमान से क्षेत्रमान :—

जम्बूद्वीप के दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध में तथा पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में सबसे बड़े दिन-रात अठारह मुहूर्त के तथा सबसे छोटे दिन-रात बारह मुहूर्त के होते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में अठारह मुहूर्त से बड़े दिन-रात तथा बारह मुहूर्त से छोटे दिन-रात नहीं होते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि अठारह मुहूर्त से बड़े दिन-रात वा बारह मुहूर्त से छोटे दिन-रात जिन क्षेत्रों में होते हैं, वे समस्त क्षेत्र जम्बूद्वीप से बाहर हैं। अठारह मुहुर्त और बारह मुहूर्त के दिन-रात वाले समस्त क्षेत्र जम्बूद्वीप के अन्तर्गत हैं। जम्बूद्वीप का परिमाण (प्रमाणांगुल के माप से निष्पन्न शास्वत योजन-प्राचीन योजन) एक लाख योजन हैं।[1]

अठारह और बारह मुहूर्त के दिन-रातवाला समस्त क्षेत्र आधुनिक भूगोल के मापदण्डों से कितने योजन लम्बा-चौड़ा है—इस की पूर्ण जानकारी प्राप्त करके प्राचीन और अर्वाचीन योजन का अन्तर (तुलनात्मक समीकरण), प्रस्तुत किया जा सकता है।

---

१ **प्रश्न**—जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवइ,तया णं उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ। जया णं उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवइ, तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ ?

उत्तर—हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्दीवे दीवे-जाव-दुवालसमुहुत्ता राई भवइ।

प्रश्न—जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालस मुहुत्तेदिवसे भवइ,तया णं उत्तरड्ढे वि। जया णं उत्तरड्ढे तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ ?

उत्तर—हंता गोयमा ! एवं चेव उच्चारेयव्वं-जाव-राई भवइ।

—भगवती सूत्र श० ५ उद्दे० १

जंबूद्वीप के किसी विभाग में अठारह मुहूर्त से भी बड़े दिन-रात तथा बारह मुहूर्त से भी छोटे दिन-रात होने का विधान यदि किसी आगम पाठ में हो तो पूज्य बहुश्रुतों से वह पाठ प्राप्त करके संघ के प्रमुख पदाधिकारी प्रकाशित करें। यह भी श्रुतसेवा का एक महान् कार्य है।

आधुनिक भूगोल के अनुसार दिन-रात की लम्बाई सूचक तालिका[1]

उत्तरी गोलार्ध की ग्रीष्म ऋतु—विभिन्न स्थानों पर दिन की लम्बाई (२१, जून)

अक्षांश	दिन की लंबाई	निकटतम स्थान
१०°	१२ घण्टा ३५ मि०	कोलोन, काराकास, कोडाइकनाल, आदिस अबाबा, (६) (१०) (२०) (२०)
२०°	१३ ,, १३ ,,	होनोलूलू, मोक्सिकोसिटी, बम्बई, अकयाब, (३१) (१६) (१६) (२०)
३०°	१३ ,, ५६ ,,	देहली, शिमला, न्यूयार्लियन्स, चुगक्रियांग, काहिरा (२९) (३१) (३०) (३०) (३०)
४०°	१४ ,, ५१ ,,	लिस्बन, वाशिंगटन, डेनपेयर, पेकिंग, सिनसिनाटी (३६) (३६) (००) (४०) (३९)
५०°	१६ ,, १८ ,,	कीव, विनोयेग, वेनकूवर, (५०) (५०) (४९)
६०°	१८ ,, ३० ,,	वर्जन, हेलसिकी, लेलिनग्राद, ओरवोटस्क (६०) (६०) (६०) (५९)
६६ १/२°	२४ घंटे	हेपारान्डा, वर्खोयानस्क, आर्कन्जल, मेजेन (६६) (६८) (६५)
७०°	६५ दिन	वेरोपोइन्ट, नार्विक, जेनमेयन, एमडर्मा, मुर्मुन्स्क- (७१)
८०°	१३४ दिन	स्पिट्सवर्जन (७८)
९०°	१७७ दिन	समुद्री भाग —भौतिक भूगोल चं० भु० मामोरिया

दक्षिणी गोलार्ध की ग्रीष्मऋतु – अधिकतम दिन की लम्बाई (२२ दिसम्बर)

अक्षांश	दिन की लम्बाई	निकटम स्थान
१०	१२ घण्टा ३५ मि०	लिन्दी, कुपाग, (१०) (१०)
२०	१३ ,, १३ ,,	बुलवायो, ब्लानकरी, दूकीक (२२) (२०) (२०)
३०	१३ ,, ५६ ,,	डर्बन, गेराल्डटन, (३०) (२९)
४०	१४ ,, ५१ ,,	वेलिंग्टन, वाहिया, ब्लेका (४१) (३९)
५०	१६ ,, १८ ,,	सान्ताक्रूज (५०)
६०	१८ ,, ३० ,,	द० आर्कनिज (६१)
६६ १/२	२४ घंटे	
७०	६५ दिन	सेगेस्टीर (७३)
८०	१३४ दिन	लिटल अमेरिका, मेकमुरडोसाउन्ड (७८) (७८)
९०	१८७ दिन	

१. क्लाइमेटोलोजी, ले० आस्टिनमिलर

अठारह और बारह मुहूर्त से छोटे बड़े दिन-रात जिन नगरों में होते हैं वे विदेशों में हैं, दो चार नगर भारत में भी हैं। पेकिंग आदि कुछ नगर ऐसे भी हैं जिनका भारत के साथ भू-मार्ग सम्बन्ध भी है। इन नगरों को जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मानें या बाहर ?—यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विचार करना अनिवार्य है।

उक्त नगरों को जम्बूद्वीप के बाहर तो मान सकते हैं—क्योंकि इन नगरों में अठारह मुहूर्त से बड़े दिन-रात होते हैं। अठारह मुहूर्त से बड़े दिन-रात जम्बूद्वीप में नहीं होते हैं, इस आशय का आगम-पाठ पहले दिया जा चुका है। यदि जम्बूद्वीप के बाहर इन नगरों को मानें तो किस क्षेत्र में मानें ?—इस प्रश्न का समाधान बहुश्रुत सापेक्ष है।

(२) समुद्र की गहराई से योजन का समन्वय :

आधुनिक भूगोल के मानचित्रों में समुद्र की गहराई जिस जगह सर्वाधिक है, प्राचीन योजन के अनुसार उस गहराई का परिमाण एक हजार योजन है। आधुनिक माप से प्राचीन योजन परिमाण का समन्वय करने के लिए यह एक आगम सम्मत उदाहरण है। लवण समुद्र की गहराई मध्य भाग में एक हजार योजन की है। ये योजन शाश्वत माने गये हैं। भरत क्षेत्र के किनारे से पंचानवे हजार योजन दूर लवण समुद्र की सर्वाधिक गहराई है। अतः समुद्र के इस किनारे से सर्वाधिक गहराई की दूरी का भी आधुनिक माप से समन्वय किया जा सकता है।[1]

(३) महातपोपतीर प्रभव-प्रश्रवण

भगवान महावीर के समय में राजगृह के बाहर वैभारगिरि की उपत्यका में एक उष्णजल का झरना (कुण्ड) था। इसका नाम था—"**महातपोपतीर प्रभव-प्रश्रवण**"। इसकी लम्बाई चौड़ाई ५०० धनुष की थी।

राजगृह के समीप वैभारगिरि की उपत्यका में गरम पानी का कुण्ड वर्तमान में भी विद्यमान है - ऐसा सुनने में आया है, अतः आधुनिक मापदण्ड से वह जितना लम्बा-चौड़ा हैं, उतनी लम्बाई-चौड़ाई को ५०० धनुष मान लेने में यदि किसी प्रकार की असंगति होती हो तो पुनः चिन्तन किया जा सकता है।

भगवान महावीर के समय में इस प्रश्रवण की लम्बाई-चौड़ाई के सम्बन्धों में गहरा मतभेद था। अन्यतीर्थी कहते थे—इस प्रश्रवण की लम्बाई-चौड़ाई अनेक योजन की है। भगवान महावीर की मान्यता के अनुसार "महातपोपतीर प्रभव-प्रश्रवण" केवल ५०० धनुप लम्बा-चौड़ा ही था।

---

१ (क) लवणे णं समुद्दे ......एगं जोयण सहस्सं उव्वेहेणं।

—**जीवाभिगम प्रति० २ मंदरोद्देश, सूत्र १७२**

(ख) लवणस्स णं समुद्दस्स उभओ पासिं पंचाणउइं २ जोयण सहस्साइं गोतित्थं पण्णत्तं।

—**जीवा० प्रति० ३ सूत्र १७१**

लवण समुद्र मात्रायें २ उंडो थतो २ जेवारे जम्बूद्वीपथी पंचाणु हजार योजन समुद्रमां जइयें अने धातकीखंडथी पण पंचाणु हजार योजन समुद्रमां अवीयें तिहां मध्यभागे हजार योजन उंडोछे।

—**अढीद्वीप नकाशानी हकीकत पृ० १७**

प्राचीन और अर्वाचीन मापदण्ड का समीकरण जानने के लिए "महातपोपतीर-प्रभव प्रश्रवण" का वर्णन अध्ययन करने योग्य है।[1]

(४) लवणसमुद्र में दो लाख योजन लम्बा मार्गः—

एक दिन द्रोपदी के अप्रियव्यवहार से नारदमुनि क्रुद्ध होकर धातकीखण्ड की राजधानी "अवरकंका" को चले गए। महाराजा पद्मनाभ के सामने उन्होंने द्रौपदी के सौन्दर्य की चर्चा की। पद्मनाभ ने मित्रदेव से द्रौपदी का अपहरण करवाया और उसे अन्त:पुर में रख लिया।

द्रौपदी के अपहरण से चिन्तित कुन्ति महारानी ने श्रीकृष्ण को द्रौपदी का पता लगाने के लिए कहा।

श्रीकृष्ण ने कहा—आप चिन्ता न करें, मैं अवश्य पता लगाऊंगा।

एक दिन श्रीकृष्ण अन्त:पुर में सिंहासन पर बैठे-बैठे कुछ चिन्तन कर रहे थे। नारदमुनि भी वहां किसी तरह जा पहुंचे। श्रीकृष्ण ने उनका आतिथ्य-सत्कार किया और द्रौपदी के अपहरण का वृत्तान्त सुनाया।

श्री कृष्ण ने नारदमुनि से कहा—आपकी सब जगह पहुंच है, कहीं द्रौपदी को देखा हो तो बताएँ।

नारदमुनि ने कहा—धातकीखण्ड की राजधानी 'अवरकंका' के अन्त:पुर में मैंने एक स्त्रीरत्न देखा था, संभव है वही द्रौपदी हो।

श्रीकृष्ण ने कहा—महर्षे! ये सब आप ही के काम है?

महर्षि नारद के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को हस्तिनापुर संदेश भेजा- द्रौपदी का पता लग गया है। आप लोग सेनाएँ लेकर लवणसमुद्र के किनारे पहुंचें और वहां मेरी प्रतीक्षा करें।

श्रीकृष्ण भी सेनाएं लेकर लवणसमुद्र के किनारे पहुंच गए। पाण्डवों के साथ वे वहां तीन दिन ठहरे। श्रीकृष्ण के स्मरण करने पर लवणसमुद्र का संरक्षक सुस्थितदेव आया। उसे द्रौपदी के अपहरण का वृत्तान्त सुनाकर कहा—यहां से अवरकंका तक हमारी सेनाओं के जाने योग्य मार्ग बना दें—यह आप का बहुत बड़ा सहयोग होगा।

सुस्थित देव ने लवणसमुद्र के इस किनारे से उस किनारे तक शाश्वत दो लाख योजन लम्बा मार्ग बना दिया।

श्रीकृष्ण उसी मार्ग से अवरकंका तक गए और पद्मनाभ को परास्त कर द्रौपदी को ले आए। लवणसमुद्र के किनारे पहुँचकर श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से कहा—मैं यहां सुस्थित देव की प्रतीक्षा में ठहरा

---

१ अण्णउत्थिया ण भंते! एवमाइक्खंति-जाव-परूवेति-एवं खलु रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ णं महं एगे हरए अघे पण्णत्ते अणेगाइं जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं नाणादुम-संडमंडित उद्देसे सस्सिरीए-जाव-पडिरूवे।

अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि-जाव-परूवामि एवं खलु रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारपव्वयस्स अदूर सामंते-एत्थ णं महातवोवतीर प्पभवे नाम पसवणे पंचधणुसयाणि आयाम-विक्खंभेणं नाणादुम-संडमंडिउद्देसे सस्सिरीए-जाव-पडिरूवे। —भगवती सूत्र श० २ उ० ५

हुआ हूं, आप सब इस नौका से गंगा नदी पार करलें। और मेरे लिए आप में से कोई भी एक भाई नौका लेकर शीघ्र लौटे !

श्रीकृष्ण बहुत देर तक प्रतीक्षा करते रहे किन्तु उनके लिए कोई भाई नौका लेकर नहीं लौटा तो उन्होंने तैरकर गंगा नदी पार की—जो साढ़े बासठ योजन चौड़ी थी।

—ज्ञाताधर्म कथा अ० १६

ज्ञातव्य तथ्य—

(१) द्वारिका से लवणसमुद्र किस दिशा में है और कितनी दूरीपर है ? इसका निर्णय आधुनिक भूगोल के मानचित्र से किया जा सकता है।

(२) लवणसमुद्र के इस किनारे पर द्वारिका है और परले किनारे पर धातकीखण्ड है। दोनों किनारों के मध्य में सुस्थित देव ने मार्ग का निर्माण किया था। अतः यह तो स्वयं सिद्ध है कि दोनों किनारों के मध्य में आद्योपान्त समुद्र ही था। किन्तु वह सेतुमार्ग था या राजमार्ग ?—इसका निर्णय करने लिए किसी आगमपाठ का आधार तो नहीं है पर इतना अवश्य है कि सेनाओं के गमनयोग्य विशाल मार्ग था।

(३) लवणसमुद्र प्रमाणांगुल से दो लाख योजन चौड़ा है, अतः उत्सेधांगुल से तीन क्रोड योजन और आत्मांगुल से दस क्रोड योजन चोड़ा है। सुस्थित देव निर्मित मार्ग इतना ही लम्बा था यह एक निश्चित तथ्य है।

सेनाएँ प्रतिदिन कितने योजन चली और कितने दिनों में अवरकंका तक पहुंची ? —यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है, किन्तु प्रस्तुत चर्चा योजन समन्वय से सम्बन्धित है, इसलिए यहां उपेक्षणीय है।

(४) श्रीकृष्ण ने अवरकंका जाते समय गंगा नदी पार नहीं की थी तो आते समय उन्हें क्यों पार करनी पड़ी तथा सेनाओं ने गंगा नदी पार की या नहीं ?

द्वारिका और समुद्र के बीच में कोई नदी है या नहीं, यदि है तो उस नदी का नाम गंगा ही है या अन्य ?—ये सारे प्रश्न शोध योग्य हैं।

(५) उस शाश्वत गंगा की चौड़ाई शाश्वत साढ़े बासठ योजन की मानी गई है, अब उसका आधुनिक माप जानकर प्राचीन और अर्वाचीन योजन का समन्वय कर लेना संगत प्रतीत होता है।

(५) अर्हन्नक की नौका अनेक शतयोजन तक गई :

अग जनपद की राजधानी चम्पानगरी में "अर्हन्नक" पोतवणिकों में एक प्रमुख वणिक था। एक दिन वह लवणसमुद्र के किनारे पर स्थित गंभीर पट्टण पहुंचा। वहां उसने अपना सारा माल जहाज में भरवाया। अनेक शत-योजन तक उसका जहाज गया और कई द्वीपों मे माल बेचता हुआ वह गंभीर पट्टण लौट आया। वहां से वह मिथिला गया। —ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञातव्य तथ्य—

(१) आगम युग में गंभीर पट्टण व्यापार का प्रमुख केन्द्र रहा है। सामुद्रिक व्यापार के लिए यह नगर प्रसिद्ध था। यहां से माल भरे जहाज अनेक द्वीपों को जाते थे। आधुनिक भूगोल के मानचित्र में इस ऐतिहासिक नगर का अस्तित्व किस जगह है—यह अन्वेपणीय है।

(२) चम्पा से मिथिला समुद्रमार्ग और स्थलमार्ग से कितने योजन दूर है ? अर्हन्नक दोनों मार्गों

से गया-आया था। उसका जहाज अनेक शत योजन गया आया, किन्तु ये योजन शाश्वत माने गए या अशाश्वत ?—इसका निर्णय बहुश्रुत सापेक्ष है।

(६) रत्नद्वीप अगम्य दूरी पर नहीं है :

अंग जनपद की राजधानी चम्पा में माकंदी सार्थवाह के दो प्रिय पुत्र जिनरत्न व जिनपाल रहते थे—वे व्यापार के लिए लवणसमुद्र में ग्यारह वार गए, हरवार अपार अर्थ राशि अर्जित कर लाए। वारहवीं वार भी वे व्यापार के लिए लवणसमुद्र में जाने लगे तो उनके माता-पिता ने कहा—पुत्रो ! जन साधारण की यह धारणा है कि "वारहवीं वार की समुद्रयात्रा निरापद नहीं होती है" अतः अव तक जो धन कमाया है उसी में सन्तोष करो—किन्तु वे दोनों न माने। मना करने पर भी समुद्रयात्रा के लिए चल पड़े। लवणसमुद्र में वे किसी अभीष्ट द्वीप की ओर नौका द्वारा जा रहे थे, दैवयोग से समुद्र में भयंकर तूफान आ गया, जिससे नौका के खण्ड-खण्ड हो गए। वे दोनों एक फलक के सहारे जीवन वचाते हुए रत्न द्वीप पहुँच गए। वहाँ उन्हें रयणादेवी मिली, उसके भवन में वे चिरकाल तक सुख भोगते रहे।

एक दिन रयणादेवी कार्यवश वाहर गई थी, पीछे से वे दोनों भाई घूमते-घूमते दक्षिण दिशा के उद्यान में चल गए। वहाँ उन्हें शूली पर आरोपित एक व्यक्ति दिखाई दिया।

दोनों भाई उसके पास गए शूलारोपित ने कहा—

मैं काकंदी नगरी का निवासी अश्व विक्रेता हूं। तुम्हारे आते ही रयणादेवी ने मुझे शूली पर चढ़ा दिया है। उस ओर देखो ! कितने नर-कंकाल पड़े हैं, ये सव शूली पर चढ़ाए गए थे। एक दिन तुम्हें भी वह अवश्य सूली पर चढ़ाएगी।

घोड़ों के सौदागर की वात सुनकर दोनों भाई घवरा गए। दोनों भाई वोले—प्राणरक्षा का कोई उपाय वताओ।

सौदागर वोला—पूर्व दिशा के उद्यान में एक शैलक यक्ष है, उसकी उपासना करो, वह तुम्हें चम्पानगरी पहुंचा देगा। दोनों भाई पूर्व दिशा के उद्यान में जाकर यक्ष की उपासना में लगे। यक्ष ने दोनों भाइयों से कहा मैं तुम्हें चम्पा पहुंचा दूंगा पर शर्त यह है कि—रयणादेवी की ओर आकृष्ट न होना। दोनों ने यह शर्त स्वीकार करली।

शैलक उन्हें आकाशमार्ग से चम्पा की ओर लेकर चला। रयणादेवी भी उनका पीछा करती हुई उन्हें ललचाने लगी, उसके विरह विलापों से और कटाक्षों से एक भाई आकृष्ट हो गया। शैलकने अपनी शर्त के अनुसार उसे नीचे गिरा दिया। रयणादेवी ने उस विचलित भाई के खड्ग से खण्ड-खण्ड करके उसे समुद्र में गिरा दिया। दूसरा भाई जो अविचल रहा, उसे चम्पा पहुंचा दिया—**ज्ञाताधर्मकथा अ० ६**

ज्ञातव्य तथ्य—

(१) माकंदी सार्थवाह के पुत्रों ने वारह वार व्यापारयात्राएँ जिन द्वीपों की करी, वे सव लवण समुद्र में ही थे, रत्नद्वीप भी अगम्य दूरी पर नहीं था। उस युग में माकंदी पुत्र गए थे तो आज का गवेषक भी जा सकता है।

(२) रयणादेवी का दिव्यभवन तो शाश्वत है, उस युग में दिखाई दिया था तो आज भी दिखाई दे सकता है। रयणादेवी यदि अव नहीं भी रही है तो स्थापन्न देवी तो अवश्य है ही। शैलक यक्ष भी वहां है उसे देखकर तो रत्नद्वीप को पहचानना सरल है।

(३) माकंदी पुत्रों की नौका अनेक शत योजन गई थी। ये योजन शाश्वत माने गए हैं या अशाश्वत ? इसका निर्णय बहुश्रुत ही कर सकते हैं किन्तु मेरी अल्पमति के अनुसार ये अनेक शत योजन अशाश्वत ही हैं। क्योंकि ये योजन समुद्र के परिमाण सूचक नहीं है। नौका कितनी दूर गई यह बताने के लिए यहां अनेक शत योजन कहे हैं—इसलिए ये अशास्वत योजन हैं अर्थात् उस युग के व्यवहार योजन हैं।

(४) अनेक शत का अभिप्राय है सौ से अधिक और सहस्र से कम। यहां सामान्य कथन लोक व्यवहार की भाषा के अनुसार है फिर भी माकंदीपुत्रों की नौका चारसौ पांचसौ योजन तो अवश्य गई होगी। अन्वेषण कार्य के लिए यह आनुमानिक परिमाण भी सहायक सिद्ध हो सकता है। यांत्रिक नौकाओं के इस युग में चार सौ पांच सौ योजन की कोई खास दूरी नहीं मानी जाती।

(५) रत्नद्वीप में अनेक भारतीय व्यक्ति गए थे। जिनके कंकाल दक्षिण दिशा के उद्यान में पड़े थे। *काकंदी नगरी का एक अश्व विक्रेता भी वहां गया था। उसी ने माकंदी पुत्रों को शैलक यक्ष* की उपासना के लिए कहा था।

इन तथ्यों का आधार लेकर यदि गवेषणा कार्य किया जाए तो रत्नद्वीप की दूरी का यथार्थ ज्ञान संभव है।

रत्नाकर और स्वर्ण का भण्डार कालिक द्वीप :

हस्तिशीर्ष नगर में अनेक सांयात्रिक रहते थे, वे अपनी-अपनी नौकाओं में माल भरकर किसी अभीष्ट द्वीप की ओर जाना चाहते थे। किन्तु समुद्र में जाते जाते एक जगह नाविक……दिग्मूढ हो गए। कुछ समय पश्चात् जब उनकी दिग्मूढता दूर हुई तो वे कालिक द्वीप पहुंचे। वहां उन्हें हीरा, पन्ना, सोना, चांदी आदि अनेक मूल्यवान पदार्थों की खानें और उत्तम अश्व मिले तो उनकी प्रसन्नता का पारावार न रहा अपनी-अपनी नौकाओं में मूल्यवान खनिज भर-भर कर वे सब गंभीर पट्टण पहुंचे और वहां से हस्तिशीर्ष नगर आगए।
—ज्ञाता० अ० १७

ज्ञातव्य तथ्य :—

(१) आधुनिक भूगोल के मानचित्र में ऐसे द्वीप की तलाश की जाए जिसमें हीरा आदि रत्नों की तथा स्वर्ण आदि बहुमूल्य खनिजों की खानें हों, उसे आगम का कालिकद्वीप मान कर लवणसमुद्र के किनारे उसकी दूरी जान ली जाए। आगमानुसार कुछ सो योजन दूर कालिक द्वीप है।

(२) शोधकार्य से यदि ऐसे द्वीप की उपलब्धि हो जाए तो इस भौतिक युग में जैनागमों का व्यापक प्रभाव जन-जन के मानस पर छा जाए। और भारत की आर्थिक समृद्धि के लिए सहसा स्वर्ण युग आ जाए।

लवणसमुद्र के द्वीप समूह :

वाणिज्य ग्रामवासी विजयमित्र सार्थवाह ने जहाज में माल भरवा कर लवणसमुद्र के किसी द्वीप समूह की ओर प्रस्थान किया, किन्तु अचानक तूफान आ जाने से उसका जहाज टूट गया और वह भी समुद्र में समाहित हो गया। —विपाक अ० १

ज्ञातव्य तथ्य :—

(१) वाणिज्य ग्राम की आधुनिक भूगोल में गवेषणा और वहां से लवणसमुद्र की दूरी का पता लगाया जाए।

(२) निष्कर्ष यह है कि भरत की सीमा से लवणसमुद्र लगा हुआ है। वर्तमान भूगोल में चाहे उसे अरबसागर, हिन्द महासागर या और किसी नाम से अंकित करें।

मुगलकाल के मापदण्ड :

मुगल काल में माप के लिए कुछ माप दण्ड निर्धारित किए गए थे। उनमें से कतिपय माप दण्ड वर्तमान में भी प्रचलित है।

(१) **गज**—यह फारसी भाषा का शब्द है। यह तीन फुट या ३६ इंच का माना जाता है। वस्त्र व्यवसाय, सिलाई, बढ़इगिरी, भवननिर्माण और कृषि आदि अनेक व्यवसायों में इसका उपयोग प्रचलित है। बीचका ब्रिटिशकाल समाप्त हो गया है किन्तु "गज" के मापदण्ड का प्रयोग समाप्त नहीं हुआ है। यद्यपि इसका स्थानापन्न आधुनिक मापदण्ड का प्रचलन भी प्रगतिपर है पर यह भी निश्चित है कि जनता इसे एक शताब्दी तक तो नहीं भूलेगी। मुगलकालका यह "गज" चार शताब्दी बाद भी अपनी गजगति से गतिशील है। मुगलकाल में इसका पेमाना क्या था—जनता आज उसे भूल गई है। ब्रिटिशकाल के फुट या इंचों से इसका माप जो प्रचलित है वह अंग्रेजों की समीकरण नीतिका ही द्योतक है।

(२) **जरीब**—यह भी फारसी भाषा का शब्द है। इसका उपयोग केवल कृषि भूमि के माप में होता है। जरीब के अनेक माप दण्ड राजस्थान, मध्य भारत आदि प्रान्तों में प्रचलित है।

(१) १३२ फुट का एक जरीब,
(२) १५० फुट का एक जरीब,
(३) १५२ फुट का एक जरीब,
(४ १६५ फुट का एक जरीब।

इनमें शाहजहानी जरीब का प्रचलन प्रसिद्ध है।

गट्ठा, विश्वा, बीघा और एकड़ के माप को जानने के लिए यह तालिका है।

एक गट्ठा—६ फुट सवा सात इंच का,
दस गट्ठा—१ जरीब,
चार जरीब—१ बिघा,
एक गट्ठा लम्बा और एक गट्ठा चौड़ा एक विश्वा
दस गट्ठा लम्बा और दस गट्ठा चौड़ा एक बीघा
एकड़—एक बीघा और बारह विस्वा,

ब्रिटिशकाल के माप दण्ड :—

"इन्च" और "फुट" तो प्रसिद्ध हैं ही अधिक दूरी के माप के लिए फर्लांग और मील का माप प्रचलित है।

दशमलव प्रणाली के मापदण्ड :

प्रतिवर्ष प्रकाशित होनेवाली डायरियों में अंग्रेजों के जमाने की माप प्रणाली और दशमलव माप प्रणाली की तुलनात्मक तालिका प्रकाशित होती रहती है—इसलिए यहां अंकित नहीं की गई है।

मुगलकाल, ब्रिटिशशासन काल और आधुनिक दशमलव प्रणाली में "योजन" या योजन के समकक्ष माप का प्रयोग प्रचलित नहीं है, फिर भी चार कोश के योजन की मान्यता प्राचीन काल के समान

ही वर्तमान काल में प्रचलित है, किन्तु युगानुमार परिवर्तित माप-दण्डों से प्राचीन और अर्वाचीन योजन के परिमाण में जो परिवर्तन आ गया है, उसका समन्वय करना आगमवचनों पर आस्था स्थिर करने के लिए अनिवार्य है।

आगम वचनों पर अनास्था क्यों ?

आगमों के आधुनिक विद्वान भूगोल-खगोल के वर्णनों को वीतरागवाणी न मान कर प्रक्षिप्त मानते हैं। और जैनागमों के मर्मज्ञ बहुश्रुत भी प्राचीन योजन के समन्वय में उपेक्षा कर रहे हैं, इसलिए जैनागमों में वर्णित भौगोलिक परिमाणों पर युवा वर्ग की आस्था उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। इसका अनुभव सभी जैन सम्प्रदायों के अग्रणियों को हुआ है और जैनागमों में वर्णित भौगोलिक मान्यताओं का वैज्ञानिक समन्वय करने के लिए विशिष्ट प्रयत्न किए जाने लगे हैं—यह शुभ चिह्न है।

(१) स्वतन्त्र भारत की राजधानी देहली में स्वर्गीय मुनिश्री त्रिलोकचंदजी की स्मृति में **जैन त्रिलोक शोध संस्थान** की स्थापना हुई है, इसका उद्देश्य है—जैनागमों में वर्णित भूगोल-खगोल का वैज्ञानिक पद्धति से समन्वय। इस शोध संस्थान से जैन संघ को अनेक आशाएँ हैं।

(२) श्वे० मूर्तिपूजक मुनि श्री अभयसागर जी महाराज के सत्प्रयत्न से महेसाणा में **भूभ्रमण शोध संस्थान** स्थापित हुआ है। यहां से मुनि जी की लिखी हुई अनेक प्रचार पुस्तिकाएँ प्रतिवर्ष प्रकाशित होती रहती हैं। आप भूगोल-खगोल के प्रकाण्ड पण्डित हैं। आपकी प्रेरणा से पालिताणा में अढाई द्वीप निर्माण का कार्य चल रहा है।

(३) भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश भाग ३ में लोकस्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक के नीचे अनेक उपशीर्षकों में जो विचार प्रस्तुत किए हैं उनमें से कुछ अंश यहां उद्धृत किए हैं :—

(१) जैन व वैदिक भूगोल काफी अंशों में मिलता है। वर्तमान भूगोल के साथ किसी प्रकार भी मेल बैठता दिखाई नहीं देता परन्तु यदि विशेषज्ञ चाहें तो इस विषय की गहराइयों में प्रवेश करके आचार्यों के प्रतिपादन की सत्यता सिद्ध कर सकते है।

(२) वर्तमान भूगोल को (जिसका आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है) भी अवहेलना करना या उसे विश्वास योग्य न मानना भी युक्त नहीं। अतः समन्वयात्मक दृष्टि से विचार कर आचार्य प्रणीत सूत्रों का अर्थ करना योग्य है।

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के अग्रणियों के प्रयत्न प्राचीन और अर्वाचीन योजन आदि के माप दण्डों का समन्वय करने के हो रहे हैं। आशा है इन प्रयत्नों का सुफल यह हो कि—जैनागमों में प्रतिपादित भूगोल खगोल पर सभी आस्थावान् हों—इसी शुभाशा के साथ विश्रान्ति।
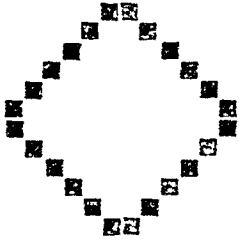
जैन-रहस्यवाद :

एक विश्लेषण

—श्रीमती पुष्पलता जैन एम. ए. बी-एड. रिसर्चस्कालर

व्यक्ति और सृष्टि के सर्जक तत्त्वों की गवेषणा एक रहस्यवादी तत्त्व है और संभवतः इसीलिये चिन्तकों और शोधकों में यह विषय विवादास्पद बना है। अनुभव के माध्यम से किसी सत्य और परम आराध्य को खोजना इसकी मूलप्रवृत्ति रही है। इस मूलप्रवृत्ति की परिपूर्ति में साधक की जिज्ञासा और तर्कप्रधान बुद्धि विशेष योगदान देती है।

रहस्यवाद का क्षेत्र असीम है। उस अनन्तशक्ति के स्रोत को खोजना ससीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है। अतः ससीमता से असीमता और परम विशुद्धता तक पहुँच जाना तथा चिदानन्द-चैतन्यरस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इसलिए रहस्यवाद का प्रस्थान बिन्दु संसार है जहां प्रात्यक्षिक और अप्रात्यक्षिक सुख-दुःख का अनुभव होता है और चरम लक्ष्य परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। जहां पहुंचकर साधक कृतकृत्य हो जाता है और अपना भवचक्र समाप्त कर लेता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग ही रहस्य बना हुआ है।

उक्त रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व आधार बनाये जा सकते हैं :—

१. जिज्ञासा या औत्सुक्य,
२. संसारचक्र में भ्रमण करनेवाले आत्मा के स्वरूप,
३. संसार का स्वरूप,
४. संसार से मुक्त होने के उपाय,
५. मुक्त-अवस्था की परिकल्पना।

आदिकाल से ही रहस्यवाद अगम्य, अगोचर गूढ़ और दुर्बोध्य माना जाता रहा है। वेद, उपनिषद्, जैन और बौद्ध साहित्य में इसी रहस्यात्मक अनुभूतियों का विवेचन उपलब्ध होता है। यह बात अलग है कि आज का रहस्यवाद शब्द उस समय तक प्रचलित न रहा हो। 'रहस्य' सर्वसाधारण विषय है। स्वकीय अनुभूति उसमें संगठित है। अनुभूतियों की विविधता मत विभिन्नता को जन्म देती है। प्रत्येक

अनुभूति वाद-विवाद का विषय बना। इस प्रकार एक ही सत्य को पृथक्-पृथक् रूप में उसी प्रकार अभिव्यंजित किया गया जिस प्रकार छह अंधों के द्वारा हाथी के अंगोपांगों की विवेचना की गई। कबीर ने इस चीज को सरल और सरस भाषा में प्रस्तुत किया है। उन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम और उसकी अनुभूति को "गूँगे का-सा गुड़" बताया है—

"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय।
गूँगे केरि सरकरा, बैठा मुसकाई।"

रहस्यवाद शब्द अंग्रेजी "Mycsiticism" का अनुवाद है, जिसे प्रथमतः सन् १९२० में श्री मुकुटधर पांडेय ने छायावाद विषयक लेख में प्रयुक्त किया था। प्राचीन काल में इस संदर्भ में आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहां साधक परमात्मा, आत्मा, स्वर्ग, नरक, राग-द्वेप आदि के विपय में चिन्तन करता था। धीरे धीरे आचार और विचार का समन्वय हुआ और दार्शनिक चिन्तन आगे बढ़ने लगा। कालान्तर में दिव्य शक्ति की प्राप्ति के लिए परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण और अनुसरण होने लगा। उस 'परम' व्यक्तित्व के प्रति भाव उमड़ने लगे और उसका साक्षात्कार करने के लिए विभिन्न मार्गों का आचरण किया जाने लगा। जैनदर्शन का रहस्यवाद भी इसी पृष्ठभूमि में दृष्टव्य है।

रहस्यवाद की परिभाषा समय, परिस्थिति और चिन्तन के अनुसार परिवर्तित होती रही है। प्रायः प्रत्येक दार्शनिक ने स्वयं से सम्बद्ध दर्शन के अनुसार पृथक् रूप से चिंतन और आराधना किया है। और उसी साधना के बल पर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषाएँ भी उनके अपने ढंग से अभिव्यञ्जित हुई हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर विचार किया है। बर्ट्रेन्डरसेल का कहना है कि रहस्यवाद ईश्वर को समझने का प्रमुख साधन है। इसे हम स्वसंवेद्य ज्ञान कह सकते है। जो तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है।[1] फ्लीडर रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति मानता है।[2] प्रिंगिल पेटीशन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति चरम सत्य के ग्रहण करने के प्रयत्न में होती है। इससे आनन्द का आश्वासन होता है। बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना उसका दार्शनिक पक्ष है और ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द उपभोग करना उसका धार्मिक पक्ष है। ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है।[3] यहां रहस्यवादी अनुभूति को ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानी गयी है।

आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर मंथन किया है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैत-वाद कहते हैं। भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है।" डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा की है "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का

---

1. Mysticism and Logic-Page .6-17
2. Nysticism in Religion by Dean Inge P-25
३. वही, भक्तिकाव्य में रहस्यवाद—डॉ० रामनारायण पाण्डेय, पृ० ६

प्रकाशन है। जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"[1]

और भी अन्य आधुनिक विद्वानों ने रहस्यवाद की परिभाषाएँ की हैं। उन परिभाषाओं के आधार पर रहस्यवाद की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

(१) आत्मा और परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति।
(२) तादात्म्य।
(३) विरह-भावना।
(४) भक्ति, ज्ञान और योग की समन्वित साधना।
(५) सद्गुरु और उनका सत्संग

प्रायः ये सभी विशेषताएँ वैदिकसंस्कृति व साहित्य में अधिक मिलती हैं। जैन रहस्यवाद मूलतः इन विशेषताओं से कुछ थोड़ा दूर था। उक्त परिभाषाओं में साधक ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाता है। पर जैन धर्म ने ईश्वर का स्वरूप उस रूप में माना नहीं, जो रूप वैदिक संस्कृति में प्राप्त होता है। वह हमारी सृष्टि का कर्ता-हर्ता और धर्ता नही है। इसी भिन्नता के कारण शायद प्राचीन परंपरा में जैन दर्शन को नास्तिक कह दिया गया था। वहाँ नास्तिकता का तात्पर्य था, वेद-निंदक, परन्तु यह वर्गीकरण नितान्त आधारहीन था। इसमें तो जैन और बौद्धों के अतिरिक्त वैदिक शाखा के ही मीमांसा और सांख्य-दर्शन भी इस नास्तिक की परिभाषा की सीमा में आ जायेंगे। प्रसन्नता का विषय है कि आज विद्वान् नास्तिक की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते। नास्तिक वही है, जिसके मत में पुण्य और पाप का कोई महत्व न हो। जैनदर्शन इस दृष्टि से आस्तिक दर्शन है। उसमें स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि व्यवस्था स्वयं के कर्मों पर आधारित है। उसमें ईश्वर अथवा परमात्मा साधक के लिए दीपक का काम अवश्य करता है।

जैन दर्शन की उक्त विशेषता के आधार पर रहस्यवाद की आधुनिक परिभाषा को हमें परिवर्तित करना पड़ेगा। जैन चिंतन शुभोपयोग को शुद्धोपयोग की प्राप्ति में सहायक कारण मानता अवश्य है। पर शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाने पर अथवा उसकी प्राप्ति के पथ में पारमार्थिक दृष्टि से उसका कोई उपयोग नही। इस पृष्ठभूमि पर हम रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते है।

अध्यात्म की चरम सीमा की अनुभूति रहस्यवाद है। यह वह स्थिति है, जहां आत्मा विशुद्ध परमात्मा बन जाता है और वीतराग होकर चिदानन्द रस का पान करता है।

रहस्यवाद की परिभाषा जैन साधना की दृष्टि से प्रस्तुत की गयी है। जैन साधना का विकास यथासमय होता रहा है। यह विकास तत्कालीन प्रचलित जैनेतर साधनाओं से प्रभावित रहा है। इस आधार पर हम जैन रहस्यवाद के विकास को निम्न भागों में विभाजित कर सकते है—

(१) आदिकाल—प्रारंभ से लेकर ई० प्रथम शती तक।
(२) मध्यकाल—प्रथम-द्वितीय शती से ७-८ वीं शती तक।

---

१. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६

३०

(३) उत्तरकाल ८ वीं ६ वीं शती से आधुनिक काल तक।

(१) आदिकाल—वेद और उपनिषद् में ब्रह्म का साक्षात्कार करना मुख्य लक्ष्य माना जाता था। जैन रहस्यवाद, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, ब्रह्म अथवा ईश्वर का ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करता। यहाँ जैन-दर्शन अपने तीर्थंकर को परमात्मा मानता है और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर स्वयं को उसी के समकक्ष बनाने का प्रयत्न किया जाता है। वृषभदेव, महावीर आदि तीर्थंकर ऐसे ही रहस्यदर्शियों में प्रमुख हैं।

इस काल को सामान्यतः जैनधर्म के आविर्भाव से लेकर प्रथम शती तक निश्चित कर सकते हैं। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर आदिनाथ ने हमें साधनापद्धति का स्वरूप दिया। उसी के आधार पर उत्तरकालीन तीर्थंकर और आचार्यों ने अपनी साधना की। इस संदर्भ में हमारे सामने दो प्रकार की साधनाएँ साहित्य में उपलब्ध होती हैं।

(१) पार्श्वनाथ परम्परा की साधना

भगवान पार्श्वनाथ जैनपरंपरा के २३ वें तीर्थंकर कहे जाते हैं। भगवान महावीर, जिन्हें पालि साहित्य में निगण्ठनाथपुत्त के नाम से स्मरण किया है। वे लगभग २५० वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे। त्रिपिटक में उनके साधनात्मक रहस्यवाद को चातुर्याम संवर के नाम से अभिहित किया गया है। ये चार संवर इस प्रकार थे—

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अचौर्य,
४. अपरिग्रह

उत्तराध्ययन आदि ग्रंथों में भी इनका विवरण मिलता है। पार्श्वनाथ के इन व्रतों में से चतुर्थ व्रत में ब्रह्मचर्य व्रत अन्तर्भूत था। पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण के बाद इन व्रतों के आचरण में शैथिल्य आया और फलतः समाज ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होने लगा। पार्श्वनाथ की इस परम्परा को जैन परम्परा में पार्श्वस्थ अथवा पासत्थ कहा गया है।

(२) निगण्ठनाथपुत्त परम्परा

निगण्ठनाथपुत्त अथवा महावीर के आने पर इस आचारशैथिल्य को परखा गया। उसे दूर करने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का विभाजन कर निम्नांकित पंचव्रतों को स्वीकार किया—

१. अहिंसा
२. सत्य
४. अचौर्य
४. ब्रह्मचर्य,
५. अपरिग्रह

महावीर के इन पंचव्रतों का उल्लेख जैन आगम साहित्य में तो आता ही है पर उनकी साधना के जो उल्लेख पालि साहित्य में मिलते हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

महावीर की रहस्यवादी परम्परा अपने मूलरूप में लगभग प्रथम सदी तक चलती रही। उसमें कुछ विकास अवश्य हुआ, पर वह वहुत अधिक नहीं। यहाँ तक आते-आते आत्मा के तीन स्वरूप हो गये। अन्तरात्मा, वहिरात्मा और परमात्मा। साधक वहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। दूसरे शव्दों में आत्मा और परमात्मा एक हो जाता है—

तिपयारो सो अप्पा परंमतरवाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चएहि वहिरप्पा॥[1]

इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य निस्संदेह प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते है। उन्होने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थों मे इसका सुन्दर विश्लेपण किया है।

२. मध्यकाल

कुन्दकुन्दाचार्य के वाद उनके ही पदचिन्हो पर आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, मुनि योगेन्दु आदि आचार्यो ने रहस्यवाद का अपनी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार विश्लेपण किया। यह दार्शनिक युग था। उमास्वति ने इसका सूत्रपात किया था और माणिक्यनन्दी ने उसे चरम विकास पर पहुँचाया था। इस वीच जैन रहस्यवाद दार्शनिक सीमा में वद्ध हो गया। इसे हम जैन दार्शनिक रहस्यवाद भी कह सकते है। दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्य विकास के साथ एक उल्लेखनीय विकास यह था कि आदिकाल मे जिस आत्मिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया था, और इन्द्रियप्रत्यक्ष को परोक्ष कहा गया था, उस पर इस काल में प्रश्न-प्रतिप्रश्न खड़े हुए। उन्हें सुलझाने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यहां निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से विश्लेपण किया गया। साधना के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

इस युग में मुनि योगेन्दु का भी योगदान उल्लेखनीय है। इनका समय यद्यपि विवादास्पद है फिर भी हम लगभग ८ वी, ९वी शताव्दी तक निश्चित कर सकते है। इनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ निर्विवाद रूप से हमारे सामने है—(१) परमात्मसार और (२) योगसार। इन ग्रंथो में कवि ने निरंजन आदि कुछ ऐसे शव्द दिये है जो उत्तरकालीन रहस्यवाद के अभिव्यंजक कहे जा सकते है। इन ग्रन्थो में अनुभूति का प्राधान्य है—

परमेश्वर से मन का मिलन होने पर पूजा आदि निरर्थक हो जाती है, क्योंकि दोनों एकाकार होकर समरस हो जाते है।

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु विमणस्स।
वीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स॥[2]

३. उत्तरकाल :

उत्तरकाल में रहस्यवाद की आचारगत शाखा में समयानुकूल परिवर्तन हुआ। इस समय तक जैनसंस्कृति पर वैदिक साधकों, राजाओं और मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा घनघोर विपदाओं

१. मोक्खपाहुड—कुन्दकुन्दाचार्य ४
२. योगसार, १२,

के वादल छा गये थे। उनसे वचने के लिए आचार्य जिनसेन ने मनुस्मृति के आचार को जैनीकृत कर दिया, जिसका विरोध दसवीं शताब्दी के आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू में मन्दस्वर में किया। लगता है तत्कालीन समाज उस व्यवस्था को स्वीकार कर चुकी थी। जैन रहस्यवाद की यह एक और सीढ़ी थी, जिसने उसे वैदिक संस्कृति के नजदीक ला दिया।

जिनसेन और सोमदेव के वाद रहस्यवादी कवियों में मुनि रामसिंह का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। उनका 'दोहापाहुड' रहस्यवाद की परिभाषाओं से भरा पड़ा है। शिव-शक्ति का मिलन होने पर अद्वैतभाव की स्थिति आ जाती है और मोह-विलीन हो जाता है।

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहि सयलु-जगु वुज्झइ मोह विलीणु ॥५५॥

मुनि रामसिंह के वाद रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का कुछ और विकास होता गया। इस विकास का मूलकारण भक्ति का उद्रेक था। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष महाकवि वनारसीदास जैसे हिन्दी जैन कवियों में देखा जा सकता है। नाटक समयसार; मोहविवेक—युद्ध, वनारसीविलास आदि ग्रंथों में उन्होंने भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के जिस समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है वह देखते ही वनता है। 'सुमति' को पत्नी और चैतन को पति वनाकर जिस आध्यात्मिक विरह को उकेरा है, वह स्पृहणीय है। आत्मा रूपी पत्नि और परमात्मा रूपी पति के वियोग का भी वर्णन अत्यंत मार्मिक वन पड़ा है। अंत में आत्मा को उसका पति उसके घर (अन्तरात्मा) में ही मिल जाता है। इस एकत्व की अनुभूति को महाकवि वनारसीदास ने इस प्रकार वर्णित किया है—

पिय मोरे घर मैं पिय मांहि। जल तरंग ज्यों दुविधा नांहि॥
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति॥
पिय सुख सागर मैं सुख-सींव। पिय सुख-मंदिर मैं शिव-नींव॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवल वानि॥[1]

ब्रह्म-साक्षात्कार रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियों में अन्यतम है। जैन साधना में परमात्मा को ब्रह्म कह दिया गया है। वनारसीदास ने तादात्म्य अनुभूति के सन्दर्भ में अपने भावों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

"वालक तुहँ तन चितवन गागरि कूटि,
अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, वालम ॥१॥
पिय सुधि पावत वन में पैसिउ पेलि,
छाड़त राज डगरिया भयउ अकेलि, वालम ॥"२॥[2]

रहस्यवादात्मक इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त समग्र जैन साहित्य में, विशेषरूप से हिन्दी जैन साहित्य में और भी प्रवृत्तियां सहज रूप में देखी जा सकती हैं। वहां भावनात्मक और साधनात्मक दोनों

१ वनारसीविलास, पृष्ठ १६१
२ वही, पृष्ठ २२८

प्रकार के रहस्यवाद यथास्थान उपलब्ध होते हैं। मोह-राग-द्वेप आदि को दूर करने के लिए सतगुरु और सत्संग की आवश्यकता तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना की अभिव्यक्ति हिन्दी जैन रहस्यवादी कवियों की लेखनी से बड़ी ही सुन्दर, सरल और सरसभापा में प्रस्फुटित हुई है। इस दृष्टि से सकलकीर्ति का आराधना प्रतिवोधसार ; जिनदास का चेतनगीत, जगत राम का आगमविलास, भवानीदास का 'चेतन सुमति सज्झाय' भगवतीदास का, योगीरासा, रूपचन्द का परमार्थगीत, द्यानतराय का द्यानतविलास, आनंदघन का आनन्दघन वहोत्तरी, भूधरदास का भूधरविलास आदि ग्रंथ विशेप उल्लेखनीय हैं।

जैन रहस्यवाद के उक्त विश्लेपण से यह स्पष्ट है कि जैन रहस्यवादी साधना का विकास उत्तरोत्तर होता गया है, पर वह विकास अपनी मूल साधना के मूलस्वरूप से उतना दूर नहीं हुआ जितना बौद्ध साधना का स्वरूप अपने मूल स्वरूप से उत्तरकाल में दूर हो गया। यही कारण है कि जैन रहस्यवाद ने जैनेतर साधनाओं को पर्याप्तरूप से प्रवल स्वर में प्रभावित किया है। इसका तुलनात्मक अध्ययन मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से किया जाना अभी शेप है। इस अध्ययन के वाद, विश्वास है, रहस्यवाद के क्षेत्र में एक नया मानदंड प्रस्थापित हो सकेगा।

●

बुद्धि-बल चाहिए··· ··· ···

संसार में तीन प्रकार के वल बताये गये हैं

१ बुद्धिवल

२ शरीरवल

३ धनवल

बुद्धिवल सवसे उत्तम है· शरीरवल उससे और धनवल उससे भी पीछे—निम्न स्तर के हैं। बुद्धिवल देवत्व का प्रतीक है, मनुष्यता का रक्षक है। शरीरवल पशुता का प्रतीक है। मनुष्य के मस्तिष्क को 'हिरण्यमय कोष' कहा है। बुद्धिहीन मनुष्य और पशु में क्या अंतर है? जीवन में शरीरवल और धनबल भी उपयोगी है, पर कब? जब बुद्धि बल हो! शरीर पर वस्त्र और अलंकार भी शोभा देते हैं पर कव? जब उसमें प्राण हो!

हजारों लाखों धनिकों और पराक्रमी पुरुषों पर एक दुवला पतला बुद्धिमान शासन कर सकता है।

—मधुकर मुनि

भक्तामर-स्तोत्र की विविधपक्षीय दिव्यता
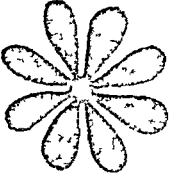
—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०

(प्रवाचक एवं अध्यक्ष-अनुसन्धान विभाग
संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली—७)

स्तुतियों की आवश्यकता :

मानव-जन्म में आगत प्राणी पद-पद पर सङ्कटों का सामना करता है। कई वार वह आर्त होकर सहायक को खोजता है, तो कभी किसी ज्ञान विशेप के लिये वह आकृष्ट होता है। लौकिक घात-प्रत्याघातों के कारण उमड़ आनेवाले अभावों के वादल जव उसकी पार्श्वभूमि को घेर लेते है, उस समय का तो कहना ही क्या ? संसार मे जो सहायक मिलते है वे 'अन्ध-वधिर-संयोग' जैसे होते है। 'एक वाँधता है तो दूसरी टूटती है' इस प्रकार अभावों की शृंखला कभी किसी दिन, किसी भी रूप से व्यवस्थित नही हो पाती; अतः गुरु-प्राप्ति के वाद मानव एक मात्र अशरण-शरण, अकारण-करुणाकरणपरायण परमात्मा की शरण ग्रहण करता है।

शरण में पहुँचने के पश्चात् वह सोचता है कि—'मुझे क्या कहना चाहिये ? किस प्रकार कहना चाहिये ?' क्योकि जो सांसारिक आश्रयदाता थे उन्हें तो 'मामा, काका, नाना, माता, पिता' आदि कह कर काम चलाया, किन्तु यहाँ तो मुझ जैसे एक-दो, चार-छः ही नही है; अपितु अनन्तानन्त जीव अपनी-अपनी माँगे लेकर खडे है, अपनी वाणी में अनेक प्रकार से प्रार्थनाएँ तथा प्रभु के गुणगान कर रहे हैं। अतः विचार-सागर मे खोया हुआ वह प्राणी कुछ समय तो मूक रहता है, पर 'माँगे विना मिलेगा नहीं, और वोले विना चलेगा नही' ऐसा निश्चय करके कुछ वोलता है। जैसे-जैसे वह आशाओ को अंकुरित होते देखता है, वैसे ही उसकी वाणी विविध शृंगार सजने लगती हे ओर वही 'स्तुति' के नाम से मानव-जीवन की एक आवश्यकता वन जाती है। उसकी आवश्यकता का विस्तार इसी से आँका जा सकता है कि—'विश्व के समस्त धर्मों में स्तुतियों की प्रधानता है।'

स्तुति की परिभाषा :

उपर्युक्त कथन के अनुसार स्तुति अथवा स्तोत्र इष्टदेव के प्रति कृतज्ञताज्ञापन अथवा आत्म-निवेदन का रूप है। तथापि पूर्वाचार्यो ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि—'स्तोत्र स्तोतव्य देवता के स्तुति करने योग्य गुणों का कीर्तन है' (जैमिनीय न्यायमाला), अतः प्रशसार्थक 'स्तु' धातु का अर्थ उसमें निहित है। 'स्तुति, स्तोत्र और स्तवन' ये शब्द समानार्थक हे। स्तोत्र में जो स्तोतव्य के गुणों का आख्यान

होता है, वह असत् नहीं होना चाहिये'—यह सूचित करते हुए अन्य आचार्यों का कहना है कि—'आराध्य के उत्कर्पदर्शक गुणों का वर्णन ही स्तोत्र कहलाता है; यदि उसमें यह गुण न हो और मिथ्या कथन ही हो तो उसे 'प्रतारण' कहते है। इसलिये ऐसे गुण ईश्वर में ही हो सकते है, अतः ईश्वर ही स्तोतव्य है। (—अणुभाष्य) इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि—'प्रत्येक मन्त्र-पद्य में जो छन्दोवद्ध गुण कीर्तन होता है, उसका नाम स्तोत्र है।'

स्तोत्र के प्रकार :

नमस्कारस्तथाऽऽशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थना चेति षड्विधं स्तोत्रलक्षणम् ॥

इस तन्त्रोक्त पद्य के अनुसार स्तोत्र के छह प्रकार मिलते है—१—नमस्कारात्मक, २—आशीर्वादात्मक, ३—सिद्धान्त प्रतिपादनात्मक, ४—पराक्रम वर्णनात्मक, ५—विभूति स्मरणात्मक एवं ६—प्रार्थनामूलक। अन्य दृष्टि से स्तोत्र के १—आराधना, २—अर्चना और ३—प्रार्थना ऐसी तीन रीतियाँ वताई हैं। और स्पष्टता करते हुए कहा गया है कि—जिसमें आराध्य के रूप, गुण और ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन हो, वह **आराधना स्तोत्र**, भाव-भक्ति मूलक द्रव्य पूजा के प्रकारों द्वारा ईश्वर के कर्तृत्व और कृतित्व का जिसमें विश्लेपण हो, वह **'अर्चना-स्तोत्र'** तथा आराध्य विपयक प्रशंसा, प्रार्थी की दयनीयता और हीनता के प्रदर्शन के साथ अनुकम्पा-प्राप्ति के लिये कहे गये वचनों का जिसमे सग्रह हो, वह **प्रार्थना-स्तोत्र** कहलाता है। अन्य आचार्यों ने **'द्रव्यस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, विधिस्तोत्र** और **अभिजनस्तोत्र'** ऐसे चार भेद भी किये है। कुछ शक्तिशाली भक्तो ने 'उपालम्भ' स्तोत्र भी वनाये है। परमात्मा के अनन्त नामों में 'स्तोत्र' भी माने गये है और तदनुसार ही सहस्रनाम, अष्टोत्तर शतनाम एवं नामाक्षरस्तोत्र भी पर्याप्त हैं और वे भी स्तोत्र की ही कोटि में आते है। तन्त्र शास्त्रों में मन्त्र के जो प्रकार दिये है, उनमे 'स्तोत्र' को भी मन्त्र का एक प्रकार माना है। 'शारदातिलक' में कहा गया है कि—

द्विसहस्राक्षरा मन्त्राः खण्डशः शतधा कृताः।
ज्ञातव्याः स्तोत्ररूपास्ते मन्त्रा एते यथास्थिताः ॥१०७॥

ये स्तोत्र जव अष्टक आदि संख्याओं के आधार पर, अकारादि वर्णो के आधार पर, छन्द, उत्सव, धर्म, अनुग्रह, निग्रह, विनय, काल, क्रिया और किसी अन्य विपय विशेप के आधार पर निर्मित होने से अनेक प्रकारों के प्राप्त होते है। तन्त्र शास्त्रों में मन्त्रगर्भ, वीजगर्भ, गाथागर्भ, आदि स्तोत्र भी अनेक है। साहित्यशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्र विपय गर्भ भी स्तोत्र वने है।

महाप्राभाविकस्तोत्र :

दृढ़निष्ठा, अनन्यश्रद्धा एवं अनन्यविश्वास के आधार पर स्तोतव्य के गुणों की अनुभूति करता हुआ आराधक उन गुणों को अपने अन्तरंग में विकसित करने के लिये प्रयत्न करता है। उन गुणों का निरन्तर मनन करना ही मन्त्र कहलाता है। अतः ऐसे स्तोत्रों की मन्त्रमयता हो सकती हे अथवा नहीं? इस सम्वन्ध में विचार करने से ज्ञात होता है कि 'मन्त्र' और 'स्तोत्र' ये दोनों भिन्न-भिन्न नियमों पर आश्रित हैं। मन्त्र में वर्ण और पदों की आनुपूर्वी नियमित होती है। स्तोत्रों में आनुपूर्वी का विशेप प्रतिवन्ध नहीं रहता और उनमें एक ही आशय को विभिन्न पदों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। मन्त्र

और स्तोत्र में यही आधारभूत वैषम्य है ; किन्तु यहाँ यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि—जिस स्तोत्र में आनुपूर्वी का क्रमशः पालन किया जाए उसे मन्त्र कह सकते हैं क्या ? इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि—**नास्ति मन्त्रमनक्षरम्**—अर्थात् कोई मन्त्र अक्षर से रहित नहीं होता है, अतः जो अक्षर अथवा वर्ण हैं वे सभी मन्त्र ही हैं। स्तोत्र में यदि आनुपूर्वी होती है तो वह मन्त्ररूप होता है। इसके अतिरिक्त कुछ स्तोत्रों में साधक अपनी प्रवुद्ध चेतना का आधान भी करता है जिसके परिणाम स्वरूप उसकी प्रधान तपश्चर्या के कारण वे स्तोत्र मन्त्ररूप वन जाते हैं।

पूर्वाचार्यों द्वारा अनन्यभावपूर्वक की गई स्तुतियाँ इस प्रकार महाप्राभाविक वनती है और उनका भक्ति एवं विधिपूर्वक पाठ करने से सर्वविध सौख्य एवं दुःखदारिद्रयादि का नाश प्रत्यक्ष दृष्ट है। प्रत्येक सम्प्रदाय में ऐसे स्तोत्र हैं और उनका उपासक नित्य पाठ करते हैं, यह सर्वविदित है।

जैनधर्म और स्तोत्र :

जैनधर्मानुयायी पूर्वाचार्यों ने अनेक रूप में स्तोत्रों की रचना की है। मुनिराजों ने अपने साधु-जीवन की सार्थकता और विद्या का उत्तम उपयोग स्तोत्र-रचना में ही माना है, यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। यही कारण है -जैनस्तोत्र समुच्चय, स्तोत्रसन्दोह, प्रकरणरत्नाकर जैसे अनेक ग्रन्थों में देखने पर—आलङ्कारिक स्तुतियाँ, चित्रवन्धमूलक स्तुतियाँ, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, योग, भेपज, आभाणक एवं शास्त्र विषय प्रतिपादनात्मक स्तुतियां आदि प्राप्त होती हैं। अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा इनमें एक विशेपता यह रही है कि इनमें शृङ्गार का प्रायः अभाव रहता है तथा हिंसा से सम्वद्ध वर्णनों का भी अभाव रहता है। अतः यथार्थ स्तुतियों के लक्षणों से युक्त इन स्तुतियों में भक्ति और भाव की प्रधानता के साथ-साथ काव्य रचना के उदात्त गुणों का भी समावेश मिलता है।

भक्तामरस्तोत्र :

ऐसे स्तोत्रों में आठवीं शती के समर्थ आचार्य श्रीमानतुङ्गसूरि की महनीय रचना **'भक्तामर-स्तोत्र'** है। इस स्तोत्र की दिव्यता के विविध पक्ष हैं जिनमें काव्य-कला, मन्त्र शास्त्रीय महनीयता, सिद्धि-दायकता आदि महत्त्वपूर्ण है। परमशासनप्रभावक श्रीमानतुङ्गसूरिजी ने भक्तामर-स्तोत्र की रचना करके ४४ लोहशृंखलाओं तथा वेड़ियों से मुक्ति प्राप्त की थी और जिनशासन का जय जयकार किया था, यह वात सर्वप्रसिद्ध है। यही कारण है कि आलोचक इसे स्पर्धाजन्य मानते हैं तथा कुछ विद्वान् इस वात को केवल प्रभाववर्धक मानते हैं। इसमें सत्य क्या है ? यह तो ईश्वर ही जाने, किन्तु इस सम्वन्ध में विचार-विमर्श के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि किसी भी स्तुतिकार की स्तुति के लिये होनेवाली प्रवृत्ति और उससे मिलनेवाले लाभों के सम्वन्ध में श्रीसमन्तभद्राचार्य के 'स्वयम्भूस्तोत्र' में वताये अनुसार भावना वनती है। वे कहते है—

> **स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तथा,**
> **भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।**
> **किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रेयसपथे,**
> **स्तुयान्न त्वां विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥**

अर्थात्—स्तुति का अपना फल न होने पर भी स्तुति करनेवाले साधु के कुशल परिणाम के लिये होती है। अतः जगत् में स्वाधीन और सुलभ ऐसे कल्याणमार्गरूप इस स्तुति के लिये हे नमि-

नाथ ! कौन विद्वान् प्रवृत्त न हो ? इसीलिये स्तुति फल दे, अथवा न दे किन्तु उससे मिलनेवाले सुखद परिणाम तो सभी के द्वारा वाञ्छनीय है।

इसी प्रकार स्तुतिकार की तुलना दीपक में जलती हुई वाती के साथ की जाती है। उपासना करनेवाला भव्यजीव स्वयं में शुद्ध स्वरूप विकसित करने के लिये—जिस प्रकार बत्ती दीपक की उपासना करती हुई तैलादि से सज्जित हो उसकी आराधना में तन्मय वन जाती है उसी प्रकार स्तोता भी आत्मार्पण करके तदाकार वन जाता है।

भक्तामरस्तोत्र की रचना में स्वयं स्तोत्रकार ने 'अमर-प्रणत और भवजलपतित जीवों के आलम्बन होने के कारण भक्तिवश होकर उसकी प्रेरणा से ही मैं स्तुति करता हूं—यह स्पष्ट कहा है। पाप का क्षय, अज्ञानान्धकार का नाश भी इसमें अन्य हेतु हैं तथा यह स्तोत्र यदि स्तवनीय गुणों से युक्त न हो तव भी आपका नामस्मरण, गुणचिन्तन—संकथा मात्र ही दुरितनिवारण करती है, इस दृष्टि से स्तोत्र रचना हुई है अतः यह स्पर्धाजन्य काव्य नहीं है।

प्राचीनकाल में आचार्यों की कृति का महत्त्व वढ़ाने के लिये ऐसी स्पर्धाकथाएँ बहुत प्रचलित थी; उनमें **'सूर्यशतक'** की रचना द्वारा मयूर कवि के कुष्ठरोग की निवृत्ति, **'चण्डीशतक'** द्वारा वाणकवि के लुंज-पुंज शरीर का पुनः संघटन, नौवी शती के कवि वज्रदत्त द्वारा रचित **अवलोकितेश्वर शतक'** से कुष्ठ निवारण, सिद्धसेन दिवाकर रचित **'कल्याणमन्दिर स्तोत्र'** द्वारा उज्जयिनीस्थ महाकालेश्वर की मूर्ति का फटकर उसके स्थान पर श्रीपार्श्वनाथ की मूर्ति का प्रकटन, ग्यारहवीं शती के कवि अभयदेवसूरि रचित **'जयतिहुयण'** स्तोत्र द्वारा उनके रोग का निवारण एवं श्रीपार्श्वनाथ की गुप्तमूर्ति का प्राकट्य, एक अन्य वौद्ध कवि रचित ९९ स्तोत्र पद्यों द्वारा नरमेध यज्ञ के लिये एकत्र किये गये ९९ व्यक्तियों की मुक्ति और पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निर्मित **'गंगालहरी'** पाठ से गंगा के जल का ५२ सीढ़ियों के ऊपर चढ़ना आदि प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि ऐसे कथानकों में तनिक भी अतिशयोक्ति अथवा मिथ्योक्ति नहीं प्रतीत होती, क्योंकि आज भी ऐसे स्तोत्र-प्रार्थनाओं द्वारा संकटों का निवारण होता है। अतः 'भक्तामर-स्तोत्र' पहले भक्तिमूलक स्तोत्र है और इसकी यह घटना आनुषंगिक हो ऐसा प्रतीत होता है।

भक्तामर-स्तोत्र के पद्य

दिगम्बर-जैन सम्प्रदाय में इस स्तोत्र के ४८ पद्य हैं जवकि श्वेताम्बर-जैन सम्प्रदाय में ४४ पद्य ही माने जाते हैं।। इस सम्बन्ध में कुछ ऊहापोह 'भक्तामर कल्याणमंदिर नमिऊण-स्तोत्रत्रयम्' की भूमिका में श्री हीरालाल रसिकदास कापड़िया ने, आगमोद्धारक आचार्य श्रीसागरानन्दसूरि ने तथा 'भक्तामर- रहस्य' में शतावधानी पं० धीरजलाल टोकरसी शाह ने किया है और ४४ पद्य ही मूलतः इस स्तोत्र के हैं, ऐसा मत व्यक्त किया है।

इस सम्बन्ध में इन पंक्तियों के लेखक ने भी कुछ प्रयास किया और प्राचीन पाण्डुलिपियों का अवलोकन करते हुए एक प्रति भी प्राप्त की, जिसमें लिखा था कि 'भक्तामरस्य चत्वारि गुप्तगाथाः'। (यहाँ चत्वारि के स्थान पर 'चतस्रः' होना चाहिये था) इन गुप्तगाथाओं के साथ इनकी प्रयोग विधि भी संलग्न है। इन चार पद्यों के आदि चरणों के प्रतीक इस प्रकार हैं—

१—यैः संस्तुवे गुणभृतां सुमनो विभाति,
२—इत्थं जिनेश्वरसुकीर्तयतां जनो ते,
३—नानाविधं प्रभुगुणं गुणरत्नगुण्या,
४—कर्णोऽस्तु तेन न भवानभवत्यधीराः ।

ये पद्य दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रचलित ४८ पद्यों में आये हुए पद्यों की अपेक्षा नवीन हैं अतः कदाचित् ये गुप्त हों यह स्वाभाविक है, किन्तु इन श्लोकों की साधना का जो क्रम दिखलाया है उसमें श्वेत यज्ञोपवीत कण्ठ में धारण करने और रात्रि मे हवन करने का विधान है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय से इन्हें पृथक् सिद्ध करता है।

इधर पालीताणा के 'श्री जिनकृपाचन्द्रसूरि-ज्ञानभण्डार' द्वारा मुद्रित गुणाकरवृत्ति युक्त भक्तामरस्तोत्र की भूमिका में श्री जिनविजयसागरजी ने लिखा है कि—'जिनेश्वराणामष्टौ इति वृद्धसम्प्रदायः' अर्थात् जिनेश्वरों के आठ प्रातिहार्यो में से ४ प्रातिहार्यों के पद्यों को उनकी प्रभावशालिता के कारण लाभालाभ का विचार करते हुए दीर्घदर्शी पूर्वाचार्यो ने भण्डारों में गुप्त कर दिये है, अब वे दुर्लभ है और यदि प्रयास करने पर मिल भी जाएँ तो उनका उपयोग नही करना चाहिये। और इसकी पुष्टि मे कहा है कि—भक्तामरस्तोत्र के इन पद्यों के समान ही 'उवसग्गहरं' स्तोत्र की एक गाथा, 'जयतिहुयण-स्तोत्र' की दो गाथाएँ, 'अजितशान्तिस्तोत्र' की २ गाथाएँ और 'नमिऊण-स्तोत्र' की स्फुलिंग सम्बन्धी दो गाथाएँ भी पूर्वाचार्यो द्वारा किसी विशेष कारण से ही गुप्त रखी गई है। अतः यह विषय संशयास्पद ही है।

भक्तामर-स्तोत्र की समस्यापूर्तियाँ :

सम्भवतः 'मेघदूत' के पश्चात् 'भक्तामर-स्तोत्र' ही एक ऐसा काव्य है जिसकी ख्याति काव्यानुरागियों का कण्ठहार बना हुआ है। जब कोई रचना अपने विशिष्ट गुणों से सर्वप्रिय बन जाती है जो अन्य कविजन उसके सहारे अपनी वाणी को पवित्र करने का प्रयास करते है। इस स्तोत्र के पदों को आश्रय बनाकर समस्यापूर्ति के माध्यम से आज तक प्रायः २५ से अधिक काव्यों की रचना हुई है, जिनकी सूची इस प्रकार है—

नाम	कर्ता	विशेष
१—श्रीवीरभक्तामर	श्रीधर्मवर्धनगणी	चतुर्थ चरणपूर्ति
२—श्रीनेमिभक्तामर	श्रीभावप्रभसूरि	"
३—श्रीसरस्वती भक्तामर	श्रीधर्मसिंहसूरि	"
४—श्रीशान्तिभक्तामर	श्रीलक्ष्मीविमल	४५ पद्य, "
५—श्रीपार्श्वभक्तामर	श्रीविनयलाभगणी	४५ पद्य, "
६—श्रीऋषभभक्तामर	श्रीसमयसुन्दर (१)	४८ पद्य,
७—श्रीऋषभभक्तामर	श्रीविवेकचन्द्रगणी (२)	
८—श्रीप्राणप्रिय भक्तामर	श्रीरत्नसिंह सूरि	४८ पद्य, चतुर्थ चरणपूर्ति
९—श्रीदादापार्श्व-भक्तामर	श्रीराजसुन्दर मुनि	प्रथम चरणपादपूर्ति
१०—श्रीजिन भक्तामर	श्रीरत्नविमल मुनि	चतुर्थ चरणपूर्ति
११—श्रीऋषभदेव जिनस्तुति	अज्ञात नामा	प्रथम पद पर अन्य तीन चरणपूर्ति
१२—श्रीभक्तामरस्तोत्र पादपूर्ति	नवरत्नगिरिधरशर्मा	१९२ चरणों की पूर्ति

१३—श्रीनेमिवीर भक्तामर	श्रीबाबुराम जैन शास्त्री	चरण क्रमानुसारी पूर्ति
१४—श्रीवल्लभ भक्तामर	श्रीविचक्षणविजय	चतुर्थ चरणपूर्ति
१५—श्रीसूरीन्द्र भक्तामर	श्रीचतुरविजय	,,
१६—श्रीआत्म भक्तामर	पं० हीरालाल हंसराज	,,
१७—श्रीहरि भक्तामर	श्रीकवीन्द्रसागर	,,
१८—श्रीचन्द्रामलक भक्तामर	श्रीजयसागर सूरि	,,
१९—श्रीनेमि (गुरु) भक्तामर	विजयधर्म धुरन्धर सूरि	,,
२०—श्रीकालु भक्तामर (१)	मुनि सोहनलाल	,,
२१—श्रीकालु भक्तामर (२)	श्रीकानमल स्वामी	,,
२२—कर्तव्यपट्त्रिंशिका	आचार्य तुलसी	(कतिपयांश पूर्ति)
२३—भक्तामरशतद्वयी	पं० लालारामशास्त्री	चतुर्थ चरणपूर्ति
२४—भक्तामरस्तोत्र पादपूर्ति	?	काव्यमाला गुच्छ १ में प्रकाशित
२५—लघुभक्तामर सप्तपद्यमय	?	,, ,, ,,
२६—आदिनाथस्तुति	प्राचीन आचार्य ?	प्रथम पद्य के चार पदों की पूर्ति

इनके अतिरिक्त जयमाला, भक्तामरोद्यापन, भक्तामरपूजा, भक्तामरचरित, भक्तामरमहामण्डल-पूजा तथा भक्तामर कथा आदि अनेक ग्रन्थ इस स्तोत्र की महत्ता प्रदर्शित करते हैं। इस ग्रन्थ पर लगभग २५ प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं और अनेक अनुवाद भी इसके हुए हैं।

मन्त्रशास्त्रीय विशेषता :

आचार्य श्रीमानतुंगसूरि एक महान् मान्त्रिक, ज्योतिष आदि शास्त्रों के पारदर्शी तथा परम उपासक थे, यह बात उनके स्तोत्रों से स्पष्ट है। प्राकृत भाषा में उनके द्वारा रचित 'भत्तिब्भरस्तोत्र' में उन्होंने ऐसे अनेक चमत्कारिक विषयों का समावेश किया है और तन्त्रसाहित्य से सम्बद्ध बहुत-सी जानकारियाँ इसकी गाथाओं में प्रस्तुत हुई हैं। इसीलिये भक्तामर स्तोत्र के टीकाकारों ने वृद्धसम्प्रदाय एवं अपने बुद्धिबल के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रयोग, विभिन्न कथाएँ, इसके पद्यों के साथ बने हुए यन्त्र आदि की प्रक्रिया को देखकर सभी को आश्चर्य होता है। श्रीमानतुंगसूरि की स्थिति के समय देश में मन्त्रवाद का अत्यधिक प्रचार था। श्रीशङ्कराचार्य की 'सौन्दर्य-लहरी' में भी मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र और योग का निर्देश प्राप्त होता है। तत्कालीन मयूरभट्ट के शतकों में यह पद्धति नहीं है, क्योंकि वे पाण्डित्य प्रकर्ष के पोषक हैं।

भक्तामर-स्तोत्र की साधना के प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्यों ने 'वृद्धसम्प्रदाय' के आधार पर प्रति पद्य के यन्त्र एवं उसके साथ-साथ ऋद्धि एवं मन्त्रों की योजना दिखाई है। ४८ पद्यों के भिन्न-भिन्न प्रयोगों का निर्देश करते हुए ऐसे यन्त्रों की तीन परम्पराएँ प्राप्त होती हैं। एक परम्परा में जो यन्त्र हैं उनमें प्राय: सभी यन्त्र चतुष्कोणात्मक हैं और उनके मध्य में "वृत्त, चतुष्कोण, षट्कोण, अष्टदलकमल, षड्दल, दशदल, त्रयोदशदल, षोडशदल, द्वारमण्डल, चतुर्दल, १६ कोष्ठक, कलश, धनुष, चन्द्र, स्वस्तिक, त्रिकोण, षोडशारचक्र, खड्ग, सांगुल पाणितल, दशकोष्ठक, नवकोष्ठक" आदि आकृतियों में बीजमन्त्र, मन्त्र और पद्य लिखे हुए हैं। अन्य परम्पराओं में बीजमन्त्र, ऋद्धिमन्त्र एवं आकृतियों में सामान्य अन्तर है।

इस स्तोत्र का पाठ उपासना-पद्धति से दो प्रकार का होता है १—समग्र स्तोत्र पाठ एवं २—एक-एक पद्य का जपरूप पाठ। तीसरा प्रकार जाप्यमन्त्र सहित पद्यपाठ का भी है। यदि अधिक ध्यान दिया जाए तो इस स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के आसपास सम्पुट लगाकर पाठ करने से चौथा पाठ प्रकार बन जाएगा।

जब साधक को ऐसे स्तोत्र के पाठ से लाभ होता है तो वह अपनी श्रद्धा के अनुसार इसके यन्त्रों की विधिवार प्रतिष्ठा पूजा करके कवच के रूप में सतत कार्यसिद्धि के लिये भी प्रयुक्त करता है। ऐसे कर्मों के लिये भी अनेक विधियाँ निर्दिष्ट हैं। अतः यह मन्त्रशास्त्रीय दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्तोत्र है।

भक्तामर-स्तोत्र की साहित्यिक दिव्यता :

हम देखते हैं कि स्तोत्रकार जब स्तोत्र की रचना करता है तब उसके अन्तर में सर्वोपरि भक्ति विराजमान रहती है। भक्ति के साथ-साथ उसके ज्ञान का परिपाक रसस्रावी बनकर वर्णों को रसान्वित करता है और वे ही रसानुकूल वर्ण पदगुम्फ बनकर छन्द की मधुमती भूमिका पर नाद तत्त्व के साथ नृत्य करने लगते हैं। भक्तामर-स्तोत्र में सहज साहित्य का समावेश अतीव मनोरम है। स्तोत्र कवि भाव के साथ-साथ अनेक शास्त्राम्बुधि के अवगाहन से अधिगत कथन-प्रणालियों को दबा नहीं पाया है। उक्तिवैचित्र्य से आप्लावित इस स्तोत्र में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों के अनुशीलन का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। अनुप्रास के सभी प्रकार, श्लेष के कतिपय अंश और चित्रालङ्कार में "चतुर्दल कमल, स्वस्तिक,चतुरर चन्द्र, पुष्प और वृक्षबन्ध" की योजना "तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ" इत्यादि पद्य से हमने की है। अर्थालंकारों में उपमा की प्रमुखता है। ये उपमाएँ १—आकाशीतत्त्व, २—पृथ्वी और आकाश के मध्यस्थ तत्त्व, ३—प्राकृतिक सम्पदामूलक तत्त्व, ४—प्राणिजगत् सम्बन्धी, ५—समाज, धर्म और व्यवहार-विषयक तत्त्वों से अनुप्राणित हैं और सभी प्रसिद्ध क्षेत्रों से गृहीत हैं।

भावछाया की दृष्टि से वेद, रघुवंश, पुष्पदन्तकृत महिम्नःस्तोत्र, पुराण, नीतिशतक, श्रीमद्-भागवत के गोपीगीत, कुमार-सम्भव, किरातार्जुनीय, नैषधीयचरित, अभिज्ञानशाकुन्तल, सौन्दरनन्द, महाकाव्य, चण्डीशतक, सूर्यशतक आदि ग्रन्थ के पद्य इनके पद्यों से साम्य रखते हैं ; किन्तु यह कहना कठिन है कि किस तरह किसका किस पर प्रभाव रहा ?

इस प्रकार महाकवि श्रीमानतुंग सूरि विरचित यह भक्तामर-स्तोत्र अपनी विविधपक्षीय दिव्यता के कारण विद्वानों के हृदय को सदा आनन्दित करता रहता है।
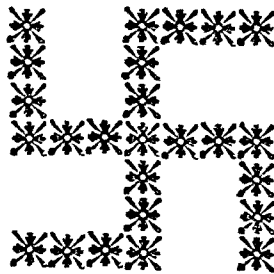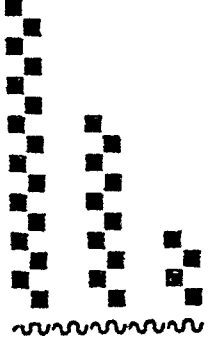
तर्कों की तराजू पर

भूभ्रमण के सिद्धान्तों का मूल्यांकन

—पंन्यास श्री अभयसागरजी मुनि

संग्राहक—(डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी)

यस्तर्केणानुसन्धत्ते :

विद्वज्जनों का यह कहना है कि कोई यह कह दे कि—'यह वात प्राचीन परम्परा से प्राप्त है इसलिये इसका सम्मान होना ही चाहिये' तो यह अच्छा नहीं कहा जाएगा। यदि कोई वात 'नवीन गवेषकों की श्रम-साधना का यह परिणाम हैं' इस लिये यह प्रामाणिक है और इसी आधार पर इसे मान लेना उचित है, तो यह भी उचित नहीं होता। ऐसी स्थिति में परप्रत्ययनेय-बुद्धिता दूसरे के विश्वास पर अपने विचारों को स्थिर करलेने की प्रवृत्ति भी उतनी ही हास्यास्पद होती है। अतएव बुद्धिमान को चाहिये कि वह तर्कों की तराजू पर प्रत्येक सिद्धान्त को वार-वार तोलने-परखने का पूर्ण प्रयास करे।' जिससे सत्य का साक्षात्कार शीघ्र हो सके। इसी कथन के आधार पर हम भू-भ्रमण के वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन प्रस्तुत कर रहे है।

भू-भ्रमण के वर्तमान सिद्धान्त :

(१) कल्पना और निरीक्षण-परींक्षण के आधार पर 'कोपर्निक्स' Copernecus एवं 'गेलेलियो' Galileo तथा उनके अनुयायियों ने पृथ्वी की भ्रमणशीलता का विचार प्रस्तुत किया था, किन्तु न्यूटन ने १६७९ ई० में इस से सम्बद्ध अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम यह कहा था कि—यदि किसी मीनार के सिरे से कोई गेंद गिराई जाए तो वह गेद विलकुल नीचे मीनार के मूल के निकट न गिरकर कुछ पूर्व की ओर हटकर गिरेगी। मीनार का सिरा अपने तले की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से अधिक दूर होता है और इसी कारण उसकी गति भी तेज रहती है। गिरते समय गेंद की गति भी वही रहती है जो मीनार के सिरे की ओर कम नहीं होती। इस कारण गिरते समय गेद तले के निकट न गिरकर आगे वढ़ जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है।

इसी के साथ इन वैज्ञानिकों ने सूर्य को भी गतिशील व्यक्त किया है। अनेक ऊहापोह के पश्चात् जव पृथ्वी को गतिमान् मानने का प्रवाद वढ़ रहा था उन्हीं दिनों अस्सर और टोलेमी ने पृथ्वी को स्थिर वतलाने का प्रयास किया। इधर ब्रुक नामक एक अन्य वैज्ञानिक ने भी यह मान्यता फैलाई

बहने और चलनेवाली वस्तुएँ :

फैरल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नदियां और वायुधाराएँ उत्तरी गोलार्ध में दाहिने और दक्षिणी गोलार्ध में वायें भाग में घूम जाती हैं। ऐसा पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण ही होता है।

समीक्षा—उपर्युक्त कथन में नदी और वायु के प्रवाह का परिवर्तन पृथ्वी की गति के कारण न होकर वातावरण के कारण होता है। गुरुत्वाकर्षण और वातावरण के स्वरूप, प्रकार एवं स्थिति को आज स्वतन्त्र रूप से माना जाता है।

रेल-मोटर आदि यानों की गति :

यह भी कहा जाता है कि—यदि हम तेज गति से चलनेवाली रेल अथवा मोटर से किसी दिशा में यात्रा करें तो उसकी दिशा में सभी वस्तुएँ पीछे की ओर चलती हुई दिखाई देती है। इससे यह स्पष्ट है कि पृथ्वी घूमती रहती है।

समीक्षा—इस आधार पर पृथ्वी की गतिशीलता सिद्ध करना बालकों को समझाना मात्र है, क्योंकि किसी बड़े जंकशन पर ठहरी हुई लोकल ट्रेन में हम जब बैठे होते हैं तब थ्रू-आउट जानेवाली मेल ट्रेन शीघ्रता से जाती हुई मालूम होती है। इससे सूर्य की गति स्वत:सिद्ध है, पृथ्वी की नहीं।

पेण्डुलम वाली घड़ी, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से होनेवाले प्रयोगों के आधार पर पृथ्वी की गतिशीलता को सिद्ध करना भी इसीप्रकार अन्यान्य तर्कों से खण्डित हो जाता है। इतना ही नहीं, पृथ्वी की दैनिक और वार्षिक गति भी तर्कों के सामने टिक नहीं पाती है, क्योंकि जिस बात को आधुनिक वैज्ञानिक पृथ्वी की गति के माध्यम से सिद्ध करते हैं, वही सूर्य की भ्रमणशीलता से सिद्ध हो जाती है। और उसमें व्यर्थ के व्यवधान भी नहीं आते।

पृथ्वी के सम्बन्ध में अन्य धारणाएँ :

संसार में यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'एक असत्य को सिद्ध करने के लिये सौ असत्य और जुटाने पड़ते हैं।' इसी प्रकार पृथ्वी की गतिशीलता को सिद्ध करने के लिये जहां-जहां कठिनाई आई, वहीं नये-नये प्रकल्प खड़े किये गये। उदाहरणार्थ—पृथ्वी को एक ग्रह मानना, सूर्य से पृथग्भूत सूर्यद्रव्य से निर्मित मानना, अण्डाकार मानना, अपनी ही धुरी पर घूमती हुई मानना, एक आकाशीय पिण्ड मानना, सूर्यमाला का अंग मानना आदि।

किन्तु परीक्षण करने पर इन सब में कुछ न कुछ दोष अवश्य ही निहित हैं और कहीं-कहीं तो सभी मान्यताएँ परस्पर वैमत्यवाली हैं। स्वयं वैज्ञानिक ही उनके बारे में संशयारूढ़ हैं। अस्थिर सिद्धान्तों के आधार पर किसी स्थिर सिद्धान्त का खण्डन करना नितान्त अशोभनीय है। इसीलिये कहा गया है कि—**सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः**—अर्थात् बुद्धिमान् किसी वस्तु की परीक्षा करके ही उनमें से सत्य को ग्रहण करते हैं और जो दूसरे के विश्वास पर असत्य को भी सत्य मान लेते हैं वे मूढ़ हैं।

भारत में यह एक फैशन चल पड़ी है कि प्रत्येक तथाकथित पढ़ा लिखा व्यक्ति विदेशों का अन्धानुकरण करने में ही स्वयं को विद्वान् मानता है और उसके लिये वह अपने पूर्वमहर्षियों के अप्रतिम

ज्ञान को काल्पनिक कहकर उसका उपहास करता है। हमने इस दिशा में **'भू-भ्रमणशोध संस्थान-महेसाणा** तथा **जम्बूद्वीप निर्माणयोजना, कपड़वंज'** के माध्यम से गुजराती, हिन्दी संस्कृत एवं अंग्रेजी में छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकों की रचना कर भारतीय भावना को सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया है। साथ ही स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा भी विषय को स्पष्ट रूप से स्थापित कर प्राचीन महर्षियों के वचनों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का भी यत्न किया है।

जैन-साहित्य और विज्ञान :

जिस प्रकार वैदिक एवं अन्य धार्मिक साहित्य में विज्ञान की विशद चर्चा द्वारा अति प्राचीन काल में भी जो प्रामाणिक बातें उपस्थापित हैं उसी प्रकार हमारा जैन साहित्य भी विज्ञान के क्षेत्र में तनिक भी पीछे नहीं रहा है। गम्भीर-विवेचन पूर्वक शास्त्रीय दृष्टि को स्पष्ट करते हुए सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, नदी-नद आदि का वर्णन जिन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है उनका संक्षिप्त नामाङ्कन पाठकों की सुविधा के लिए हम यहाँ देना उपयुक्त समझते हैं। वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

लोक परिचय के लिये

(१) आचारांग सूत्र, १ श्रुतस्कन्ध, २ अध्ययन १ उद्देशक
(२) आवश्य सूत्र, द्वितीय अध्ययन, (क) विशेषावश्यकभाष्य (२ अ०)
(३) स्थानांग सूत्र, १ स्थान, ३ स्थान, ३ उद्देशक, १५३ सूत्र,
(४) सूत्रकृतांग
(५) समवायांग सूत्र प्रथम समवाय
(६) भगवती सूत्र, १३ शतक, ४ उद्देशक, ११ शतक, १० उद्देशक।

लोक के आकारज्ञान के लिये

(१) स्थानांग सूत्र, ३ स्थान, ३ उद्देशक,
(२) भगवती सूत्र ७ शतक, ३ " २६१ सूत्र, तथा १३ शतक, ४ उद्देशक
" " ११ , १० " , ४२० सूत्र, ४८७ सूत्र
(३) आचारांग सूत्र १ श्रुत, ८ अ० , १ उद्देशक

शीलांकाचार्य ने इसकी टीका में भी विचार किया है। इसी सूत्र में 'भूकम्प' पर भी विचार किया है।

तिर्यग् लोक विचार

(१) स्थानांग सूत्र ३ स्थान, २ उद्देशक,
(२) अनुयोगद्वार ३ सूत्र,
(३) सूत्रकृतांग सूत्र १ श्रुत, ५ अध्य० १ उद्देशक

जम्बूद्वीप-विचार

(१) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति,	(२) आवश्यक सूत्र १ अध्ययन
(३) जीवाभिगम सूत्र	(४) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
(५) समवायांग सूत्र	(६) अनुयोगद्वार
(७) सूत्रकृतांग सूत्र	(८) स्थानांग सूत्र २ स्थान, ३ उद्देशक

३२

की—'पृथ्वी गतिशील है और वह सूर्य के चारों ओर घूमती है।' इस सिद्धान्त पर जब-जब कोई विवाद खड़ा किया जाता तो ये लोग अपने मत को बनाये रखने के लिये नई-नई युक्तियाँ ढूँढ निकालते और इस तरह–'१–पृथ्वी का २३½ अंश का झुकाव, २–पृथ्वी के चारों ओर वायुमण्डल की स्थिति एवं ३–गुरुत्वाकर्षण का नियम' ये तीन युक्तियां उनमें प्रमुख रूप से प्रचलित हुईं।

धीरे-धीरे यह सिद्धान्त व्यापक बन गया और इनके आधार पर ही **'पृथ्वी की गतिशीलता'** का सिद्धान्त राजमान्य बन गया।

कोपरनिक्स ने पृथ्वी के परिभ्रमण को सिद्ध करने के लिये तर्क दिया कि—पृथ्वी की यह गति उसके कक्ष एवं अक्ष पर होती है जिसके फलस्वरूप ये गतियाँ दो प्रकार की कही जाती हैं—१–परिक्रमा और २–परिभ्रमण। पृथ्वी जिस मार्ग पर सूर्य की परिक्रमा करती है उसे 'कक्षा' कहते हैं और इस मार्ग से सूर्य की परिक्रमा करने में पृथ्वी को ३६५¼ दिन लगते हैं जो कि वर्ष की अवधि है। प्रत्येक चार वर्ष के बाद एक वर्ष वृद्धि का वर्ष होता है जिसमें एक दिन का अन्तर पड़ता है। परिभ्रमण से तात्पर्य है—पृथ्वी का अक्ष—एक अनुमानित रेखा, जो पृथ्वी को भीतरी केन्द्र से उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव को मिलाती है—पर परिभ्रमण। इस में पृथ्वी अपना एक भ्रमण २४ घण्टे में पूर्ण करती है, जो हमारे दिन की अवधि है। इन्हीं विचारों को पुष्ट करने के लिये पृथ्वी की तीन गतियाँ सिद्धान्ततः स्वीकृत हैं :—

१. पृथ्वी की अपनी धुरी पर घूमने की गति।
२. सूर्य के आस-पास भ्रमण की गति।
३. सूर्य की (पृथ्वी सहित अपने तथा उपग्रहों के साथ) भ्रमण की गति।

आज विश्व के वैज्ञानिकों का मस्तिष्क इसी मान्यता पर केन्द्रित हो गया है और जो प्राचीन-अर्वाचीन विद्वान् इसके विरुद्ध कुछ कहते रहते रहे हैं, उनको अपने प्रचार-प्रसार के बल पर धूमिल बनाते हुए अपना पन्थ बढ़ा रहे हैं।

प्रामाणिकता की कसौटी :

सत्य को छिपाने का दुःसाहस सफल नहीं होता। किसी भी सिद्धान्त को स्थिर करने के कुछ प्रमाण मानने पड़ते हैं जो न्यायाधीश की तरह तर्क-वितर्क के पश्चात् निर्णय करते हैं। विज्ञानवादी केवल वितण्डा के बल पर अपनी ढफली अपना राग आलापते हैं। वे शास्त्र मानते नहीं और जो तर्क उनके सामने रखे जाते हैं उनका उत्तर दे नही पाते। ऐसी स्थिति में हम अन्धानुकरण न करते हुए वास्तविकता से बचें एतदर्थ हम विज्ञान की बात को विज्ञान के ही तर्कों से खण्डित कर सत्य तक ले जाने का प्रयास करेंगे।

मीनार के प्रयोग की दुर्बलता :

जिस प्रकार मीनार से गिराई हुई गेंद पृथ्वी की गति के कारण निश्चित स्थान पर न गिर कर दूर गिरती है तो क्या पृथ्वी से तीर, बन्दूक आदि से किसी ऊँचे स्थान से नीचे और नीचे से ऊँचे स्थान पर लगाये जानेवाले निशान में भी अन्तर आता है? तो इसका उत्तर होगा—'नहीं', यदि ऐसा ही होता तो सभी निशाने बेकार जाते क्योंकि प्रत्येक निशानेबाज दृष्टि की सीधी रेखा को लक्ष्य में रखकर ही निशाना लगाता है। अतः यह प्रयोग दुर्बल है। इसके साथ ही 'वातावरण की तेज गति' का बहाना

लेकर पृथ्वी की गति से उसकी गति में अधिक वेग बतलाकर जो समाधान दिया जाता है वह भी गतिमान् पृथ्वी के निशाने से निःसार सिद्ध होता है।

फोकाल्ट का प्रयोग :

सन् १८५१ ई० में फोकाल्ट ने पेरिस में पेन्थियन गुम्बद से एक हिलती हुई अवस्था में पेण्डुलम लटकाया जो कि भूमि पर खिंचे चिह्न के समानान्तर में कुछ समय तो हिलता रहा, किन्तु कुछ समय बाद उसने अपना मार्ग बदल दिया। कुछ ही घन्टों में चिह्न लम्बवत् और फिर समानान्तर बन गया। चिह्न के समानान्तर होने में इसे प्रायः २४ घण्टे लगे। अतः यह सिद्ध हुआ कि वह मकान पृथ्वी के दैनिक भ्रमण के कारण पेण्डुलम के चारों ओर घूम गया।

समीक्षा—उपर्युक्त प्रयोग में यह विचारणीय है कि पृथ्वी यदि गतिशील है तो जिस गुम्बद से पेण्डुलम को लटकाया गया वह भी पृथ्वी के साथ भ्रमण करेगा, वैसा होने पर पेण्डुलम की रेखाएँ सदा बदलती रहनी चाहिए और समानान्तर रेखाओं पर उसका हिलना तथा उसकी सम-विषम रेखाएँ जबकि दाएं-बाएँ भी पृथ्वी को स्थिर ही प्रमाणित करती है। साथ ही समानान्तर रेखाओं में परिभ्रमण के २४ घण्टे में पूर्ण होने का जो उल्लेख किया है वह ध्रुवप्रदेश में ही संभव है, क्योंकि वहां पृथ्वी की गति के कारण पेण्डुलम का अपनी मूलरेखा पर २३ घण्टे ५६ मिनिट ४ सेकण्ड में आना वर्तमान वैज्ञानिक मानते हैं। किन्तु ध्रुव प्रदेश में जाना कठिन है फिर इस प्रयोग पर कैसे विश्वास किया जाय?

भार-परिवर्तन का प्रमाण :

कहा जाता हैं कि—भूमध्यरेखा पर वस्तुओं का भार कम और ध्रुवों पर उन्हीं वस्तुओं का भार अधिक होता है क्योंकि ध्रुव पर पृथ्वी धीरे-धीरे और भूमध्य रेखा पर तीव्र गति से घूमती है। चूंकि भार का सम्बन्ध आकर्षण शक्ति से है और वह आकर्षण शक्ति ध्रुवों पर अधिक तथा भूमध्य रेखा पर कम होती है। अतः यदि पृथ्वी स्थिर होती तो सभी स्थानों पर पृथ्वी का भार एक समान होता?

समीक्षा—इस कथन में वायु का दबाव ही कारणभूत है, क्योंकि पृथ्वी के मध्यबिन्दु से चारों ओर खींची जानेवाली रेखाएं समान ही बनती है। अतः भूमध्यरेखा और ध्रुवप्रदेश में भार-परिवर्तन की बात पृथ्वी को गतिमान् प्रमाणित नहीं कर सकती।

दिन और रात्रि के प्रमाण :

यह कहा जाता है कि यदि हमारी पृथ्वी स्थिर होती तो दिन और रात सम्भवतः नहीं होते। पृथ्वी के दैनिक भ्रमण के कारण ही जब पृथ्वी का भाग सूर्य के सामने होता है तब दिन और उसके अभाव में रात होती है। दिन और रात की लम्बाई किसी स्थान की अक्षांशी स्थिति पर निर्भर होती है।

समीक्षा—उपर्युक्त प्रमाण से पृथ्वी की गतिशीलता प्रमाणित करना तर्कसङ्गत नही है, क्योंकि गणितशास्त्र के नियमानुसार विशिष्ट परिणामों को सिद्ध करने के अनेक प्रकार होते है। जैसे—९ की संख्या ५+४=९ से भी बनती है। इसी प्रकार ६+३=९, ४+५=९, ७, २-९ अथवा १०—१=९ आदि प्रकारों से भी प्रमाणित की जा सकती है। इसमें किसी प्रकार विशेष को मिथ्या कहने का दुःसाहस कोई बुद्धिमान् व्यक्ति कभी नहीं करेगा।

इस तरह दिन-रात के प्रश्न का समाधान सूर्य की गतिशीलता और मण्डलों में परिभ्रमण आदि से भी सुगमता से सिद्ध है।

भरतक्षेत्र विचार

(१) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ३ वक्षस्कार, ७१ सूत्र
(२) स्थानांग सूत्र ६ वां स्थान,
(३) प्रश्नव्याकरण ४ था आस्रव द्वार

खगोल सम्बन्धी गतिविचार

१—सूर्य प्रज्ञप्ति, २—चन्द्र प्रज्ञप्ति, ३—भगवती सूत्र ४—ज्योतिष्करण्डक ५—काललोक-प्रकाश ६– मण्डल प्रकरण ७—वृहत्संग्रहणी (३ ग्रन्थ) ८—तत्त्वार्थसूत्र

भूगोल पर विचार (प्रकरण ग्रन्थ)

१– लघुक्षेत्र समास २—वृहत्क्षेत्र समास
३—जम्बूद्वीप समास ४—क्षेत्रलोक प्रकाश
५—तत्त्वार्थसूत्र और उसपर श्लोकवार्तिक टीका

इसी में पृथ्वी की गतिमत्ता का खण्डन किया गया है ।

उपर्युक्त आगम एवं प्रकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक आचार्यो ने तथा स्वतंत्र आलोचकों ने इन विपयों पर मुक्तरूप से विचार किया है, जिसे हम विस्तार भय से नहीं दे रहे हैं ।

उपसंहार :

क्षेत्र एवं अन्य भूगोल-खगोल के विपयों पर प्राचीन आचार्यो के वचनों को दृढ़ श्रद्धा वाले लोग ही मान सकते हैं किन्तु सामान्य लोग शास्त्रज्ञान से शून्य होने से चार्वाक—चारु-वाक पर जल्दी रीझ जाते है अतः हम सदैव पहले विज्ञान से विज्ञान का अनौचित्य सिद्ध करने पर वल देते है । जव समझ लेते हैं कि वस्तुतः तर्को की तराजू पर आधुनिक वैज्ञानिकों के कथन हलके उतरते है, तव शास्त्रीय प्रमाण वतलाकर श्रद्धा स्थिर वनाने की वात कहते है ।

शास्त्रीय मान्यताएँ सर्वथा सत्य एवं अकाट्य है किन्तु उन्हें समझने के लिये मेधा की आवश्यकता है और वह भी श्रद्धा एवं गुरुकृपा पर निर्भर है । अतः हमारा निवेदन है कि—

प्रज्ञावलेन परिवीक्ष्य समस्त शास्त्र—
सम्प्रोक्त-वर्णित-सुतर्कित वाक्यराशिम् ।
श्रद्धासमिद्धपरिपावनभावनाभि —
गृह्णन्तु वास्तविकसत्यमिह प्रवुद्धाः !१।।
मा यात लौकिक घटाजटिले पथि स्वां,
वुद्धि निवेश्य च तदङ्गविमृष्टिहीनाः ।
"सत्येन सत्यममलं नितरां चकास्ति"
नासत्यवाङ् मतिमतां मुदमातनोति ।।२।।

● ●
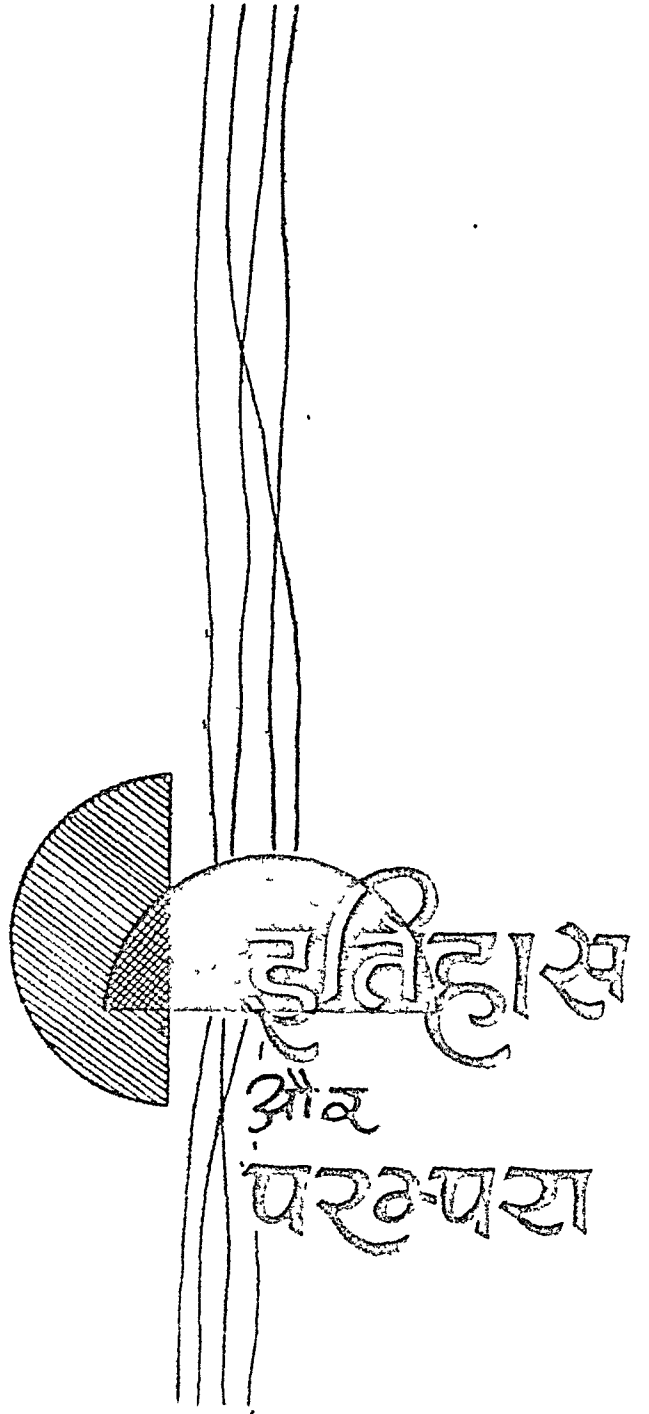
इतिहास
और
परम्परा

● पं० दलसुख मालवणिया

भगवान महावीर के प्राचीन वर्णक

श्रमणधर्म के नायकों, तीर्थंकरों के वर्णन में अरिहंत, अर्हत्, बुद्ध, जिन, वीर, महावीर, तथागत, तीर्थंकर आदि जो अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से अधिकांश सर्वसाधारण थे, फिर भी उनमें से कुछ ऐसे थे जो विशिष्ट संप्रदाय ने विशेष रूप से प्रयुक्त किए। परिणाम यह हुआ कि अन्य संप्रदायों में उनका क्रमशः ह्रास हुआ। इस तथ्य की पुष्टि भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त विशेषणों से भी हो सकती है। प्रस्तुत में तो भगवान महावीर के लिए कालक्रम से प्राचीन जैन आगमों में किस प्रकार के विशेषण प्रयुक्त हुए और किस प्रकार से उनमें से कुछ नाम जैसे बनगए उनका निर्देश करना अभिप्रेत है। इस निर्देश से यह भी प्रासंगिक रूप से सिद्ध होगा कि पालिपिटक में भगवान महावीर के लिए दिये गए विशेषणों का मूल प्राचीनतम आगम में मिलता नहीं है। अतएव वह पालिपिटक से प्राचीन सिद्ध होता है।

पालिपिटकों में :

पालिपिटक में अन्य तीर्थंकरों के साथ भगवान महावीर को भी 'तीर्थंकर' कहा गया है और विशेष रूप से **'सव्वण्णु' 'सव्वदस्सी'** भी कहा है तथा अन्य से पार्थक्य करनेवाला विशेषण **'निग्गन्थ'** भी दिया हुआ है। किन्तु जैनागमों के प्राचीनतम अंश में ये विशेषण भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त नहीं मिला अतएव यह सिद्ध होता है कि आचारांग का प्रथमश्रुतस्कंध पालिपिटक से भी प्राचीन है। भगवान महावीर के लिए ये विशेषण क्रमशः प्रयुक्त होने लगे थे जो काल की दृष्टि से आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के बाद के हैं।

'जिन' शब्द का प्रयोग सभी श्रमणों में साधारण था। गौतम बुद्ध, आजीवक नायक गोशालक तथा अन्य श्रमणों के नायकों के लिए 'जिन' शब्द प्रयुक्त होता था। किन्तु भगवान महावीर के लिए वह विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा अतएव उनके अनुयायी विशेषरूप से जैन नाम से प्रसिद्ध हुए। जैन शब्द से दीर्घकाल तक बुद्ध के अनुयायिओं का भी बोध होता था, किन्तु जब से भारत में से बौद्धों और आजीवकों का लोप हुआ है तब से 'जैन' शब्द केवल भगवान महावीर के अनुयायिओं के लिए रह गया है। 'तथागत' शब्द भी केवल गौतमबुद्ध के लिए ही प्रयुक्त होता हो सो बात नहीं थी। भगवान् महावीर के लिए या जैन तीर्थंकरों के लिए भी वह विशेषण प्रयुक्त हुआ है; किन्तु कालक्रम से

विविह कुलुप्पण्णा साहवो कप्परूक्खा
साधु धरती के जंगम कल्पवृक्ष हैं।

जैनों में से वह लुप्त हुआ और केवल गौतमबुद्ध का ही बोध कराने लगा है। इस तरह शब्दों के अर्थ का संकोच होता है—यह भी इस विचारणा से फलित होगा। यही बात 'अर्हत्' शब्द के विषय में भी है। श्रमणों में अधिक प्रयुक्त होने के कारण वैदिकों ने उस का प्रयोग नहींवत् किया। इस तरह समय-समय पर शब्दों के प्रयोग में मर्यादा देखी जाती है।

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध में, साधक भगवान महावीर के लिए :

तीर्थकर महावीर के जीवन संबंधी प्राचीनतम सामग्री आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में उपलब्ध होती है। उसके प्रारंभिक अध्ययनों में भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह है और अंतिम अध्ययन में भगवान महावीर की साधना का निरूपण है। यहाँ प्रथम उनके साधक जीवन के लिए कौन-से विशेषणों का प्रयोग हुआ है यह देखा जाय—

साधनाकाल में भगवान महावीर अपना परिचय **'भिक्खु'**—'भिक्षु' के रूप में देते रहे यह स्पष्ट है[१]—उनके कुल का परिचय **'नायपुत्त'** और **'नायसुय'** शब्द से मिलता है[२]—किन्तु यह आगे चल कर उनका नाम दर्शक हो गया है। उनके लिए केवल **'मुणि'** ऐसा भी उल्लेख मिलता है[३] जो सामान्य साधक के लिए सामान्यरूप से प्रयुक्त देखा जाता है।

श्रमणो में आचारवंत पुरुषों को—**'ब्राह्मण'** कहना पसंद किया जाता था। इसकी प्रतीति हमें धम्मपद के 'ब्राह्मणवग्ग'[४], से तथा उत्तराध्ययन के १२ वें अध्ययन से होती है। वहां दोनों स्थानों में ब्राह्मण की विस्तृत व्याख्या दी गई है उससे स्पष्ट होता है[५]—कि जन्म से नहीं, किन्तु गुण से ही कोई ब्राह्मण कहलाने योग्य होता है। आचारांग में इसी परम्परा का अवलम्बन करके पुनः पुनः भगवान महावीर को **'माहण'** कहा गया है।[६]

'नाणी'—ज्ञानी[७] और **'मेहावी'**—मेधावी[८] जैसे विशेषण भी उनको दिए गए हैं जो उनकी विशिष्ट प्रज्ञा को प्रकट करते हैं। संयम और तपस्या में पराक्रम के कारण उन्हें **'महावीर'** कहा गया है[९] और उनका यही विशेषण आगे चलकर उनका नाम ही बन गया है। इससे फलित यह भी होता है कि यह नाम उनको देवों ने दिया था ऐसी जो परम्परा है वह बाद में बनी है।

भगवान बुद्ध की तरह भगवान महावीर को भी **'समणे भगवं'**—श्रमण भगवान[१०] उनकी पूज्यता दिखाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। और **'भगवं' 'भगवन्ते' 'भगवया'**—ये तो अनकेशः प्रयुक्त हैं[११] जो सूचित करता है कि लेखक भगवान महावीर से अत्यन्त प्रभावित है।

---

१. आचारांग—९,२,१२ २. वही—९,१,१० ३. वही—९,१,९,२०

४. धम्मपद २६ ५. उत्तराध्ययन १२

६. आचारांग ९, १, २३। ९, २, १६। ९, ३, १४। ९, ४, १७,। ९, २, १०। ९, ४, ३

७. वहीं ९, १; १६ ८. वहीं ९ १, १६

९. वहीं ९, १, १३। ९, ३, ८। ९, ४, ८, १४। ९, २, १। ९, ३, १३

१०. आचारांग ९, १, १।

११. आचारांग ९, १, ४,। ९, १, १५। ९, २, ५ ९, २, ६। ९, २, १५। ९, ३, १२। ९, ३, १६। ९, ४-१-३-५। ९, ३, ७। ९, ४, ९। ९, ४, १२। ९, १, २३।

साधक अवस्था में वे **'छउमत्थे वि'**– छस्द्मथ होते हुए भी[१२] **'अकसाई'**- कपायरहित और **'विगयगेही'** गृद्धिरहित थे[१३] ऐसे वर्णन है।

इससे स्पष्ट होता है कि आचारांग के प्रस्तुत अंश में वे 'भगवान', 'श्रमण भगवान' कहे गए हैं, किन्तु 'तीर्थंकर' विशेषण नहीं मिलता। यहां यह भी ध्यान देने की वात है कि इसके वाद की रचना में भी सामान्य स्थविर आदि अन्य श्रमणों को भी 'भगवान' कहा गया है[१४]। इतना ही नहीं किन्तु, भिक्षु किसी स्त्री को 'भगवती' कह कर पुकारे[१५] ऐसा आदेश है, उससे सूचित होता है कि 'भगवंत' यह शब्द आदर-सूचक है फिर भी उसमें 'नायक' या 'तीर्थंकर' को जो महत्व मिला है वह नहीं है– यह स्पष्ट होता है।

उपदेशक भगवान महावीर के लिए :

आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध के प्रारम्भिक अध्ययनों में भगवान महावीर एक उपदेशक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। अव उन अध्ययनों में उनके लिए जो विशेषण प्रयुक्त हैं, उन्हें देखा जाय—

इस प्रसंग में यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इन अध्ययनों में 'वीर' या 'महावीर' ये विशेषण किसी भी पराक्रमी के लिए प्रयुक्त है; केवल भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त नहीं है। **'ऐगे महावीरा विप्परिक्कमंति'**[१६] **'एवं तेसिं महावीराणं'**[१७] **'तेहिं महावीरेहिं'**[१८] **'एस वीरे पंससिए जे बद्धे पडिमोयए'**[१९] **धीराणं**[२०] इन सव में भ० महावीर अभिप्रेत नहीं हैं किन्तु पराक्रमी महापुरुष अभिप्रेत हैं।

यहां यह भी ध्यान देने की वात है कि साधनाकाल के वर्णन में उन्हें 'वीर', 'महावीर' कहा गया है फिर भी आचारांग के प्रस्तुत संकलन के काल तक उनका 'महावीर' ऐसा नाम प्रसिद्ध नहीं हुआ था। और यह 'महावीर' ऐसा नाम देवों ने दिया है— यह कथा जव से प्रसिद्धि में आई है, उससे पूर्व ही वे 'महावीर' नाम से पहचाने जाने लग गये होंगे यह भी स्पष्ट होता है। किन्तु यह काल आचारांग के प्रस्तुत संकलन से वाद का ही होना चाहिए। पालि में वे केवल **'निग्गंथ नाथपुत्त'** या **नातपुत्त** के नाम से प्रसिद्ध हैं यह भी सूचित करता है कि तव तक भी वे 'महावीर' नाम से प्रसिद्ध नहीं हुए थे।

इसी प्रकार **'बुद्ध'** या **'पबुद्ध'** ये विशेषण भी विशेष ज्ञानी के लिए प्रयुक्त होते थे – यह वात आचारांग के प्रस्तुत अंश से सिद्ध होती है[२१]। यही विशेषण वाद में जाकर भगवान बुद्ध के लिए नाम वन गया है।

साधक की ही तरह उपदेष्टा भगवान महावीर के लिए भी **'नायपुत्त'**[२२] शब्द प्रयुक्त है और **'माहणेण मइमया'**[२३] यह भी देखा जाता है। और **'भगवया पवेइयं'**[२४] जैसे प्रयोग पुनः पुनः देखे जाते

---

१२. वहीं ९, ४, १५
१३. वहीं ९, ४, १५
१४. वहीं २, ७१—
१५. वहीं २, १३४
१६. वहीं १, १७२
१७. वही १, १८५। १, १८८
१८. वहीं १, १८८
१९. वही १, ८६। १, ९८, १, २०४।
२०. वहीं १, १४०
२१. वहीं १, १३९-१७७। ८, ८, २। १, २०४। १, १९०।
२२. वहीं ८, ८, १२
२३. वहीं २, १००। १, २०६।
२४. वहीं १, १-१०-१५-१६-२३-४५-५२-५८-९०-१८५-२१४-२१६-२२०।

हैं। इसके अलावा **'भगवया पवेइयं आसुपन्नेणं जाणया पासया'**[२५] ऐसे प्रयोगों ने उन्हें आशुप्रज्ञ तो कहा ही है, उपरांत उन्हें ज्ञान-दर्शन से युक्त भी कहा है। **'कुसलस्स दंसणं'**[२६] ऐसा कह कर भगवान को कुशल की उपाधि दी गई है।

यहां भी भगवान् को—'तीर्थंकर' नहीं कहा गया यह द्रष्टव्य है। पालि दीघनिकाय जैसे ग्रन्थों में उन्हें 'तित्थकर' कहा गया है, परन्तु यहां नहीं है, यह सिद्ध करता है कि जैनागमों का प्रस्तुत अंश पालि के उन अंशों से प्राचीन हैं। **'मुणिणा पवेइयं'**[२७] में तो उन्हें केवल 'मुनि' कहा गया है।

'अरहंता भगवंतो[२८] से समानधर्मी अनेक अरहंतों की सूचना तो मिलती है उपरांत तीनों काल के अरहंतो का निर्देश सिद्ध कर रहा है कि भूतकाल में भी कुछ ऐसे ही अरहंत हुए थे। बौद्धधर्म के संस्थापक के लिये भी अरहंत विशेषण प्रयुक्त हुआ है[२९]। वस्तुस्थति तो यह है कि मानार्ह पूज्य के लिए वैदिक काल से ही 'अर्हत्' शब्द प्रयुक्त होता था, किन्तु श्रमणों ने जब से इसका प्रयोग अपने पूज्य पुरुषों के लिए विशेपरूप से आरम्भ किया तब से इस शब्द का प्रयोग वैदिकों में कम होते-होते निरस्त हो गया। और केवल श्रमणसंमत महापुरुषों के लिए रूढ़ हो गया।

उपदेशकों के लिए **'खेयण्णेहिं'**[३०] भी देखा जाता है जो आगे के ग्रन्थों में भी चालू रहा है। **'माहण'** की ही तरह **'वेयवी'** वेदवित्[३१] शब्द भी वैदिक आर्यों में जो ज्ञानी के लिए प्रयुक्त होता था वह भी यहां देखा जाता है। इसी तरह **'आरिएहिं पवेइए'**[३२] में 'आर्य' शब्द के द्वारा अपने मान्यपुरुषों को सूचित करने की परम्परा भी देखी जाती है। इसी तरह **'महेसी'**-महर्षि (१६०) भी पूर्व परम्परा का अनुसरण हैं। **'मेहावी'** (१६१) **'पन्नाणमंत'** (१३६, १६०, १७७) जैसे विशेषण भी उपदेशकों के लिए प्रयुक्त है। जिनका प्रयोग आगे चलकर नहींवत् रहा है,किन्तु **'जिण'** (१६२) विशेषण के लिए ऐसा नहीं हुआ। वह तो आगे भी चालू रहा है, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि वह भी भगवान महावीर के लिए विशेप रूप से प्रयुक्त हो ऐसी बात नहीं है. किन्तु वह सामान्यरूप से प्रयुक्त है। **'शास्ता'**[33] विशेषण भगवान महावीर लिए प्रयुक्त यहां देखा जाता है, किन्तु वह भी विशेपरूप से आगे चलकर भ० बुद्ध के लिए प्रयुक्त हुआ है। बहुतायत रूप में वह जिस प्रकार पालिपिटकों में बुद्ध के लिए प्रयुक्त है, वैसा जैनआगमों में देखा नहीं जाता।

सारांश यह है कि यहाँ भी **मुणि,माहण,नायपुत्त** और **भगवा**—ये विशेपण ही भगवान महावीर के उपदेशक जीवन के लिए विशेप रूप से प्रयुक्त हैं।

यहां भी इन्हें **'तित्थयर'** नहीं कहा गया यह ध्यान देने की बात है। 'जिन' शब्द का प्रयोग बौद्धों ने भी बुद्ध के लिए किया है, किन्तु जैनों ने उसका प्रयोग अधिक मात्रा में किया है और बौद्धों ने 'बुद्ध' का। इसी तरह बौद्धों में **'शास्ता'** अधिक प्रचलित हुआ और जैनों में **तीर्थङ्कर** शब्द अधिक प्रचलित हुआ। बौद्धों व बुद्ध को तीर्थंकर क्वचित् ही कहा हो और जैनों ने भी 'बुद्ध' का प्रयोग अपने तीर्थंकरों के

---

२५. आचारांग ८-२००
२६. वहीं १६६
२७. वहीं १, १५३-१५६
२८. वहीं १-१२६
२९. 'पालि प्रोपर नेम्स' में देखे 'अरहंत' शब्द
३०. आचारांग १, १२६
३१. वहीं, १३६
३२. वहीं १४६, २०७, १८७
३३. सत्थारमेव १८८

लिए क्वचित् ही किया हो। इस प्रकार बौद्धों ने 'बुद्ध' और जैनों ने 'तीर्थंकर' शब्द को बाद में अपनाया है।

पालिपिटक में भगवान् महावीर के लिए विशेषरूप से अन्य तीर्थंकरों से पृथक् करके **'सव्वण्णू'** और **'सव्वदस्सावी'** विशेषण दिये हैं, किन्तु ये विशेषण भी आचारांग के इस अंश में भी देखे नहीं जाते अतएव यह कहा जा सकता है कि यह अंश पालिपिटक से प्राचीन है।

'सव्वण्णू-सव्वस्सावी' शब्द का प्रयोग न होने पर भी भ० महावीर और उनके जैसे उपदेशकों के लिए ये शब्द प्रयुक्त देखे जाते हैं—**'समिच्च लोयं खेयन्नेहिं'** (१२६, ३२); **'सम्मत्तदंसिणो'** (१३४); **'पन्नाणमंते'** (१३६, १६०, १८८); **'पासगस्स'** (१४०), **'वेयवी'** (१३६); **'कुसलस्सदंसणं'** (१६६), **'बुद्धेहिं'** (१७७, २०४), **'मेहावी'** (१६१), **'मइमया'** (२००, २०६), **'अहिन्नाणदंसणे'** (६, १, ११), **'नाणी'** (६, १, १६), **'आसुपन्नेण जाणया पासया'** (२००), **'आययचक्खू' 'लोगविपस्सी'** (६३), **'परमचक्खू'** (१५०), **'अइविज्ज' 'सम्मत्तदंसी'** (३, २, १), **'नाणव' 'वेयव' 'पन्नाणेहिं' 'परिजाणइ लोग'** (१०७), **'सव्वसमन्नागय पन्नाणं'** (१५५), **'अभिन्नायदंसणे'** (६, १, ११), **'अणेलिसन्नाणी'** (६, १, १६), **'तहागया'** (३, ३, २)। इनमें से कुछ सर्वज्ञ या समदर्शी के प्रतिपादक हो सकते हैं, किन्तु स्पष्टरूप से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी शब्द प्रयुक्त नहीं हैं—यह ध्यान देने योग्य है।

सूत्रकृतांग—प्रथम श्रुतस्कन्ध में :

आचारांग में भगवान् महावीर के लिए 'वीर' 'महावीर' प्रयुक्त हुआ है, किन्तु विशेषण के रूप में। सूत्रकृतांग में वे नाम बन गए हैं—**'नायपुत्ते महावीरे'**—(१, १, १, २७) **'एवमाहु से वीरे'** (१, १४, २, २२), **'एवमुदाहु निग्गन्थे महावीरे महामुणि'** (१, ६, २४), **'उदाहु वीरे'** (१, १४, ११) **'मुनि'** तो आचारांग मे कहे ही गए हैं किन्तु अब वे **'महामुणि'** बन गए हैं। (१, ६, २४।१,२,२, १५। १, २, १, १४) **'नायपुत्ते'** के अलावा वे अब **'कासव'**—काश्यप नाम से भी प्रसिद्ध हो गए हैं। यह उनका गोत्र था। जिस प्रकार भगवान बुद्ध अपने गौतम गोत्र से प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार भगवान महावीर भी काश्यप नाम से प्रसिद्ध हुए—**'धम्मं पादुरकासी कासवं'** (१, २, २, ७), **'कासवस्स अणुधम्मचारिणो'** (१, २, २, २५। १, २, ३, २०, **'कासवेण पवेइयं'** (१,३,३,२०। १, ४, २१। १,३, ११, ५, ३२। १, १५, २१) **'कासवे आसुपन्ने'** (१, ५, १२; १, ६, ७)। **'नाय' 'नायपुत्त'** उल्लेख भी यहाँ देखा जाता है—**'नायपुत्ते महावीरे'** (१, १, १,२७ ; १, २, ३, २२); **'नाएण'** (१, २, ३, ३१) **'नायसुय'** (१, ६, २); **'समणनायपुत्त'** १, ६, १४, २३), **नायपुत्त** (१, ६, २१, २४)। इसके अलावा उन्हें यहां **'वेसालिए'**—वैशालिक (१, २, ३, २२) भी कहा है।

'जिन' और अरहा' जो कहा है वह तो पूर्व परम्परा से है—१, २, ०, १६। १, २, ३, २२। १, ६, २६। १, ६, २६) यही बात 'भगवान्' के विषय में भी कही जा सकती है—(१, २, ३, २२; १, १६, १। १, २, ३, १४)।

यहाँ एक विशेषता देखने को मिलती है वह है ये प्रयोग—**'भगवाणुसासणं'** (१, २, ३, १४) ; **'जिणसासणपरंमुहा'** (१, ३, ४, ६) ; **'जिणाणं धम्मं'** (, ६, ७) निर्वाणवादिओं में श्रेष्ठ **नायपुत्त** (१, ६, २१) ; **'ऋषियों में श्रेष्ठ'** (१, ६, २२) ; **'जिणवयण'** (१, १४. १३) ; **'जिणाहिय'** (१, ६, ६)। इनसे सूचित होता है कि भगवान महावीर का धर्म, वह जिनों का धर्म या शासन है और उनकी ही तरह

अन्य भी वैसे धर्म के प्रवर्तक हैं यह भी सूचित किया गया है—**वीरेहिं सम्मं पवेइयं** (१, २, १, ११), **'आहु जिणे इणमेव सेसगा'** (१, २, ३ १९), **'जिणाणं तं'** (१, ९, १)। आगे चलकर उनका धर्म जो जैनधर्म के रूप में प्रसिद्ध हुआ, उसका मूल इन प्रयोगों से मालूम हो सकता है। यहाँ केवल बुद्ध के लिए नहीं, किन्तु यथार्थ ज्ञान के किए प्रयुक्त दीखते हैं—'बुद्ध' और 'तथागत' शब्द—(१, ११, २५ ; १, ११, ३६ ; १, १२, १६ ; १, १२, १८ ; १, १५, १८ ; १, १३, २ ; १, १५, २०)। किन्तु ये शब्द जब भगवान बुद्ध के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त हुए तब उनका प्रयोग जैनों में क्रमशः लुप्त होता गया।

भगवान पार्श्व के लिए अन्यत्र प्रयुक्त **'पुरुसादाणिय'** शब्द भी यहाँ देखने को मिलता है—(१, ९, ३४)।

यहाँ भी भगवान महावीर के लिए **'सव्वण्णू'** शब्द का प्रयोग हुआ नहीं है किन्तु **'न नायपुत्ता परमत्थि नाणी'** १, ६, २४ ; **'अणन्तचक्खू'**—१, ६, ६, २५ ; **सव्वदंसी अभिभूयनाणी'**—१, ६, ५ ; **'दंसणनाणसीलो'** १, ६, १४ ; **'अणंतनाणदंसी'** १, ९, २४ ; **'एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तर-नाणदंसणधरे।'**—१, २, ३, २२ ;[1] **'आसुपन्ने'**, ५, १२ ; १, ६, ७ ; **'खेयन्नए से कुसलासुपन्ने अणंतनाणी अणंतदंसी'**—१, ६, ३ ; **'तिलोगदंसी'** १, १४, १६ ; **'जगसव्वदंसिणा'** १, २, ३, ३१।

इनके अलावा जैनपरिभाषा में जिसे श्रेष्ठ ज्ञान समझा गया है उस केवलज्ञान का सूचन यहाँ मिलता है—**'पुच्छिस्सहं, केवलियं महेसी'**—१, ५, १, १ ; **'एवं केवलिणो मयं'**—१, ११, ३८ ; **'केवलियं समाहिं'**—१, १४, १५।

कर्म विचारणा के फलस्वरूप **'दंसणावरणंतए'**—(१, १५, १) महावीर को कहा गया, किन्तु ज्ञानावरण के अन्त की बात नहीं की—यह भी ध्यान देने योग्य है। दर्शनावरण का अन्त करके भगवान महावीर त्रिकालज्ञानी हुए—यह कहा है।

इनके अलावा पूर्व परम्परा का अनुसरण कर के **'निग्गन्थ'** (१, ९, २४), **'माहण'** (१, ११, १। १, ९ १), **'महेसी'** (१, ६, २६), **'परममहेसी'** (१, ६, १७), **'मुणि'** (१, ६, ७), **'पभू'** (१, ६, २८) **'समण'** (१, ६, १४, २३) ऐसे सामान्य विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु इसमें भी **'तीर्थंकर'** पद दिखाई नहीं देता यह ध्यान में रखने योग्य है।

सूत्रकृतांग के १६ वें अध्ययन में ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु, और निर्ग्रन्थ की जो व्याख्याएँ दी गई हैं वे एक दूसरों को अत्यन्त निकट ला देती है। इससे यह प्रकट होता है कि गुणीजनों के लिए इन शब्दों का प्रयोग सर्वसामान्य रूप से किया जा सकता है।

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध :

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भगवान महावीर की साधक पूर्व अवस्था का जो वर्णन किया गया है (२,१७५ से) वह प्रथम श्रुत स्कन्ध में देखा नहीं जाता। इस कमी की पूर्ति इसमें की गई है, ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा। यहां वे **'श्रमण भगवान महावीर'** इस नाम से विशेष प्रसिद्ध हुए

---

१ तुलना करिए —
एवं से उदाहु अणुत्तर नाणी, अणुत्तर दंसी अणुत्तर नाणदंसणधरे। अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए। —**उत्तराध्ययन ६।१८**

देखे जाते हैं। (२.१७५) उनके माता-पिता का दिया हुआ उनका नाम कुमार वर्द्धमान था, यह भी यहाँ स्पष्ट होता है (२.१७६) किन्तु देवों ने उनको 'महावीर' नाम दिया—यह परंपरा भी इसमें देखी जाती है (२.१७७)। उनके नाम का पूरा वर्णन है—**'समणे भगवं महावीरे नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले'** (२.१७९) इसके अलावा पूर्व परंपरा से आने वाले **जिण** (२.१७९) **'जिणवरं वीरं'** (२.१७९) आदि भी दिखाई देते हैं। किन्तु विशेष बात तो यह है कि उनके विषय में **'तित्थराभिसेय** (२.१७६) तथा देवों द्वारा **'तित्थं पवत्तेहि'** ऐसी प्रार्थना का भी उल्लेख है। यहाँ भगवान बुद्ध को भी ब्रह्मा ने उपदेश देने की प्रार्थना की थी यह तुलनीय है। यह उनके जीवन में पौराणिकता लाने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ, इस बात की सूचना देते हैं। यहाँ उन्हें प्रथम बार ही **'तित्थयर'** शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। (२.१७९) इतना ही नहीं, किन्तु प्रथम बार ही, यहाँ उन्हें—**से भगवं अरहा जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदस्सी** (२.१७९) इसमें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा गया है। ये विशेषण उनके लिए पालिपिटक में मिलते हैं।

इसमें **'केवलीपन्नत्त धम्म'** (२.१७९) और पुनः पुनः **'केवली बूया'** जैसे प्रयोग मिलते हैं। (२.१३,१७,२६,३६,३७,११५,११६,१४६,१५२,१७९) जिससे सूचित होता है कि उनके उपदेश की विशेषता केवलज्ञान के कारण थी।

सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध :

आचारांग निर्युक्ति में स्पष्ट किया गया है कि आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध बाद में स्थविरों ने जोड़ा है,[1] किन्तु सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विषय में ऐसी कोई सूचना नहीं मिलती। फिर भी वह भी बाद में जोड़ा गया है उसके लिए अन्य प्रमाण तो हैं ही। किन्तु भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त विशेषण भी इस बात का प्रमाण हैं कि वह बाद का हैं। इसमें गणिपिटक (२.१.११) का उल्लेख है आचारांग द्वितीय में **धम्मतित्थ, तित्थ,तित्थयर** हैं तो यहाँ **धम्मतित्थ** (२.१.८) और **'तित्थायण'** (२.७.११) हैं। विशेष बात यह है कि यहां **'चोयए पन्नवगं एवं वयासी'** (२.३.२.) तथा **'आचार्य आह'** (२.४.२,४) जैसे प्रयोग भी हैं।

परंपरा से चले आनेवाले भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त **'समण'** (२.६.१) **'माहण'** (२.६.८) **समणे नायपुत्ते** (२.६.१९), **नायपुत्त** (२.६.४०) देखे जाते हैं। और **बुद्ध** (२.६.४२) **'मुणि'** (२.६.४२) जैसे विशेषण भी परंपरानुसारी है। भगवान महावीर के शिष्य गौतम के लिए भी **'भगवं'** (२.७.४) का प्रयोग है।

भगवान के ज्ञान को **'केवल'** (२.६.४९) कहा है और **'केवलेण पुण्णेण नाणेण'** (२.६.५०) कह कर उस ज्ञान की विशेषता का भी निर्देश दिया गया है। **'समणे भगवं महावीरे'** (२.७.१४) भी आचारांग की तरह मिलता है और भगवान के धर्म को **निग्गन्थधम्म** (२.६.४२) और **'निग्गन्थपावयण'** (२.२.२३।२.७.२) कहा गया है। आचारांग की ही तरह इसमें भी तीनों काल के अरहंतों का निर्देश है—(२.२.४)।

---

१. आचारांग द्वि० श्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, गाथा ६

अन्य अंगग्रन्थों में तथा अन्यत्र :

आचारांग और सूत्रकृतांग के वाद के सभी आगमग्रन्थों में 'श्रमण भगवान् महावीर'—यह प्रकार सर्वसामान्य हो गया है। किन्तु यहाँ जो उनका वर्णक स्थिर हुआ है उसका उल्लेख जरूरी है—

"समणे भगवं महावीरे[1] आइगरे तित्थगरे सहसंबुद्धे पुरिसुत्तमे[2] पुरिससीहे पुरिसवरपुण्डरीए, पुरिसवर गन्धहत्थीए,[3] लोगुत्तमे लोगनाहे लोगप्पदीवे लोगपज्जोयकरे अभयदए चक्खुदए मग्गदए सरणदए[4] धम्मदेसए धम्मसारही धम्मवरचाउरत चक्कवट्टी अप्पडिहयवरनाणदंसणधरे वियट्टछउमे जिणे जावए बुद्धे वोहए मुत्ते मोयए सव्वण्णू सव्वदरिसी, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वावाहमपुणरावत्तिय सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपाविउकामे'।[5]

इसमें भी 'श्रमण भगवान् महावीर' तो है ही। उपरांत वैदिकों में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से लेकर **'पुरुष'** को जो महत्त्व मिला है उसे भी स्वीकृत करके भगवान महावीर को **'पुरुषोत्तम'** आदि कहा गया है। तदुपरांत पुराणप्रसिद्ध **'विष्णु'** आदि के नामों का भी स्वीकार किया गया है। विष्णु के लिए वैदिकों ने 'पुरुषोत्तम' नाम दिया ही है। 'पुरुषपुण्डरीक' भी वैदिकों द्वारा प्रयुक्त शब्द है। **'पुरुषवर'** यह विष्णु का नाम महाभारत में प्रयुक्त है। **'गन्धहस्ति'** शब्द बलवान् गज के अर्थ में है और **'गन्धगज'** शब्द का प्रयोग चरक में हुआ है। लोकनाथ आदि भी विष्णु के लिए महाभारत में प्रयुक्त हैं। **'लोकप्रदीप'** विशेषण बुद्ध के लिए बुद्धचरित में प्रयुक्त देखा जा सकता है।

उक्त वर्णक के साथ भगवान बुद्ध का पालिपिटकगत वर्णक तुलनीय है—

'सो भगवा अरहं सम्मासंबुद्धो विज्जाचरणसंपन्नो सुगतो लोकविदु अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा।[6]

इसकी विस्तृत व्याख्या विसुद्धिमग्ग में की गई हैं (पृ० १३३) इसमें भगवान बुद्ध को **सम्मासंबुद्ध** कहा है तो भगवान महावीर को **सहसंबुद्ध अनुत्तरो** में पुरुषोत्तम का भाव है। **'धम्मसारही'** के स्थान में भगवान बुद्ध को **'पुरिसदम्मसारथि'** कहा है। इसमें अर्थभेद है। **'सत्था'** कहा जाय या **'धम्मदेसए'** कहा जाय अर्थभेद नहीं, है। **'विज्जाचरणसंपन्न'** और **'लोकविदु'** द्वारा जो कहा गया है वही महावीर के लिए **'अप्पडिहयनाणदंसणधर'** और **'वियट्टछउम'** द्वारा अभिप्रेत है। दोनों में **'बुद्ध'** शब्द समान रूप में है यह भी ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध के वर्णक के वाद का भगवान महावीर का यह वर्णक है।

●●

---

१ महाव्युत्पत्ति में भगवान बुद्ध को 'वीर' कहा गया है।
२ महाव्यु० में बुद्ध को—'नरोत्तम' और 'शाक्यसिंह' कहा है।
३ महाव्यु० में वोधिसत्वों के नामों में एक 'गन्धहस्ति' ऐसा नाम है।
४ महाव्यु० में शरण्य और शरण है।
५ भगवती सूत्र, शतक ५
६ अंगुत्तरनिकाय ३.२८५

एक गंभीर प्रश्न : सरल उत्तर

युवा पीढी को धर्म और परम्परा के प्रति आस्थावान् कैसे बनाये ?

—डा० नरेन्द्र भानावत एम. ए. पी-एच डी.
(प्राध्यापक हिन्दी विभाग, रा० वि० विद्यालय, जयपुर)

धर्म का शक्ति के रूप में सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। धर्म के नाम पर बड़े बड़े लोकोपकारी कार्य हुए हैं और धर्म के नाम पर लोग जिन्दे भी जला दिये गये हैं। जब धर्म अपने प्रकृतरूप में होता है तब वह शक्ति, तेज, स्फुरण और अमृत बनकर प्रकट होता है, लेकिन जब उसका रूप विकृत हो जाता है तब वह संघर्ष, विद्वेष, कमजोरी और विनाश का कारण बन जाता है। आज धर्म अपनी तेजस्विता को नहीं निखार पा रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण मेरी दृष्टि में युवा-पीढ़ी का उस पर आस्थाभाव न रहना है। वह मुख्यतः बुजुर्ग लोगों का विश्वास बनकर रह गया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि धर्म युवा-पीढ़ी का विश्वास और सम्बल बने, खून और पसीना बने। यह सब कैसे हो, यही विचारणीय प्रश्न है?

कुछ लोग, कहते हैं—आज का युवा-वर्ग उद्दण्ड बन गया है उच्छृंखल बन गया है, अनास्थावादी बन गया है, धर्मद्रोही बन गया है, पर मुझे यह सब साधार नहीं लगता। आज का युवा वर्ग स्वतन्त्र भारत में जन्मा है। उसने विज्ञान की द्रुतगामी प्रगति का अहसास किया है, उसने धर्म को धर्मनिरपेक्ष राज्य के संदर्भ में देखा-परखा है। उसका वास्ता श्रद्धा की अपेक्षा तर्क से, भाव की अपेक्षा ज्ञान से और धर्म की अपेक्षा विज्ञान से अधिक पड़ा है। ऐसी परिस्थितियों में धर्म के पारम्परिक रूप के प्रति उसका आकर्षित न होना स्वाभाविक है।

मुझे बुजुर्ग और परम्परावादी लोग क्षमा करें यदि मैं यह कहूं कि युवा-पीढ़ी को धर्म के प्रति अनास्थावादी बनाने में वे भी कुछ जिम्मेदार रहे हैं। इस स्थिति के मेरी दृष्टि में निम्न मुख्य कारण हो सकते हैं—

१. धर्म को अब तक हम अतीत से जोड़े हुए हैं और युवावर्ग को ऐसा अहसास नहीं करा पाये हैं कि धर्म का सम्बन्ध जीवन के वर्तमान क्षणों से भी है। जब भी हम युवा-वर्ग को धर्म और धार्मिक वातावरण के सम्पर्क में लाना चाहते हैं तब हमारी भाषा और हमारे उपकरण उनकी भाषा और उनके उपकरण नहीं बन पाते। आज के युवावर्ग की मुख्य भाषा है—हिन्दी और अंग्रेजी, लेकिन हम सर्वप्रथम उनसे धर्म का साक्षात्कार कराते हैं ऐसी भाषा से जो उनको मृत यानी सुदूर अतीत की

लगती है। भाषा की इस दूरी के कारण वे धर्म को भी मृत या कि सुदूर अतीत की वस्तु समझ बैठने की भूलकर बैठते हैं। इसाई लोग जिस क्षेत्र में अपने धर्म का प्रचार करना चाहते हैं, सर्वप्रथम वे उस क्षेत्र के निवासियों की भाषा सीखते है और वहां की संस्कृति का अध्ययन करते हैं। वे उस क्षेत्र की भाषा में ही ईसाई धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हैं। इस मनोवैज्ञानिक पकड़ के कारण ईसाई लोग पराये होकर भी अपने बन जाते है। जबकि हम लोग अपने होकर भी पराये बने हुए है। युवापीढ़ी को धर्म के प्रति आस्थावान बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी भाषा में उनसे बात करें।

२. धर्म मानव मात्र ही नही, प्राणिमात्र के कल्याण के लिए है, ऐसा उदाहरण हम युवावर्ग के समक्ष प्रस्तुत करने में असमर्थ रह रहे है। धर्म के जितने भी पंथ या सम्प्रदाय हैं और उनकी आचार-विचार-मूलक प्रक्रियाएँ हैं, वे सब पूँजीवाद से प्रभावित है। आज की युवा-पीढ़ी में यह बात जम-सी गई है कि धर्म पूँजीवादी वर्ग द्वारा सम्पन्न होनेवाली कोई विशेष प्रकार की क्रिया है और 'आम आदमी' उसे सम्पन्न नहीं कर सकता। जब तक धर्म के साथ प्रदर्शन, दिखावा, प्रभुता और पैसा जुड़ा रहेगा तब तक युवावर्ग—चेतनाशील युवावर्ग—इस ओर आकर्षित नहीं होगा, उसकी आस्था इसमें नहीं होगी। वह इसे विशेष वर्ग का, विशेष नशा समझता रहेगा।

यहाँ मैं इस बात पर विशेष बल देना चाहूंगा कि आज की युवापीढ़ी को आस्थावान बनाने के सर्वाधिक तत्त्व जैनधर्म मे हैं। इनमें सबसे प्रमुख तत्त्व है समाजवादी दर्शन का तत्त्व जिसे 'परिग्रह परिमाण व्रत' कहा गया है। यदि हम इस तत्त्व को सही परिप्रेक्ष्य में, जीवन में उतारते हुए युवा-युवतियों के समक्ष रख सकें तो वे इधर सहज आकर्षित हो सकते हैं।

३. 'धर्म सबका है व सबके लिए है'—आज की पीढ़ी को हम ऐसा अहसास नहीं करा पा रहे हैं। आज का युवा अपने नियमित अध्ययन-क्रम से सर्वधर्मसमभाव और विश्व-एकता की बात पढता है। पर जब वह अपने कुल क्रमागत धर्म के सम्पर्क में आता है तो उसे व्यवहार-रूप में वहाँ बड़ी संकीर्णता और साम्प्रदायिकता नजर आती है। छोटी-छोटी बातों पर बड़े-बड़े लोगों को जब वह परस्पर लड़ते-झगड़ते देखता है तो उसे प्रचलित धर्म और धार्मिक वातावरण से चिढ़-सी हो जाती है। उसे उसका दायरा संकीर्ण और विचार कूपमंडूक से लगते हैं। सिद्धान्त और आचरण का प्रत्यक्ष विरोध तथा कथनी और करनी का अन्तर, युवा मन में वितृष्णा पैदा कर देता है। एक ओर डाकुओं को आत्मसमर्पण करते हुए देखता है तो उसके मन में अहिंसा और आत्मबल के प्रति विश्वास जगता है, निस्पृही, त्यागी, वैरागी आदर्श संतों की जीवन-चर्या के सम्पर्क में आकर जब उसे ज्ञान होता है कि ये पूर्ण अपरिग्रही हैं, पैसे के नाम पर कौड़ी तक नहीं रखते, नंगे पांव पैदल चलते है, इनका अपना कोई नियत स्थान या आश्रम नही होता, प्रतिदिन मधुकरीवृत्ति से जीवन-यापन करते हैं, कल के लिए कुछ भी संचय करके नही रखते, किसी के प्रति इनका राग-द्वेष नही होता तो तप, त्याग, संयम जैसे जीवन-मूल्यों के प्रति उसकी आस्था टिकती है। पर जब उसे यह ज्ञात होता है कि इनके अनुयायियों में वह सहिष्णुता नहीं है, वह उदारता नही है, वह संयम नहीं है, तब उसे यह सब प्रक्रिया 'भार' और 'प्रदर्शन' लगने लगती है। उसका विश्वास डिग जाता है और आस्था अनास्था में बदल जाती है।

हमें युवा-पीढी को इस बात का विश्वास दिलाना होगा कि धर्म के साथ जुड़ा हुआ संकीर्णता का भाव उनकी कमजोरी है। हम सबको मिलकर उसे दूर करना है। जब भी युवावर्ग सम्पर्क में आये,

उसे ऐसा न लगे कि किन्हीं पराये के बीच आ गया है। धर्मस्थानों के साथ जुड़े हुए इस 'अजनबीपन' को हमें दूर करना होगा।

४. धर्म के दो पक्ष हैं—आत्म-सुधार और समाज-सुधार। आज उसके दोनों पक्ष निस्तेज हो रहे हैं। अपने इर्द-गिर्द जब युवावर्ग देखता है कि आत्मसुधार की भावना से धर्म करनेवाले तथा कथित बड़े-बूढ़ों ने धर्म को मिनटों और घंटों में बाँट लिया है। वह कुछ समय के लिए करने की वस्तु मात्र बन कर रह गया है। जीवन-व्यवहार के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं लगता। इस द्वैत-स्थिति ने युवापीढ़ी को धर्म के प्रति उदासीन ही नहीं विद्रोही भी बना दिया है। वे यह नहीं देखना चाहते, कि धर्म 'क्लास रूम लेक्चर' एटेन्ड करने जैसा 'प्रोसेस' बनकर रह जाय। धर्म की महक धर्म करनेवाले की प्रत्येक क्रिया से फूटनी चाहिए। ऐसा न हो कि प्रातःकाल और संध्याकाल तो वह किरण की तरह प्रकाश दे और दिनभर स्वयं ही अंधकार में न भटके बल्कि दूसरों को भी अंधेरे में ढकेलने का काम करता रहे। ऐसे 'सफेदपोश' धर्मात्माओं को देख कर युवावर्ग का धर्म के प्रति आस्थाभाव जाता रहता है।

युवा-पीढ़ी को धर्म के प्रति आस्थावान बनाने के लिऐ हमें धर्म की शक्ति का उपयोग सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए करना होगा। दहेज, फैशनपरस्त, मादक पदार्थों का सेवन जैसी कुप्रथाएँ आज युवा-युवतियों में तेजी से बढ़ती जा रही हैं। इनको रोकने या मिटाने में यदि धर्म शक्तिशाली घटक बन कर आता है तो युवापीढ़ी इस ओर प्रवृत्त हो सकती है।

धार्मिक द्वैध···

मंदिर स्थानक, मस्जिद, गिर्जाघर और गुरुद्वारे में जाकर जो परमधार्मिक, भक्तराज, फरिश्ते और वैरागी का रूप धारण करते हैं, वे ही घर, आफिस, समाज एवं राजनैतिक मंच पर आकर यमराज, रावण और शैतान का आचरण करने लगते हैं। फिर कैसे मानें कि धर्म उनके जीवन में उतरा है ?

जीवन में उतरा हुआ धर्म सदा, सब स्थानों में एकरूप रहता है। सच्चा धार्मिक घंटा भर की सामायिक या पूजा नहीं करता, किंतु उसका संपूर्ण जीवन ही सामायिक और पूजा भक्ति से ओत-प्रोत रहता है।

—मधुकर मुनि

भारतीय-संस्कृति में साधना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन साहित्य के पृष्ठ साधना के उज्ज्वल-समुज्ज्वल आलोक से जगमगा रहे हैं। भारतीय-संस्कृति की तीनों धाराओं में—जैन, बौद्ध और वैदिक, उसके आदर्श को एक स्वर से स्वीकार किया गया है। जैन-परंपरा में अणगार-धर्म, निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या, श्रमण-साधना का, बौद्ध-परंपरा में उपसंपदा का और वैदिक-परंपरा में सन्यास-धर्म का उल्लेख मिलता है। भारत के सभी धर्मों ने अपने साध्य-मोक्ष को प्राप्त करने के लिए साधना-पथ को अनिवार्य माना है। जैन-परंपरा में साधना पर अधिक भार दिया गया है। उसे जीवन का प्राण कहा है। और यहाँ तक कहा गया है कि जब तक सम्यक्-ज्ञान की ज्योति के साथ सम्यक्-साधना की गतिशीलता नहीं होगी, तब तक साधक अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। ज्ञान के साथ साधना—क्रिया का समन्वय होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है—ज्ञान और क्रिया का समन्वित रूप ही मोक्षमार्ग है –

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणिमोक्षमार्गः।"

श्रमण-जीवन का इतिहास :

श्रमण-जीवन का इतिहास बहुत उज्ज्वल रहा है। त्याग-विराग का इतना बड़ा आदर्श अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। आगम-साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने पर हमें ज्ञात होता है कि श्रमण-जीवन त्याग और वैराग्य की भावना से ओत-प्रोत रहा है। उसके जीवन के कण-कण में त्याग की, तप की, स्वाध्याय की, ध्यान की सरिता बहती हुई परिलक्षित होती है।

श्रमण जीवन का इतिहास बहुत लम्बा है। इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से श्रमण परंपरा का प्रारम्भ होता है। वैदिक साहित्य में भगवान् ऋषभदेव की साधना का उल्लेख मिलता है। फिर भी आगम-साहित्य में श्रमण जीवन का जो उल्लेख मिलता है, वह तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और चौवीसवें तीर्थंकर महावीर के युग का मिलता है। श्रमण भगवान् महावीर के युग में भगवान पार्श्वनाथ के श्रमण थे और उन्होंने अपने आप को भगवान महावीर के शासन में विलीन कर दिया था। इससे स्पष्ट होता है कि लगभग २८०० वर्ष से श्रमण-परंपरा की धारा अजस्त्ररूप से प्रवहमान रही है और आज भी प्रवहमान है।

श्रमण भगवान महावीर के युग में धार्मिक क्षेत्र में भी एक वर्ग विशेष का आधिपत्य (Monopoly) था। धर्म साधना में शूद्र एवं नारी को कोई स्थान नहीं था। भगवान महावीर धर्म-साधना के क्षेत्र में भेद की इस रेखा को कथमपि उचित नहीं समझते थे। उन्होंने एक जाति विशेष के द्वारा किए जानेवाले शोषण एवं उत्पीडन का विरोध ही नहीं किया, प्रत्युत नारी एवं शूद्र जाति को अपने श्रमण-संघ में सम्मिलित करके जातिवाद की दीवार को ही गिरा दिया। भगवान महावीर ने यह उद्घोषणा की "प्रत्येक व्यक्ति साधना-पथ पर गतिशील होकर अपने जीवन का विकास कर सकता है।"

श्रमण जीवन की साधना को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति सांसारिक वैभव, भोग-विलास एवं विषय-वासनाओं का परित्याग करके अपने त्याग-पथ पर गतिशील होते थे। इस श्रमण या निर्ग्रन्थ धर्म को पुरुष की तरह स्त्रियां भी स्वीकार करती रही हैं। पुरुष की तरह नारी के जीवन में आध्यात्मिक विकास करने की पूर्ण शक्ति है। साधना के क्षेत्र में जाति, पंथ, मत, वर्ग एवं लिंगभेद को, छूत-अछूत को कथमपि स्थान नहीं दिया गया है। जातिवाद के पुजारियों द्वारा अछूत माने जानेवाले अनेक व्यक्तियों ने एवं अनेक नारियों ने निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके मुक्ति को प्राप्त किया। जैन वाङ्मय में स्थान-स्थान पर उनके आदर्श जीवन का उल्लेख मिलता है।

सामान्य स्त्री-पुरुषों ने ही त्याग-पथ स्वीकार किया हो ऐसी बात नहीं है। उस युग के बड़े-बड़े उद्योगपतियों, सेठों, राजाओं, राजकुमारों एवं महारानियों ने भोगों से मुख मोडकर त्याग-पथ पर कदम रखा। आगम साहित्य के पन्ने के पन्ने उनके उज्ज्वल आदर्शमय जीवन से भरे हुए हैं। उसमें क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और हरिजन चारों वर्णों के द्वारा साधना की ज्योति से अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनाने का उल्लेख मिलता हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पुरुष ने भी अपने जीवन का विकास किया और नारी जाति ने भी प्रगति के पथ पर कदम बढ़ाया। बालक भी जागृत होकर आगे बढ़ा और वृद्ध भी संसार के भोगों में ही अन्त तक लिप्त नहीं रहा, वह भी जगा और आगे बढा।

श्रमणों के प्रकार :

आगमयुग में साधना के क्षेत्र में दो परंपराओं का उल्लेख मिलता है—श्रमणपरंपरा और ब्राह्मणपरंपरा। वैदिक परंपरा में प्रचलित सभी तरह की साधना ब्राह्मण परंपरा में समाविष्ट हो जाती है। अन्य साधक श्रमण-परंपरा के अन्तर्गत आते है। निशीथभाष्य एवं आवश्यकचूर्णि में पाँच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख मिलता है—१. णिग्गंथ—निर्ग्रन्थ (खमण), २. सक्क (रत्तपड), ३. तावस (वणवासी—जंगलों में रहने वाले तापस), ४. गेरुअ (परिव्वायअ - गेरुए रंग के वस्त्र रखनेवाले परिव्राजक) और ५. आजीविय (पंडराभिक्खु गोशालक के शिष्य)।[१] आवश्यकचूर्णि में—आजीवक, तापस, परिव्राजक, तच्चन्नीय (बौद्ध) और बोटिक ये पाँच भेद करके, इन पाँचों प्रकार के श्रमणों को वन्दन करने का निषेध किया है।[२] आवश्यकचूर्णि के रचयिता ने निर्ग्रन्थ को इन पाँच प्रकार के श्रमणों से अलग माना है। इस तरह उस युग में पाँच या छह प्रकार की श्रमण-परंपराएँ रही है, उनमें से कुछ ब्राह्मण परंपरा में विलीन हो चुकी हैं—तापस और परिव्राजक। कुछ विलुप्त हो चुकी है–आजीवक और बोटिक। इस समय निर्ग्रन्थ (जैन) और बौद्ध दो परंपराओं के श्रमण ही परिलक्षित होते हैं।

---

१. (क) निशीथभाष्य, १३, ४४२०, (ख) आचारांगचूर्णि २, १, । २. आवश्यकचूर्णि, २, पृष्ठ २०

वैराग्य के कारण :

आगम-साहित्य में संसार से एवं विषय भोगों से विरक्त होने के अनेक कारणों का उल्लेख मिलता है। विषय-वासनाओं के कारण चार गति में परिभ्रमण करने की व्यथा से व्यथित सामान्य स्त्री पुरुष ही नहीं ऐश्वर्यसम्पन्न श्रेष्ठी वर्ग, विद्वान एवं शक्तिसम्पन्न राजा-महाराजा भी भोग-विलास को छोड़कर श्रमण-दीक्षा स्वीकार करने के लिए उत्सुक रहते थे। वे सांसारिक सुख-साधनों एवं भोगों को तुच्छ और साारहीन समझकर धन-वैभव एवं परिजनों का त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होते थे। कुछ व्यक्ति वीतराग वाणी का श्रवण करके अपने स्वरूप को समझकर साधना की ज्योति जगाते और कुछ अन्य निमित्तों को पाकर जीवन को जगाते।

उस समय की राजनीति भी बड़ी विचित्र थी। सीमाओं पर रात-दिन संघर्ष चलता रहता था। राज परिवारों में आन्तरिक संघर्ष भी कम नही था। इन संघर्षों से ऊबकर भी राजा लोग श्रमण-धर्म को स्वीकार करते थे। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के ९९ पुत्रों को उनके ज्येष्ठ भ्राता भरत चक्रवर्ती ने अपने अनुशासन में रहने का संदेश भेजा, तब ९८ भाइयों ने भगवान ऋषभदेव से अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए सम्मति मांगी। तब भगवान ने उन्हें यह समझाया कि तुम राज्य के टुकड़े के लिए क्यों लड़ रहे हो? मुक्ति के उस अक्षय राज्य को प्राप्त करो, जिसे छीनने की ताकत किसी भी चक्रवर्ती में नहीं है। और भगवान के उपदेश से उन्होंने राज्य मोह का परित्याग करके श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

परन्तु भरत के एक भाई बाहुबली ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने के लिए भरत के साथ युद्ध की तैयारी की। दोनों भाइयों में द्वन्द्व युद्ध हुआ। दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, भुजा झुकाने के युद्ध, दण्डप्रहार युद्ध—इन चार युद्धों में भरत हार गया। पाँचवे मुष्टियुद्ध में आवेश के वश युद्धनीति को त्याग कर भरत ने अपने छोटे भाई पर चक्र-रत्न का प्रहार किया। परन्तु उसका यह प्रयोग भी सर्वथा असफल रहा। पर इससे बाहुबली का आवेश भड़क उठा। उसने क्रोध की आग में जलते हुए भरत को मुष्टि प्रहार से समाप्त करने के लिए मुट्ठी उठाई। उसी समय उसका विवेक जागृत हो गया। कलुषित राजनीति के कारण ज्येष्ठ भाई का अनिष्ट होते देखकर उसके मन मे विराग की धारा बहने लगी और युद्धभूमि में ही अपनी उठी हुई मुष्टि से केश लुँचन करके श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। इस तरह के और भी उदाहरण आगमों एवं आगमोत्तर साहित्य में भरे पड़े है, जिनमे राजनीतिक विषमता के कारण अनेक राजा-महाराजाओं के दीक्षा लेने का वर्णन मिलता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अष्टम अध्ययन के प्रारंभ में यह प्रश्न किया गया—"अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-वेदनाओं से संकुल-परिपूर्ण इस संसार में मैं ऐसा कौनसा कर्म करूँ, किस मार्ग पर चलूँ, जिससे दुर्गति के महागर्त में गिरने से बच सकूँ?"

इसी अध्ययन की दूसरी गाथा में दुःखों से उत्पीडित व्यक्ति के मन का समाधान करते हुए कहा है— 'पूर्व परिचित संयोग का परित्याग करके जो व्यक्ति किसी पदार्थ में आसक्त नहीं होता, किसी के प्रति ममत्व बुद्धि नही रखता, स्नेहीजनों के प्रति स्नेह—ममताभाव नहीं रखता, वह भिक्षु, वह श्रमण समस्त दोषों—प्रदोषों से मुक्त-उन्मुक्त होता है।"

स्थानांगसूत्र के दशवेंस्थान में वैराग्यप्राप्ति के दश कारण बताए हैं—१. अपनी अन्तरंग प्रेरणा से प्रेरित होकर संयम स्वीकार करना (गोविन्दवाचक की तरह) २. रोष के वश श्रमण बनना (शिवभूति की तरह), ३. दरिद्रता से परेशान होकर साधु बनना (लकड़हारे की तरह), ४. स्वप्न देखकर वैराग्य प्राप्त करना (पुष्पचूला की तरह) ५. किसी प्रतिज्ञा के पूर्ण होने पर दीक्षा लेना (धन्यक की तरह), ६. पूर्वजन्म की स्मृति जागृत होने से मुनि बनना (प्रतिबुद्ध आदि राजाओं की तरह), ७. रोग के कारण. प्रव्रज्या लेना (सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह), ८. जन-जन से अपमान मिलने के कारण भिक्षु बनना (नंदिषेण की तरह), ६. देवों के द्वारा प्रतिबोध मिलने पर साधना के पथ पर गतिशील होना। (श्वेतार्य की तरह) और १०. पुत्र-स्नेह के वश दीक्षित होना (वज्रस्वामी की तरह)। इसके अतिरिक्त स्थानांग स्थान ३ और ४ में अन्य प्रवज्याओं का उल्लेख मिलता है। तीसरे स्थान में **तोदयित्वा**—प्रव्रज्या में व्यथा या बाधा उपस्थित करके दी जाने वाली, **प्लावयित्वा**—अन्यत्र ले जाकर दी जाने वाली दीक्षा और **बुयावइत्ता** (संभाष्य)—संभाषणपूर्वक दी जानेवाली दीक्षा तथा चतुर्थ स्थान में—**नटखादिता, भटखादिता, सिंहखादिता** और **शृगालखादिता** नामक दीक्षाओं का भी उल्लेख मिलता है।

जैन वाङ्मय में ऐसे अनेक व्यक्तियों के जीवन का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपने जीवन में थोड़ी-सी प्रेरणा पाकर साधना के पथ को स्वीकार किया। आवश्यकचूर्णी और उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में उज्जैन के महाराज देविलासत एक दिन राजमहलों में बैठे हुए मनोविनोद कर रहे थे। महारानी की नजर उनके बालों पर पड़ी और काले-कजरारे बालों के मध्य में एक सफेद बाल को देखकर महारानी ने कहा—महाराज धर्मदूत आ गया है। राजा ने तुरन्त बाल को तोड़कर अपनी अंगुली में लपेट लिया और उसे एक सुवर्ण थाल में क्षौमयुगल में रखकर पूरे नगर में घुमाया। उसके पश्चात् महाराज ने महारानी के साथ दीक्षा स्वीकार की।[1]

चक्रवर्ती सम्राट भरत आरीसाभवन में बैठे अपने शरीर को अलंकारों से विभूषित कर रहे थे, तब उनकी अंगुली में से मुद्रिका नीचे गिर पड़ी। मुद्रिका-शून्य अंगुली को देखकर उनकी विचारधारा शरीर की नश्वरता के चिन्तन में लग गई। और आत्मचिंतन में तेजस्विता आते ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।[2]

कांपिल्यपुर के महाराज दुर्मुख ने बहुत धूम-धाम से इन्द्रमहोत्सव मनाया, इन्द्रध्वज की पूजा की। सात दिन के बाद जब ध्वज को गिरा दिया. तो उसमें से दुर्गन्ध निकलने लगी। इससे दुर्मुख के मन में वैराग्य भावना जागृत हुई और उसने दीक्षा स्वीकार की।[3]

बावीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जब राजमती से विवाह करने के लिए बारात लेकर मथुरा में उग्रसेन महाराज के घर पहुंचे, तब बारात में आए हुए अतिथियों के भोजन के लिए बाड़े में बन्द किए हुए पशुओं की करुणा भरी चीत्कार को सुना, तो उनका हृदय दया से द्रवित हो गया। उन्होंने सारथी को संकेत करके पशुओं को बन्धन मुक्त कर दिया और स्वयं बिना विवाह किए ही लौट गए। और साधना के पथ पर अग्रसर हो गए।[4]

---

१. आवश्यक चूर्णी २। २. उत्तराध्ययनटीका, १८। ३. वही, अ० ६।
४. उत्तराध्ययन सूत्र २२।

इस प्रकार जैन वाङ्मय में मन में वैराग्य की भावना के उद्‌बुद्ध होने के अनेक कारण दिए हैं। अनेक व्यक्तियों को कुछ वस्तुओं को देखकर भी वैराग्य प्राप्त हुआ है।

प्रव्रज्या का निषेध :

जैन वाङ्मय का अनुशीलन-परिशीलन करनेवाला व्यक्ति भली-भाँति जानता है कि दीक्षा का द्वार सबके लिए खुला था। व्यवहारभाष्य भाग ४ में गणिका—वेश्या द्वारा दीक्षा स्वीकार करके जीवन की धारा को बदलने का उल्लेख मिलता है। बौद्ध-साहित्य में आम्रपाली—जो गणिका थी, ने तथागत बुद्ध के समीप दीक्षा ली थी। ऐसे अनेकों उदाहरण जैन परंपरा में भी उपलब्ध हैं। फिर भी दीक्षा के नियमों में कुछ ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करने का निषेध भी किया गया है, जो साधना-पथ पर चलने में सक्षम नहीं माने गए हैं। स्थानांगसूत्र और निशीथभाष्य में नपुसंक, वात-रोगी, बाल, वृद्ध, जड़-मूढ़, व्याधिग्रस्त (बीमार), स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शन (अन्धा) दास, दुष्ट, ऋणपीडित, जात्यंगहीन, शैक्षनिष्फैटित (अपहृत किया हुआ), गर्भवती और बालवत्सा (जिस स्त्री का बालक छोटा हो) ऐसे व्यक्तियों को दीक्षा देने का निषेध किया गया है।[१]

बाल-दीक्षा :

आगमों में बाल-दीक्षा का उल्लेख मिलता है। आठ वर्ष के बालक को दीक्षा देने की परंपरा आगम युग से रही है—भले ही वह एक-दो व्यक्तियों तक ही सीमित रही हो। भगवती सूत्र श० ५, उ० ३ की टीका में—"छव्वरिसो पव्वइयो"—६ वर्ष के बालक को दीक्षा देने का उल्लेख मिलता है। परन्तु सामान्य तौर पर आठ वर्ष से कम उम्र के बालक-बालिका को दीक्षा देने का निषेध है।

आगम एवं आगमोत्तर साहित्य में बाल-दीक्षा का निषेध नहीं है। परन्तु बाल-दीक्षा देते समय बहुत विवेक रखा जाता था। भाष्य युग में बाल-दीक्षा के सम्बन्ध में ऊहापोह भी होने लगा था। लोगों के सामने बाल-दीक्षा चर्चा का विषय बन गया था। निशीथ-भाष्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उस समय भी बाल-दीक्षा की आलोचना होने लगी थी। भाष्यकार ने बाल-दीक्षा के दोषों का उल्लेख करते हुए लिखा है[२]—

१. छोटे-से बालक को श्रमणों के साथ विचरण करते देख कर लोग उपहास एवं मजाक करते हैं—यह इनके ब्रह्मचर्य व्रत का प्रत्यक्ष फल परिलक्षित होता है, यह इनकी सन्तान हैं।

२. लोहगोलक को अग्नि में छोड़ने पर वह जहाँ-तहाँ घूमता है, जलने लगता है। उसी प्रकार बालक मुनि को जहाँ छोड़ दिया जाए, वहीं वह छः काय की विराधना करता है। इधर-उधर भटकता है, खेलता है।

३. रात्रि में भूख लगने पर भोजन मांगता है।

४. उसे देखकर लोग ऐसा व्यंग्य भी कसते रहते हैं कि इसे बचपन से ही बन्धन में, जेल में डाल दिया है और ये श्रमण जेलर की तरह सदा साथ रहकर इसकी स्वतन्त्रता को रोककर रखते हैं।

५. इससे श्रमणों का अपयश होता है. निर्ग्रन्थ धर्म की निन्दा होती है।

---

१. (क) स्थानांग, ३, २०२; (ख) निशीथभाष्य, ११, ३५०६-७।
२. निशीथभाष्य, ११. ३५३१-३२

६. वालक के साथ में होने से विहार में विघ्न पड़ता है।

७. बहुत छोटी उम्र में वालक के मन में संयम के भाव नहीं होते, इसलिए दीक्षा प्रदाता चारित्र से पतित होता है।

इतने कारण उपस्थित करने पर भी भाष्यकार ने आगे की गाथाओं में कुछ परिस्थितियों में वाल-दीक्षा देने का भी उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार लिखते हैं[1]—

१. यदि किसी व्यक्ति का पूरा परिवार दीक्षा स्वीकार कर रहा हो।

२. यदि किसी श्रमण-साधु के परिजन महामारी आदि रोग के कारण दिवंगत हो गये हों, केवल एक वालक ही अवशेष रहा हो।

३. किसी सम्यक्त्वी के संरक्षण में कोई अनाथ वालक रहा हो।

४. किसी कामातुर दुष्ट के द्वारा किसी साध्वी का शीलभंग करने से वालक उत्पन्न हुआ हो।

५. यदि किसी मंत्री के द्वारा कुल, गण, संघ एवं धर्म को लाभ मिलने की संभावना हो।

इन परिस्थितियों में यदि कोई वालक दीक्षा स्वीकार करना चाहता है, तो निशीथ भाष्यकार का अभिमत है कि उसे आचार्य वालवय में दीक्षा दे सकता है। इन परिस्थितियों के अतिरिक्त भाष्यकार वाल-दीक्षा देना उचित नहीं समझते।

सम्पूर्ण आगम-साहित्य में भगवान महावीर के द्वारा पोलासपुर के राजा विजय के पुत्र राजकुमार अतिमुक्तकुमार के वालवय में दीक्षा देने का उल्लेख मिलता है।[2] और चतुर्दशपूर्वधर आचार्य शय्यंभव द्वारा अपने पुत्र मणग को और आर्यसिंहगिरि द्वारा वज्रस्वामी को दीक्षित करने का वर्णन मिलता है।[3] ये दीक्षाएँ भी उपरोक्त परिस्थितियों में ही हुई हैं।

वृद्ध-दीक्षा :

वालक के शरीर में, मन में चपलता रहती है। वह स्थिर मन से सदा-सर्वदा साधना में लगा नहीं रह सकता। वृद्ध के मन में, तन में स्थिरता तो रहती है, परन्तु शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। उससे न तो प्रयत्न हो पाता है और न वह समय पर दैनिक क्रियाएँ ही व्यवस्थित रूप से कर पाता है। इसलिए अतिवृद्ध व्यक्ति को दीक्षा देने का निशीथभाष्यकार ने निषेध किया है।

परन्तु कुछ परिस्थितियों में वृद्ध व्यक्ति को दीक्षित किया जा सकता है। जिस वृद्ध व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो, कष्ट सहने में सक्षम हो, उसे प्रव्रज्या देने में दोष नहीं वताया है। दशवैकालिक सूत्र में वताया है—"जीवन के संध्या काल में दीक्षा लेकर भी कुछ व्यक्ति अपनी तेजस्वी साधना से स्वर्ग एवं अपवर्ग-मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।"[4]

श्रमण भगवान महावीर ने अपने पूर्व पिता सोमिल ब्राह्मण को और आचार्य सुधर्मा ने जम्बू एवं उसके पिता ऋषभदत्त को दीक्षा दी थी। इसके अतिरिक्त नवपूर्वधर आर्यरक्षित के द्वारा अपने पिता सोमदेव को प्रव्रज्या देने का वर्णन मिलता है। आगम एवं अन्य साहित्य में अतिवाल और वृद्ध अवस्था में कुछ अपवादों को छोड़कर दीक्षा देने के उदाहरण वहुत कम मिलते हैं।

१. निशीथभाष्य, ११. ३५३७-३९। २. अन्तकृतदशांग, ६ १४। ३. निशीथभाष्य, ११-३५३६
४. दशवैकालिक, ४,

माता-पिता की अनुज्ञा :

त्याग-वैराग्य की भावना व्यक्ति के मन में जागृत होती है और वह अपनी अन्तरंग इच्छा से साधना के पथ पर गतिशील होता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि वह अपने माता-पिता, संरक्षक एवं स्नेही-साथी की आज्ञा प्राप्त करे। जिस साधना को उसने श्रेयस्कर समझा है, उसके स्वरूप को उन्हें समझाकर उनके मन में साधना के प्रति श्रद्धा जागृत करना और उनका आशिर्वाद प्राप्त करके बढ़ना साधक का परम कर्तव्य है।

भगवान महावीर के माता-पिता के दिवंगत होने के बाद जब तक उनके ज्येष्ठ भ्राता नंदिवर्धन ने आज्ञा नहीं दी, तब तक उन्हें राजमहलों में ही ठहरना पड़ा। वे भाई के आग्रह से दो वर्ष तक और ठहरे।[1] मेघकुमार[2] एवं अतिमुक्तकुमार[3] जब श्रमण भगवान महावीर के समीप दीक्षा लेने के लिए उपस्थित हुए, तब उनके माता-पिता ने भगवान को शिष्यरूप भिक्षा दी। अन्य दीक्षार्थियों के लिए भी आगम में ऐसा ही उल्लेख मिलता है। उस समय बिना आज्ञा के एक भी दीक्षा दी गई हो, ऐसा वर्णन कहीं नहीं मिलता।

निष्क्रमण-सत्कार :

आगम-साहित्य में दीक्षा के लिए तैयार साधक का निष्क्रमण-सत्कार करने का उल्लेख मिलता। अभिनिष्क्रमण के समय बहुत धूमधाम से उसे भगवान या सन्तों की सेवा में पहुंचाया जाता था।

थावच्चा-पुत्र के सम्बन्ध में बताया गया है—जब वह दीक्षा लेने लगा, तब उसकी माता वासुदेव श्रीकृष्ण के राजदरबार में उपस्थित हुई और अभिनिष्क्रमण सत्कार के लिए उनसे छत्र-चामर आदि की याचना की। तब श्रीकृष्ण ने कहा—तुम जाओ! मैं स्वयं तुम्हारे घर आता हूं। उसका निष्क्रमण सत्कार मैं करूँगा। फिर श्रीकृष्ण थावच्चा-पुत्र के घर जाते हैं, उसे समझाते हैं, परन्तु उसकी दृढता देखकर उनको एक हजार व्यक्ति उठा सके ऐसी विशालशिविका में बैठाकर उसे धूमधाम के साथ भगवान नेमिनाथ के चरणों में पहुंचाते हैं।[4]

इसी तरह मेघकुमार एवं अन्तकृतदशांग में गजसुकुमाल, पद्मावती आदि के अभिनिष्क्रमण के समय का विस्तृत उल्लेख मिलता है। अभिनिष्क्रमणार्थी के प्रति लोग अपनी हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त करते थे।

चतुर्विध-संघ :

आगम-साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन युग में श्रमणों का संघटन व्यवस्थित, सुन्दर एवं अद्वितीय था। वेदों की रचना के पूर्व भी श्रमण-संघ संगठित रहा है। जिस युग में जो तीर्थंकर होते, वे केवलज्ञान प्राप्त करते ही चतुर्विध-संघ—श्रमण-श्रमणी, श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका, की स्थापना करते। जिसे आगमिक भाषा में तीर्थ कहते हैं। और तीर्थ के संस्थापक होने के कारण वीतराग प्रभु को तीर्थंकर कहते है। तीर्थंकरों के समय चारों तीर्थ उनके अनुशासन में रहते थे और उनके पश्चात् उनके शासन में होनेवाले आचार्यों के नेतृत्व में श्रमण-श्रमणी अपने महाव्रतों का

---

१. कल्पसूत्र, ५, १००।
२. ज्ञाताधर्मकथा १
३. अन्तकृतदशांग, ६, १४।
४. ज्ञाताधर्मकथा, ५,

परिपालन करते हुए अपने जीवन का विकास करते थे और श्रावक-श्राविका उनसे प्रेरणा पाकर अपने व्रतों का पालन करने का प्रयत्न करते थे।

श्रमण परंपरा में संघ का, तीर्थ का अपने आप में बहुत बड़ा महत्व रहा है। जिनधर्म की आधार शिला या मूलस्तम्भ तीर्थ है। तीर्थंकरों का तीर्थंकरत्व तीर्थ पर ही आधारित है। भगवती सूत्र (२०।८) में तीर्थ की परिभाषा करते हुए बताया है—"धर्म-साधना में अनुरत चतुर्विध-संघ"—

"तित्थं पुण चाउव्वणे समणसंघे, तंजहा—समणा, समणीओ, सावया सावियाओ य।"

नन्दीसूत्र में संघ की महिमा का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। नगर, चक्र, रथ, कमल, चन्द्र, सूर्य, समुद्र आदि अनेक उपमाओं के द्वारा संघ का गौरवमय भाषा में बहुत सुन्दर वर्णन किया है। जिसे पढ़कर मन में संघ के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का अजस्र स्रोत प्रस्फुरित हुए बिना नहीं रहता।

आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने तीर्थ के सम्बन्ध में बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है। उन्होंने तीर्थ की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए लिखा है—'**तीर्थंकर जब समवशरण में धर्म देशना देते हैं, उस समय वे तीर्थ को नमस्कार करते हैं।**'[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरों के द्वारा तीर्थवन्दनीय रहा है। क्योंकि तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही उन्होंने तीर्थंकर पद प्राप्त किया। तीर्थ तीर्थंकर का मूल आधार है।[2]

आचार्य भद्रबाहु ने तीर्थ के सम्बन्ध में जिस गौरवमय शब्दावली का प्रयोग किया है, वह केवल कपोल-कल्पना के बहाव में किया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आचार्य भद्रबाहु महान श्रुतधर रहे हैं, अपने युग के पूर्वधर थे और उन्होंने आवश्यक सूत्र पर निर्युक्ति की रचना की—जो आगमिक विचार चर्चा का कोष है, मूर्धन्यग्रन्थ है। आगमों के व्याख्या साहित्य में निर्युक्ति का सर्व प्रथम स्थान है, वह सबसे प्राचीन व्याख्या मानी गई है। भाष्य, चूर्णी एवं टीकाओं के लेखकों पर एवं वर्तमान युग के विचारक आचार्यों एवं वरिष्ठ सन्तों पर निर्युक्ति का विशेष प्रभाव पड़ा है। इसलिए ऐसा कहना या मानना भयंकर भूल होगी कि आचार्य भद्रबाहु ने तीर्थ को वन्दन करने के सम्बन्ध में कुछ अनर्गल लिखा है। उनके युग में अवश्य ही ऐसी विचार-चर्चा रही है, जिसमें तीर्थंकरों द्वारा तीर्थ को नमस्कार करने का उल्लेख था। बिना किसी आधार के वे ऐसा नहीं कह सकते। वर्तमान युग के ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज ने भी तीर्थंकरों द्वारा तीर्थ को नमस्कार करने का उल्लेख किया है।

दुष्कर नियम :

आगमों में श्रमण-श्रमणी जीवन की कठिन साधना का उल्लेख मिलता है। साधना के व्रत-नियम दुष्कर होते थे। उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें अध्ययन की गाथा ३६ से ४३ तक मृगापुत्र के वैराग्य एवं त्यागमय जीवन का उल्लेख करते हुए बताया है—गंगा के प्रतिस्रोत को तैरना, विराट् सागर को भुजाओं से पार करना, बालू के ग्रास को उदरस्थ करना, तलवार की धार पर नंगे पैर गति करना, लोहे के चनों—दानों को दांतों से चबाना, प्रज्ज्वलित अग्निशिखा को पकड़ना और मंदरगिरि पर्वत को तराजू

---

१. तित्थपणामं काउं कहेइ साहारणेण सद्देण। —आवश्यक निर्युक्ति ५६७
२. तप्पुव्विया अरहया पूइयपूआ च विणयकम्मं च। —वही, ५५८

पर रखकर तोलना दुष्कर है, कठिन है, उसी प्रकार श्रमण-साधना का पथ भी महादुष्कर है। साधक को अपने जीवन को, अपनी दृष्टि को, अपने विचारों को साधना एवं संयम में केन्द्रित करना आवश्यक है।

आचारांग सूत्र में साधु-साध्वी के लिए बताया गया है कि वे आहार करते समय स्वाद न लें। भोजन के ग्रास को मुँह में दाँए से बाँएँ या बाँएँ से दाएँ घुमाते हुए रसों का आस्वादन करते हुए न खाएँ। परन्तु अनासक्त भाव से गले के नीचे उतार लें। और यदि डांस-मच्छर काट रहे हों, तो उन्हें भी न हटाएँ। पर समभावपूर्वक उस परिषह को सहन करे।[1]

श्रमण-साधना में तप का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आचारांग में भगवान महावीर की महान् तप-साधना का उल्लेख मिलता है। साढ़े बारह वर्ष तक तप-साधना करते हुए उन्होंने जिन दुष्कर परीपहों को समभावपूर्वक सहन किया और वह छः छः महीने तक, उनकी साधना की तेजस्विता को प्रकट करता है।

अनुत्तरोपातिकसूत्र में धन्नाअणगार की तपश्चर्या का गौरवमय वर्णन मिलता है। उनके पाद, जंघा और ऊरू सूखकर रूक्ष हो गए थे, पेट इतना अन्दर धँस गया था कि वह कमर से चिपक गया था। उनकी पसलियों की हड्डियां निकल गई थी और कमर की हड्डियें माला के मनकों की भांति गिनी जा सकती थी। वक्षःस्थल की हड्डियें गंगा की लहरों की तरह एक-एक करके गिनी जा सकती थी। भुजाएँ सूखे हुए सर्प जैसी कृश हो गई थी, मुख कमल मुरझा गया था, आंखें अन्दर धँस गई थी। इस प्रकार शरीर में रक्त और मांस कम हो गया था। वह केवल तप के तेज से चमक रहा था। इस प्रकार श्रमण परम्परा में दुष्कर तप तपनेवाले साधक भी रहे हैं।

संकटमय जीवन :

श्रमण जीवन में अनेक तरह के कष्टों एवं संकटों का सामना करना पड़ता है। आगम युग में एवं उसके पूर्व सामाजिक व्यवस्था आज जैसी व्यवस्थित नहीं थीं और गमनागमन के मार्ग भी आज जैसे सुविधाजनक एवं सरल नहीं थे। उस समय एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय रास्ते में विकट जंगल पड़ते थे। रास्ते में चोर-डाकू एवं जंगली जानवर मिल जाते थे। लम्बे रास्तों में कभी-कभी भिक्षा भी समय पर एवं सुविधापूर्वक नहीं मिलती। फिर भी साधक अपने श्रमण नियमों का परिपालन करता हुआ विचरता था। कभी-कभी आचार-धर्म का परिपालन करते समय प्राणों का भी त्याग करना पड़ता। फिर भी वह समभावपूर्वक सभी परीपहों को सहन करता था।

रोगजन्य कष्ट :

बीमारी के समय साधु को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। यदि सहन करने की क्षमता न हो और समभाव नहीं रहा हो, उस समय उसके लिए चिकित्सा कराने का निपेध नहीं किया गया है। क्योंकि समभाव एवं समाधि को बनाए रखना श्रमण का प्रधान कर्तव्य है। समभाव मूलगुण है और क्रिया-काण्ड उत्तरगुण है। अतः मूलगुण को सुरक्षित रखने के लिए अपवाद मार्ग में क्रियाओं को शिथिल भी किया जा सकता है और विवेक एवं यत्ना के साथ वैसा करने में किसी तरह का दोप नहीं लगता।

---

१. आचारांग सूत्र, ७, ४, २१२
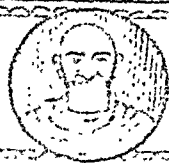
यदि श्रमण-संघ में कोई साधु चिकित्सा का ज्ञान रखता है, तो वीमार साधु पहले साधु को दिखाए, उससे अपनी चिकित्सा कराए। यदि किसी भी साधु को चिकित्सा करने का ज्ञान नहीं है, तव वैद्य को भी दिखाया जा सकता है और उससे औषध ली जा सकती है। इसके लिए निशीथ और वृहत्कल्प सूत्र एवं उसके भाष्य में दवा लेने का भी कहा है। भाष्यकार ने लिखा है कि साधु अपने स्वास्थ्य की परीक्षा कराने के लिए वैद्य के घर पर या दवाखाने में जा सकता है। यदि वैद्य स्वयं देखने के लिए साधु के स्थान पर जाने के लिए तैयार हो और वह जाने की इच्छा अभिव्यक्त करे तो आचार्य या उस समूह का वरिष्ठ साधु पहले वैद्य या डाक्टर से वात करे, उसे वीमारी के कारणों की जानकारी दे। उसके वाद वैद्य को लेकर वीमार साधु के पास जाकर उसे दिखाए। रोग का निदान करने के वाद वैद्य जो औषध दे और जो पथ्य-पानी वताए, उसकी व्यवस्था का ध्यान रखे। वीमारी के समय साधु की सेवा-सुश्रूषा की उचित व्यवस्था करे।[१]

वीमार साधु को दवा लेने का एकान्त निषेध नहीं है। परन्तु उसे उस कष्ट को शान्ति के साथ सहन करने एवं विवेकपूर्वक स्वास्थ्य के लिए औषध एवं पथ्य लेना चाहिए। रोग के कारण मन में अशान्ति, विषमता एवं ग्लानि को प्रविष्ट न होने दे।

दुर्भिक्षजन्य परीषह :

उस समय भारत में छोटे-छोटे राज्य थे। अनेक वार अनावृष्टि या अतिवृष्टि के कारण दुष्काल पड़ जाता, तव आचार्य साधुओं को एक राज्य से दूसरे राज्य में भेज देते थे। क्योंकि दुष्काल में शुद्ध भिक्षा का मिलना दुष्कर था। कभी-कभी साधु भिक्षा के अभाव में संथारा करके समाधिमरण को स्वीकार करते थे।

दुष्काल के समय भिक्षाचरी के लिए अपवादमार्ग का भी आगम में विधान मिलता है। आचारांग सूत्र में वताया है—"साधु भिक्षा के लिए किसी गृहस्थ के घर में प्रवेश कर रहा है, उस समय उसके द्वार पर श्रमण-ब्राह्मण आदि अन्य भिक्षुओं को भिक्षा के लिए खड़ा देखकर एकान्त स्थान में खड़ा हो जाता है। यदि गृहस्थ उसे देख ले और अपने घर ले जाकर उसे भिक्षा दे और यह कहे कि मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं द्वार पर उपस्थित सभी भिक्षुओं को भोजन दे सकूँ। अत: आप सव परस्पर वांट कर खालें। उत्सर्गमार्ग में साधु ऐसी शर्त पर दिए हुए आहार को स्वीकार नहीं करता। परन्तु अपवाद में वह उसे स्वीकार कर भी सकता है। और फिर सव को गृहस्थ का संदेश सुना कर सव में उसे समान रूप से विभक्त कर दे। यदि वे साथ में वैठकर भोजन करना चाहे, तो उनके साथ भी आहार कर सकता है परन्तु आहार वांटते एवं करते समय सरस पदार्थों में आसक्त होकर उन्हें अकेला न खाए, सवको समान रूप से दे।[२]

सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट शव्दों में कहा है कि अपवादमार्ग में आधाकर्म आहार करनेवाले साधु के लिए ऐसा नहीं करना चाहिए कि वह सात या आठ कर्म का वन्ध करता है।[3] आचारांग वृत्ति में भी कहा है अपवादमार्ग में साधु, द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव देखकर सदोष आहार भी ले सकता है।

---

१ वृहत्कल्पभाष्य १, १९१०-२०१३ ; व्यवहारभाष्य, ५, ८९-९० ; निशीथ, १०-१६-३९ ; निशीथ-भाष्य, २८७३-७४

२. आचारांग सूत्र, २, ५, २९।   ३. सूत्रकृतांग सूत्र, २, ५, ८-९।

द्रव्य—खाद्य पदार्थों का मिलना दुर्लभ हो। क्षेत्र—ऐसा क्षेत्र जिसमें निर्दोष आहार नहीं मिलता हो। काल—दुष्काल का समय हो। भाव -रोग आदि की अवस्था हो। ऐसे समय आधाकर्म आहार लेने पर भी साधु साधुता से नहीं गिरता।[१]

अध्व प्रकरण :

साधना को उज्ज्वल रखने एवं धर्मप्रचार के लिए श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिए विहार एक अत्युत्तम साधन माना गया है। आगमों में साधु-साध्वी के लिए नवकल्पी विहार का उल्लेख मिलता है। चातुर्मास में चार महीने के आठ कल्प होते हैं। आठ महीनों में एक स्थान पर अधिक से अधिक एक महीना रह सकते हैं और घूमना चाहें तो आठ महीने विचरण भी कर सकते हैं।

उस युग के विहार सरल और सुगम नहीं थे। लम्बे-लम्बे विहार करने पडते थे और मार्ग में विहड जंगल भी पड़ते थे, जिनमें चोर-डाकुओं एवं हिंस्र पशुओं का उपसर्ग बना रहता था। कभी-कभी नदियों में बाढ़ आ जाने से आवागमन का मार्ग रुक जाता था। उस समय नौका के द्वारा नदी पार करनी पड़ती थी। ऐसी परिस्थिति में आचारांग सूत्र में यदि नदी में पानी थोड़ा हो तो उसे विवेक एवं यत्नापूर्वक चल कर पार करने का और पानी अधिक हो तो नौका पर बैठकर पार करने का स्पष्ट विधान है।[२] और आपवादिकस्थिति में इस कार्य को निर्दोष माना है, इसलिए आगमकारों ने इसके लिए प्रायश्चित का उल्लेख नहीं किया है।

साधु सदा एक ही प्रान्त में नहीं रहता था। वह अनेक प्रान्तों में परिभ्रमण करता था। इसलिए बृहत्कल्पभाष्य में स्पष्ट कहा गया है कि श्रमणों को विभिन्न देशों—प्रान्तों की भाषाओं का परिज्ञान होना चाहिए।[३] जिससे वे सुगमता से जन-जन के मन में धर्म भावना जागृत कर सकें। इसके लिए वे आचार्यों के सान्निध्य के भाषाओं एवं स्व-पर सिद्धान्तों का अध्ययन करते थे। परन्तु इसके लिए उन्हें बहुत लम्बे-लम्बे विहार करने पड़ते थे। भयंकर जंगलों,अटवियों,नदी-नालों को पार करना पड़ता था। भयंकर जंगलों को पार करते समय सार्थवाहों का सहयोग लेना पड़ता था। जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए कभी-कभी सूखे काँटों की बाड़ लगाने एवं वागडंबर (वयणचाडर) का सहारा लेने का भी उल्लेख मिलता है।[४] कभी-कभी चोरों एवं जंगली जानवरों से भयभीत होकर सार्थवाह भाग जाते, और साधु एकाकी होने के कारण रास्ता भूल जाते, उस समय वनरक्षक देव का आसन कम्पायमान करके उससे सहायता लेते थे।[५] यदा-कदा जंगलों में चोर-डाकू उनके वस्त्र छीन लेते, पात्र तोड़ डालते एवं उन्हें त्रास देते, उस समय समभाव रखने का आदेश दिया गया है। साधु उन पर द्वेष नहीं करते, परन्तु शान्तभाव से उन्हें समझाने का प्रयत्न करते थे।

अध्वगमन के समय साधु को बहुत कष्ट सहने पड़ते थे। भिक्षा का परीषह भी कम न था। भाष्यकारों ने ऐसे समय में—शक्कर या गुड़ मिश्रित केले, खजूर, सत्तू या पिण्याक (पिन्नी) आदि ग्रहण करने का उल्लेख किया है।[६] ऐसे लम्बे विहारों में साथ रहने वाले सार्थवाह से आहार-पानी लेने का

---

१. आचारांगवृत्ति २, १, १, १.
२. आचारांग सूत्र, २, ३, २, १२२-१२४।
३. बृहत्कल्पभाष्य, १, १२२९-३९,
४. आवश्यकचूर्णि पृष्ठ १५४
५. बृहत्कल्पभाष्य १, ३१०३-१४;
६. निशीथभाष्य, १६, ५६८४;

भी उल्लेख मिलता है।[1] और वृहत्कल्पसूत्र में ऐसे समय में चर्म-छेदिका रखने का विधान है।[2] इसके कारण का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार ने लिखा है—लम्बे विहार में पैर घिस जाने के कारण रास्ता तय करने में कष्ट होता है। इसलिए चर्म बांधकर विहार कर सकता है। इस प्रकार अध्व-गमन के समय भी साधु अपने नियमों का पालन करने का विशेष ध्यान रखते थे।

चोर-डाकुओं का उपद्रव :

प्राचीन युग में विहार करते समय यदा-कदा चोर-डाकू रास्ते में वस्त्र छीन लेते थे। गच्छ की व्यवस्था को नष्ट करने के लिए आचार्य का वध कर देते। उस समय सामान्य साधु संघ व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आचार्य का वेष धारण करता और आचार्य सामान्य साधु की तरह चलता। इसके अतिरिक्त आचार्य एवं साधु उपदेश देकर चोरों को समझाते या अपनी मंत्रशक्ति से या भुजबल से अपनी एवं अपने साथियों की रक्षा करते।

आचारांग सूत्र में ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर साधु के लिए कहा गया है कि चोरों के द्वारा वस्त्र आदि मांगने पर, वह शान्तभाव से अपने वस्त्र आदि उपकरण जमीन पर रख दे। वह न तो चोरों पर द्वेष रखे, न उन्हें कठोर शब्द कहे और न गाँव में आकर किसी व्यक्ति को इस सम्बन्ध में कुछ कहे। वह उस चोर से प्रतिशोध लेने की कल्पना भी न करे। उसे हर परिस्थिति में क्षमा एवं शान्ति रखनी चाहिए और अपनी साधना में मस्त रहना चाहिए।

विरुद्धराज्य संकट :

वैराज्य—विरुद्धराज्य में आवागमन करने से साधु को विभिन्न प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते थे। वृहत्कल्पभाष्य में, चार तरह का वैराज्य बताया गया है—१. **अणराय**-बिना राजा का राज्य, राजा की मृत्यु हो जाने पर जब तक अन्य राजा या युवराज का राजा के सिंहासन पर अभिषेक नहीं किया गया हो। २. **युवराज**—पूर्व के राजा द्वारा नियुक्त युवराज से अधिष्ठित राज्य, अभी तक दूसरा युवराज अभिसिक्त नहीं किया गया हो। ३. **वेरज्जय**—दूसरे राजा की सेना ने राज्य को घेर लिया हो। ४. **द्वैराज्य**—एक ही गोत्र के दो व्यक्तियों में राज्य प्राप्ति के लिए संघर्ष हो रहा हो। इन परिस्थितियों में यदि अन्य राज्यों में स्थित व्यापारियों का आना-जाना रहता हो, तो साधु भी आ-जा सकता है, अन्यथा उसे ऐसे स्थान में जाने का निषेध था।[3]

पारस्परिक संघर्ष के समय सीमाओं पर पहरा रहता था। राजमार्ग बन्द कर दिए जाते थे। उन्मार्ग से जाने पर वध-बन्धन आदि की संभावना रहती थी। उत्तराध्ययन अ० २ की टीका में एक घटना का उल्लेख मिलता है—श्रावस्ती के राजकुमार भद्र को—जो एकलविहारी मुनि थे, वैराज्य में उन्हें गुप्तचर का सन्देह होने के कारण पकड़ लिया। उस को सैनिकों से बन्धवा कर उसके शरीर में तीक्ष्णदर्भो को प्रविष्ट करके, उसे अत्यन्त कष्ट दिया गया। इसलिए यदि राजा अनुकूल हो, तब तो साधु वैराज्य में जा सकते थे, अन्यथा उन्हें जाने की आज्ञा नहीं थी।

---

१. निशीथभाष्य, १८,५६८३ २. वृहत्कल्पभाष्य १, ३००५,१४
३. वृहत्कल्पभाष्य, १. ३१३७

दर्शन और ज्ञान का प्रचार करने के लिए, बीमार साधु की चिकित्सा के लिए तथा आचार्य आदि से मिलने के लिए साधु वैराज्य में आ-जा सकते थे। परन्तु ऐसे समय में नगर संरक्षक, श्रेष्ठी, सेनापति, अमात्य-मंत्री या राजा इनमें से किसी एक या अधिक की आज्ञा लेकर एक-दूसरे राज्य की सीमाओं में संक्रमण करना आवश्यक बताया है।[1]

वाद-विवाद :

जिनधर्म का प्रचार करने के लिए विचरण करते समय श्रमणों का अन्य धर्म के श्रमणों-ब्राह्मणों एवं अन्य व्यक्तियों के साथ वाद-विवाद हो जाता था। निशीथभाष्य में लिखा है—श्रावस्ती के राजकुमार स्कंधकी बहिन का विवाह उत्तरापथ के कुंभकारकृत नगर के राजा दण्डकी साथ के हुआ था। एक समय राजा दंडकी का दूत पालक श्रावस्ती आया। स्कंधक के साथ उसका वाद-विवाद हुआ, जिसमें वह परास्त हो गया। एक दिन स्कंधक ने दीक्षा ग्रहण कर ली और विहार करते-करते कुंभकारकृत नगर पहुंचा। पालक ने अपना प्रतिशोध लेने के लिए स्कंधक और उसके शिष्यों को इक्षुयंत्र में पेर दिया।[2] इसके अतिरिक्त जैन मुनियों और रक्तपटों में तथा राज्य सभाओं में जैनश्रमणों और बौद्ध भिक्षुओं में वाद-विवाद होने का उल्लेख मिलता है।[3] सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय अध्ययन की षष्ठम् गाथा में आर्द्रक मुनि का गौशालक, शाक्यपुत्रों, द्विजातियों, एकदंडी साधुओं और हस्तीतापसों के साथ वाद-विवाद होने का उल्लेख मिलता है।

ऐसे प्रसंगों पर साधु को समता एवं सहिष्णुता रखने का आदेश दिया गया है। वह अपना पक्ष तर्क के साथ रखता है। परन्तु हार जीत की भावना एवं प्रतिशोध के लिए वाद-विवाद नहीं करता।

श्रमण-जीवन का आदर्श :

साधना के क्षेत्र में श्रमण-श्रमणी का जीवन आदर्श जीवन है। जैन श्रमण के त्याग-तप की समानता अन्य कोई नहीं कर सकता। साधु-साध्वी विवेक एवं सावधानी के साथ नियमों का परिपालन करने में तत्पर रहते हैं। आगम में श्रमण वर्ग को सावधान करते हुए स्पष्ट कहा है कि संयम का परित्याग करके भोगों की आकांक्षा करने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है। जब बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का छोटा भाई रिप्टनेमि अकेली राजमति को गुफा के एकान्त स्थान में खड़ा देखकर विचलित हो गया और उसके साथ भोग-भोगने की प्रार्थना करने लगा। तब राजमति ने उसे संयम में स्थिर करने की भावना से अति कठोर शब्दों में उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—"तुझे धिक्कार है कि थोड़े-से जीवन के लिए तुम वमन किए हुए काम-भोगों को भोगने की इच्छा करते हो। वमन किए हुए भोगों को भोगने की आकांक्षा एवं कामना रखने की अपेक्षा, मृत्यु को स्वीकार कर लेना श्रेयस्कर है। संयम से भ्रष्ट होने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है।"[४]

बृहत्कल्प की भाष्य चूर्णि में भी यही बात कही है—"चिरसंचित व्रत-नियम को तोड़ने की अपेक्षा प्रज्वलित अग्नि में कूदकर प्राणों का त्याग कर देना अत्युत्तम है। शुद्ध आचार-धर्म का परिपालन

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, १, २७५५, २. निशीथभाष्य, १६, ५७४०-४३,
३. व्यवहारभाष्य, ५-२७-८, निशीथभाष्य, १२-४०२३ की चूर्णी ४. दशवैकालिक सूत्र, २,

करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है, परन्तु संयम से भ्रष्ट होकर भोगमय जीवन बिताना कथमपि अच्छा नहीं है।"[१]

आचार के नियमों का पालन करने पर जोर दिया है। परन्तु उसके साथ जीवन को भी व्यवस्थित रखने की वात कही है। भोग के लिए व्रतों में दोष लगाना भयंकर पाप है, पतन के महागर्त में गिरना है। किन्तु संयम की अजस्रधारा को प्रवहमान रखने के लिए कभी परिस्थितिवश कुछ दोष का आसेवन करना पड़े, तव भी उसे पतन का कारण नहीं माना है। भाष्यकार ने भी कहा है—"मानव तनरूपी हिमगिरि से ही धर्मरूपी निर्मल नीर का निर्झर प्रस्फुटित हुआ है और उसकी धारा अविरामरूप से गतिशील है।" वह धारा खण्डित न हो, इसलिए संयम-निष्ठ शरीर की सुरक्षा करना साधक का परम कर्तव्य है।[२]

यदि कभी विकट परिस्थिति में संयम की सुरक्षा के लिए आचार-मर्यादा की अक्षाश रेखा का उल्लंघन करना पड़े, तव भी वह संयम से भ्रष्ट नहीं होता है। परिस्थितिवश विवेक-पूर्वक सेवन किया गया अकल्पनीय पदार्थ कल्पनीय हो जाता है। और विवेक के अभाव में कल्पनीय अकल्पनीय हो जाता है। कल्प और अकल्प विवेक-अविवेक पर ही आधारित है। अतः श्रमण अपने जीवन के आदर्श को सदा वनाए रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु वह विवेक की आँख को वन्द करके नहीं चलता है। जव भी चलता है और जो कुछ करता है—अपने विवेक से सोच-समझ कर करता है।

अपवाद-मार्ग :

जीवन में परिस्थितियाँ सदा-सर्वदा एक-सी नहीं रहती। जीवन की धारा वदलती रहती है, उसमें कभी उतार और कभी चढ़ाव आता रहता है। इसलिए साधना-पथ भी एक-जैसा नही रहता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप उसमें परिवर्तन होता रहता है। साधना का मार्ग-मार्ग ही रहता है, वह उन्मार्ग नहीं वनता। परन्तु साधारण स्थिति में जो कार्य अकल्प समझा जाता था, वही विशेष परिस्थिति में कल्प वन जाता है। आगमिक भाषा में इसे अपवाद-मार्ग कहते है। अपवाद भी उत्सर्ग की तरह मार्ग है, आगमकारों ने उसे उन्मार्ग नही कहा है।

उत्सर्ग-अपवाद :

आचार्य संघदासगणी ने 'उत्' उपसर्ग का अर्थ—'उद्यत' और 'सर्ग' का अर्थ—'विहार' किया है। उद्यत विहारचर्या उत्सर्ग है। अपवाद उत्सर्ग का प्रतिपक्ष है। अपवाद, दुष्काल आदि कठिन परिस्थितियो में उत्सर्गमार्ग से गिरते हुए साधक को ज्ञान-दर्शन आदि को अवलम्वन पूर्वक धारण करता है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि संकट के समय उत्सर्ग मार्ग पर चलकर साधक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक् साधना नही कर पाता, अतः अपवाद को स्वीकार करके संयम की रक्षा कर सकता है।[3]

आचार्य हरिभद्र का कहना है—"द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता से संयुक्त साधक के द्वारा किया जानेवाला कल्पनीय आहारादि गवेषणारूप अनुष्ठान उत्सर्ग है और द्रव्यादि प्रतिकूलता के समय विवेक एवं यत्नापूर्वक तथाविध अकल्प्य आसेवनरूप उचित अनुष्ठान अपवाद है।[४]

---

१. वृहत्कल्पभाष्य, ४, ४१४९ की चूर्णी
२. वृहत्कल्पभाष्य, १, २९०० की टीका
३. वृहत्कल्पभाष्य, पीठिका, ३१९,
४. उपदेशपद, ७८४

जीवन में नियमों-उपनियमों की जो सर्वमान्य विधि है, वह उत्सर्ग है और जो विधि-विधान है, वह अपवाद है।[१]

एकान्तवाद नहीं :

कुछ विचारक उत्सर्ग को ही मार्ग मानते हैं। उसी को पकड़ कर चलते हैं। समय पर अपवाद का अवलम्बन लेकर भी उत्सर्ग के गीत गाते हैं। और अपवाद को उन्मार्ग बताते हैं। कुछ व्यक्ति सदा-सर्वदा अपवाद का ही सेवन करते हैं। वे एक तरह से उत्सर्ग को भूल गए हैं। दोनों की एकांगी दृष्टि जैन आगमों के अनुकूल नहीं है। एकान्त को पकड़कर रखनेवाला व्यक्ति सम्यक्-दृष्टि नहीं हो सकता; क्योंकि वीतराग भगवान ने अपने प्रवचन में न किसी भी बात का एकान्त विधान किया है, और न एकान्त निषेध किया है। तीर्थंकरों का एक ही आदेश रहा है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर जो कुछ करो उसमें सत्यभूत होकर रहो। अपनी साधना आत्म-निष्ठा के साथ करते रहो; क्योंकि साधक का जीवन न तो कदापि एकान्त निषेध पर चल सकता है, और न एकान्त रूप से विधि मार्ग पर ही। देशकाल की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुरूप वह कुछ स्वीकार करके और कुछ त्यागकर ही अपने जीवन में प्रगति करता है। जीवन निषेध और विधान से समन्वित है।

उत्सर्ग-अपवाद का लक्ष्य :

साधना का उद्देश्य है—आत्म-स्वरूप को कर्म आवरण से अनावृत्त करना और बन्ध के हेतुओं का नाश करना। उत्सर्गमार्ग का अनुसरण भी मुक्ति के लिए किया जाता है और अपवादमार्ग को भी उसी दृष्टि से स्वीकार किया जाता है। उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्ग हैं, साधन हैं, साध्य है—मुक्ति उसे प्राप्त करने के लिए दोनों मार्ग है। दोनों का लक्ष्य एक है, दोनों का अर्थ एक है। यदि दोनों परस्पर निरपेक्ष हों, एक ही लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकते हों, तो आगम की भाषा में उत्सर्ग-अपवाद का कोई अर्थ नहीं रहेगा। क्योंकि आगमकारों ने दोनों को मार्ग कहा है। और वस्तुतः दोनों का लक्ष्य एक है—साधना की शुद्धि, आध्यात्मिक विकास, संयम की सुरक्षा और ज्ञानादि गुणों की अभिवृद्धि। इसलिए उत्सर्ग अपवाद से संवद्ध है और अपवाद उत्सर्ग से।

अधिकारी :

उत्सर्ग सामान्य मार्ग है, राजमार्ग है। उस पर गीतार्थ-अगीतार्थ, तरुण-बालक, स्त्री-पुरुष सब चलते हैं। अतः इस पथ पर कौन गति करे और कौन न करे, इस प्रश्न को अवकाश ही नहीं है। परन्तु अपवाद का मार्ग सरल मार्ग नहीं है। अपवाद तलवार की धार से तीक्ष्ण है। उस पर चलना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं है। इसलिए जो श्रमण गीतार्थ है, आचार-शास्त्र का तलस्पर्शी अध्ययन कर चुका है, निशीथ आदि छेद सूत्रों के रहस्य को समझ चुका है और उत्सर्ग-अपवाद के पदों का अनुशीलन मात्र ही नहीं किया है, वल्कि उनका अनुभव भी रखता है तथा देश-काल का ज्ञाता है, वही अपवाद को स्वीकार करने, न करने का सही निर्णय दे सकता है।

अपवाद दोषरूप नहीं है :

कुछ विचारक—जो आगम के अर्थों से परिचित नहीं है, जिनका अध्ययन एवं आगमिक चिन्तन गहरा नहीं है, वे अपवाद को दूषण मानते हैं; परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। अपवाद संयम का

---

१. दर्शनशुद्धि

दूषण नहीं, भूषण है। अपवाद का सेवन आमोद-प्रमोद के लिए नहीं, संयम-रक्षा के किया जाता है। हम आगे बताएंगे कि आगमकारों ने संयम-रक्षा के लिए अपवाद का भी विधान किया है और उसे निर्दोष माना है। निर्दोष का अभिप्राय इतना ही है कि उसका प्रायश्चित नहीं आता। छेद-सूत्रों—जिसे हम प्रायश्चित-संहिता कह सकते हैं, में प्रायश्चित के दो रूप बताए हैं - दर्प से और कल्प से। यदि कोई साधक दर्प से, अहंकार से, वासना से प्रेरित होकर दोष का सेवन करता है, सच्चे अर्थ में वही प्रायश्चित का अधिकारी है। कल्प से, विवेक—यत्ना से दोष का सेवन करने वाले के लिए प्रायश्चित नहीं है।

निशीथभाष्य में दर्प प्रतिसेवना को प्रमत्तयोग से युक्त कहा है और कल्प प्रतिसेवना को अप्रमत्त-विवेकयुक्त कहा है।[१] वह आलोचना मात्र करता है और आलोचना करना, अपने जीवन का निरीक्षण करना साधक का धर्म है। यदि आलोचना करना ही दूषण माना जाए, तो उत्सर्ग मार्ग पर गतिशील साधक भी शौच से लौट कर, गौचरी से लौटकर, स्वाध्यायभूमि से लौटकर जब स्थान पर आता है, तब आलोचना करता है, फिर उसे भी दोषमय मार्ग मानना होगा। यदि आलोचना करने मात्र से उत्सर्ग दोषमय नहीं होता, तो अपवाद भी नहीं होता है। दोष उत्सर्ग और अपवाद में नहीं, अविवेक में है, अयत्ना में है। जो साधक अंधे हाथी की तरह विवेक की आँखें बन्द करके चलता है—भले ही उत्सर्ग मार्ग पर चले, वह दोषी है। परन्तु विवेक से चलने वाला दोष का सेवन नहीं करता। इसलिए छेद-सूत्रों में जो प्रायश्चित का विधान किया गया है—वह प्रमाद, दर्प, अविवेक एवं अयत्ना से कार्य करने का प्रायश्चित है। यदि आगम में उल्लिखित विधि से यत्ना और विवेक से कल्पपूर्वक अपवाद का सेवन किया जाता है, तो संयम का दूषण नहीं, भूषण है और उसके लिए किसी तरह का प्रायश्चित नहीं आता।

उत्सर्ग-अपवाद की तुलना :

साधना के क्षेत्र में उत्सर्ग अधिक है या अपवाद। यह एक प्रश्न है ? यह प्रश्न आज का ही नहीं, भाष्य-युग से चला आ रहा है। बृहत्कल्प-भाष्य में प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है—"जितने उत्सर्ग हैं, उतने ही अपवाद हैं और जितने ही अपवाद हैं, उतने ही उत्सर्ग हैं।[२] उत्सर्ग-अपवाद अन्योन्य आश्रित है। सामान्य परिस्थिति में जो उत्सर्ग है, विशेष परिस्थिति में उसीका अपवाद भी होता है। जैसे सामान्य परिस्थिति में साधु के आधाकर्म आहार आदि नहीं लेने का विधान है, परन्तु परस्थिति विशेष में आधाकर्म आहार लेनेवाले साधु को दोषी नही कहा है। भगवती सूत्र में सामान्य स्थिति में मोह एवं अनुराग वश आधाकर्म आहार देनेवाले श्रावक को अल्प आयु बन्ध करने का कहा है, परन्तु विशेष परिस्थिति में आधाकर्म आदि सदोष आहार देनेवाले को अल्प पाप और महानिर्जरा करनेवाला बताया है।[3] अतः उत्सर्ग और अपवाद दोनों तुल्य हैं, समान हैं।

श्रेय-अश्रेय :

उत्सर्ग-अपवाद दोनों में कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है और कौन-सा अश्रेयस्कर ? कौन सबल है

---

१. पमाया दप्पो भवति- अप्पमाया कप्पो। निशीथभाष्य, पीठिका ९१ की चूर्णी
२. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका, ३२२
३. भगवती सूत्र, ८, ६, ३३१ टीका और ८, ६, ३३२

और कौन निर्बल ? भाष्यकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है—दोनों अपने-अपनेस्थान पर श्रेयस्कर एवं सबल है और दोनों पर स्थान में अश्रेयस्कर एवं निर्बल है। उत्सर्ग के स्थान अपवाद और अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग का आसेवन करना अकल्याण का कारण है। जो साधक स्वस्थ एवं शक्ति-सम्पन्न है, उसके लिए उत्सर्ग स्व-स्थान है और अपवाद पर-स्थान है। पर, जो साधक दुर्बल एवं बीमार है, उसके लिए अपवाद स्व-स्थान है और उत्सर्ग पर-स्थान है। स्व-स्थान में पर-स्थान का और पर-स्थान में स्व-स्थान का आग्रह रखना पतन का कारण है।[1]

परिणामी, अतिपरिणामी, अपरिणामी :

जैनधर्म साधना को आचार को साधना मानता है, साध्य नहीं। साधन सदा एक-सा नहीं रहता है। साधक की स्थिति-परिस्थिति के अनुरूप बदलता रहता है। न वह अत्यधिक परिवर्तन को स्वीकार करता है और न एकान्तरूप से अपरिवर्तन को ही। वह विना कारण नियमों को बदलते रहने को दोष मानता है और कारण उपस्थित होने पर भी जो नहीं बदलने की अति को पकड़े रहता है, उसको भी उचित नहीं समझता। अति भले ही उत्सर्ग में हो या अपवाद में दोनोंदोषमय है। जैनधर्म अति की नहीं, निरति-मध्यममार्ग की बात कहता है। विना कारण उत्सर्ग को मत छोड़ो, परन्तु सकारण उसे छोड़ना पड़े तो विवेक के साथ अपवाद को स्वीकार करो।

तीर्थकरों एवं उनके अनुगामी आचार्यों ने साधक को सदा एक ही बात कही है—"अहा सुहं-**देवाणुप्पिया**—जिस प्रकार तुम्हारी आत्मा में सुख-शान्ति, समाधि एवं समता रहे, उस प्रकार आचरण करो। संयम, क्रिया में नहीं, आत्म स्वरूप में रमण करने में है, समभाव को बनाए रखने में है। भगवती-सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है—आत्म-स्वभाव-समभाव ही सामायिक है और वही सामायिक का अर्थ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों समभाव एवं समाधि को बनाए रखने के लिए है। यदि विशेष विकट परिस्थिति में भी सशक्त साधक समभाव को बनाए रखता है, तो उसके लिए अपवाद का सेवन करना आवश्यक नहीं है। परन्तु जो साधक संकट की घड़ियों में समभाव में स्थित नहीं रह सकता, वह यदि विवेकपूर्वक अपवाद का सेवन करता है, तब भी वह आराधक ही रहता है, परन्तु जो साधक विषय-भोग की आसक्ति से प्रेरित होकर उत्सर्ग से अपवाद में जाता है या उत्सर्ग में रहकर भी भोगों की आकांक्षा रखता है, वह अपने पथ से भ्रष्ट होता है।

व्यवहारभाष्य एवं उसकी वृत्ति में इस सम्बन्ध में एक सुन्दर रूपक दिया है—

एक आचार्य के तीन शिष्य थे। वह उनमें से एक को अपना उत्तराधिकारी चुनना चाहता था। अतः तीनों को अलग-अलग बुलाकर उसने कहा—"मुझे आम्र चाहिए, लाकर दो।"

उनमें से एक अतिपरिणामी था, वह इतनी-सी छूट मिलने के कारण अन्य अकल्प्य सामग्री लाने की बात करता है।

दूसरा अपरिणामी था, वह कहता है—आम्र लाना कल्प के बाहर है। अतः अकल्पनीय वस्तु मैं कैसे ला सकता हूं !

---

१. वृहत्कल्पभाष्य, पीठिका ३२३-२४

तीसरा परिणामी शिष्य - जो विवेकशील था, विनम्रभाव से पूछता है कि आम्र अनेक प्रकार के होते हैं। क्या कारण है और उसके लिए किस जाति का आम्र चाहिए, यह स्पष्ट बताएँ ? साथ ही मैं यह भी जानना चाहता हूं कि कितने आम्र की आवश्यकता है ? परिमाण-मात्रा का परिज्ञान भी होना चाहिए, अन्यथा मैं गल्ती कर सकता हूं।

आचार्य की परीक्षा में परिणामी-निरतिवादी उत्तीर्ण हो गया। वह न तो अति परिणामी की तरह एक अकल्प्य वस्तु मगांने पर, अनेक अकल्प्य पदार्थ लाने की वात कहता है और न अपरिणामी की तरह आचार्य का अनादर करता है। वह विवेक को सामने रखकर गति करने की वात कहता है। परिणामी साधक ही श्रमण-परंपरा का सजग प्रहरी है। वह समय पर देश-काल की परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल सकता है, वदल सकता है।

श्रमण और ब्राह्मण :

जैन आगमों में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है। आचारांग में दोनों शव्दों का आदर के साथ उल्लेख किया गया है। आचारांग चूर्णि में पृष्ठ ९३ पर श्रमण, ब्राह्मण और मुनि को एकार्थक वताया है। ब्राह्मण के लिए आगम में 'माहण' शव्द मिलता है, जिसका अर्थ होता है—जीवों को मत हनो—मत मारो का उपदेश देनेवाले। कहा जाता है कि भरत को **'माहण'** मत मारो का उपदेश देने वाले वर्ग को भरत ने 'माहण' ब्राह्मण की संज्ञा दी थी और उनकी आजीविका का प्रवन्ध राजकोप से किया था। भगवान ऋपभदेव ने तीन वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की स्थापना की और भरत ने चतुर्थ वर्ण ब्राह्मण की स्थापना की।

उस युग में ब्राह्मण वर्ग की वहुत प्रतिष्ठा थी। यह त्यागी वर्ग गिना जाता था। अध्ययन-अध्यापन ही इनका काम था। वाद में इनमें अहंभाव एवं लोभवृत्ति जागृत हो गई। और यज्ञ-याग के द्वारा उसने धर्म पर एकाधिपत्य (Monopoly) जमा लिया। तव से भारतीय संस्कृति में दो धाराएँ चल पड़ी—श्रमण और ब्राह्मण।

ब्राह्मण वैदिक परम्परा को माननेवाले हैं। यज्ञ-भाग का अनुष्ठान करते एवं अन्य प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रहते थे। यज्ञों में पशुओं का वलिदान करना, इन्द्र आदि देवों की पूजा-उपासना करना इनका मुख्य कार्य था।

ब्राह्मण-परंपरा में ब्राह्मणों का सवसे श्रेष्ठ स्थान माना गया। धार्मिक अनुष्ठान करने एवं शास्त्रों का अध्ययन करने का पूरा अधिकार इन्होंने अपने पास रखा। शूद्र एवं नारी को वेदों का एवं धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय करने और सुनने का अधिकार नहीं था। शूद्रों के साथ पशुओं से भी अधिक दुर्व्यवहार किया जाता था।

श्रमण परंपरा निवृत्ति-प्रधान रही है। अहिंसा श्रमणों के जीवन के कण-कण में परिव्याप्त रही है। इसलिए श्रमणों ने हिंसा एवं छूआछूत तथा नारी जाति के तिरस्कार का विरोध किया। केवल मौखिक विरोध ही नही, सक्रियरूप से हिंसक यज्ञों को वन्द कराने का प्रयास किया और शूद्र एवं नारी जाति को श्रमण-संघ में सम्मिलित करके उनकी प्रतिष्ठा को स्थापित किया और उन्हें समानता का अधिकार दिया। भगवान महावीर ने स्पष्ट शव्दों में कहा—"धर्म किसी की व्यक्तिगत वपौती नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति भले ही वह किसी भी जाति, वर्ग, लिङ्ग एवं रंग का क्यों न हो, धर्म को स्वीकार करके, अपने जीवन का विकास करके साधना के द्वारा मुक्ति को पा सकता है।"

उस युग में ब्राह्मण एवं श्रमणों के बीच अनेक बार विचार-चर्चाएँ हुआ करती थी। भगवान महावीर और इन्द्रभूति गौतम एवं अन्य दस ब्राह्मणों के साथ जो विचार-चर्चा हुई और उन्हें ब्राह्मण धर्म से श्रमण धर्म में दीक्षित करके गणधर पद दिया, विशेपावश्यक भाष्य में गणधरवाद के नाम से उसका विस्तृत उल्लेख मिलता है।

हरिकेशी मुनि जब भिक्षा के लिए एक ब्राह्मण के घर पर गए, तब ब्राह्मणकुमारों ने उनका तिरस्कार किया और उनसे वाद-विवाद किया। मुनि ने उनके हिंसाजन्य यज्ञों एवं क्रिया-काण्डों का विरोध किया और यज्ञ का यथार्थ स्वरूप बताते हुए कहा—"तप" ज्योति—अग्नि है, जीवज्योति-स्थान है, मन, वचन, काया के योग-स्रुवा—आहुति देने की कड़छी है, शरीर कारीषांग—अग्नि को प्रज्वलित करने का साधन है, कर्म जलाए जाने वाले ईंधन है, संयम योग शान्ति पाठ है। मैं इस प्रकार यज्ञ-होम करता हूं। जिसे ऋषियों ने श्रेष्ठ बताया है।[1]

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्नलेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्म-स्नान कर कर्ममल से मुक्त होता हूं।"[2] इस प्रकार मुनि ने ब्राह्मणों को श्रमण धर्म का महत्व बताकर, उन्हें श्रमण धर्म की ओर आकर्षित किया।

जयघोप मुनि ने वाराणसी के विजयघोप विप्र को ब्राह्मण धर्म का असली रूप बताकर उसे श्रमण परपरा में दीक्षित किया। मुनि ने कहा है—"ब्राह्मण वही है, जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से निर्लिप्त रहता है। जैसे कमल जल में रहकर भी सदा जल से ऊपर रहता है।"[3] उत्तराध्ययन के २५ वें अध्ययन में जयघोष मुनि ने विस्तार के साथ विजयघोप को श्रमणधर्म का महत्व समझाया है।

श्रमण और श्रमण :

१. सक्क (रत्तपड), बौद्धश्रमणों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्हें क्षणिकवादी भी कहते हैं। क्योंकि ये आत्मा आदि सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। भगवान महावीर के समय बौद्ध श्रमण भी विहार प्रान्त में परिभ्रमण करते थे। ये भी ईश्वर को कर्ता नहीं मानते थे, वेदों को प्रमाणिक नही मानते थे, यज्ञों का विरोध करते थे, शूद्र को अछूत नहीं मानते थे, शूद्र और नारी को समान अधिकार देने के पक्ष में थे। खान-पान के नियमों में कोई प्रतिवन्ध नहीं था। मांस भी ले लेते थे।

जैन श्रमण मांस-मदिरा को स्पर्श नहीं करते थे। उनके नियम कठोर थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे एकान्तवाद में नहीं, अनेकान्तवाद में विश्वास रखते थे। पदार्थों को क्षणिक भी मानते थे, परन्तु एकान्त-रूप से नहीं। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु को नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य-क्षणिक मानते थे। अनेकान्त जैन-परम्परा का मूल रहा है।

उस युग में जैन और बौद्ध श्रमणों का मिलन एवं विचार-चर्चा होती रहती थी। सूत्रकृतांग

---

१. उत्तराध्ययन, १२, ४४, ४६ २. उत्तराध्ययन १२, ४६
३. उत्तराध्ययन, २५, २७

सूत्र में प्रवल तर्क के साथ वौद्ध श्रमणों के सिद्धान्तों को अयथार्थ बताया गया है। जैन-श्रमण भी अपनी तर्कों के द्वारा अपनी परंपरा को समझाने का प्रयत्न करते थे।

२. **तापस**—श्रमण प्रायः जंगलों में रहते थे। और कठोर तप में संलग्न रहते थे। भगवान पार्श्वनाथ के युग में कमठ भी इसी तापस परंपरा में दीक्षित हुआ था। कुमार अवस्था में पार्श्वनाथ ने वाराणसी में गंगा तट पर पंचाग्नि तपते समय उससे कहा था—कष्ट तो वहुत सह रहा है, परन्तु तत्त्व को नहीं जानता, विवेकशून्य होकर क्रिया कर रहा है। तप तो तप रहा है, परंतु हिंसा-अहिंसा का विवेक नहीं रखता। इसलिए धूनि में सांप जल रहा है, उसके प्रति इसके मन में करुणा एवं दया नहीं है। करुणा, दया एवं अनुकम्पा के अभाव में धर्म ठहर नहीं सकता।"

आगमों में तापसों के आश्रमों का उल्लेख मिलता है। भगवान महावीर भी एक वार मोराग सन्निवेश में तापसों के आश्रम में ठहरे थे।[१] औपपातिक सूत्र में २६ प्रकार के तापसों का उल्लेख मिलता है। जैन आगमों में इनके अज्ञानतप का विस्तार से उल्लेख करके उसे मोक्ष मार्ग के लिए सारहीन वताया है।[२]

३. **परिव्राजक**—गेरुआ वस्त्र पहनने के कारण इनको गेरुअ या गैरिक भी कहते थे। वशिष्ठ धर्म सूत्र में कहा है—परिव्राजक को सिर मुण्डाना चाहिए, एक वस्त्र या चर्म खण्ड पहनना चाहिए, गायों के द्वारा उखाड़ी गई घास से अपना तन ढकना चाहिए और जमीन पर शयन करना चाहिए।" औपपातिक सूत्र में इनके सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख मिलता है।[३] भगवती सूत्र में अम्वड परिव्राजक एवं उनके सात शिष्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार किया था।[४]

४. **आजीविक श्रमण**—भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है कि अजीविक मत गौशालक से ११७ वर्ष पूर्व से चला आ रहा था। भगवान महावीर से पृथक होने के वाद गौशालक ने इस मत को स्वीकार किया था और इसी ने इसको अधिक फैलाया। परन्तु आज इसका केवल इतिहास के पन्नों में ही नामोल्लेख मिलता है।[५]

गोशालक निमित्तशास्त्र में पारंगत था। वह वस्त्र नहीं रखता था, घोर तप करता था, घृत आदिरसों का भी परित्याग कर चुका था। इस मत के साधु हिंसा से दूर रहते थे, मद्य-मांस एवं कंद-मूल एवं उद्दिष्ट भोजन नहीं लेते थे। गोशालक की आचार-साधना जैन श्रमणों जैसी थी।[६] केवल नियतिवाद का एकान्त रूप से समर्थन करने के कारण, वह भगवान महावीर से पृथक हो गया। वह उत्थान, कर्म, वल, वीर्य और पुरुषार्थ को कुछ नहीं मानता था, जवकि भगवान महावीर पुरुषार्थ को भी स्वीकार करते थे। औपपातिक, ४१, व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ७, उ० १०, श० ८, उ० ५, श० १५ में एवं उपासकदशा अ० ७ में आजीविक सम्प्रदाय के आचार-विचार एवं उसके अनुयायियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। गौशालक के श्रमणों के साथ जैन श्रमणों की विचार-चर्चा होती रहती थी। वे अनेक वार गोचरी आदि के समय मार्ग में मिलते रहे हैं।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, ४६३,
२ (क) औपपातिक सूत्र, ३८ ; (ख) निरयावलियाओ, ३,
३ वही, ३८,
४ भगवती सूत्र, ११, १२,
५ वही, १५,
६ सूत्रकृतांग ३, ३, ८ टीका

नारी और प्रव्रज्या :

वैदिक-ब्राह्मण परंपरा में नारी को कोई स्थान नहीं था। वह न तो धर्मशास्त्र पढ़ सकती थी और न सुन सकती थी। तथागत बुद्ध ने नारी को धर्म शास्त्र पढ़ने-सुनने का अधिकार दिया। उसको भी पुरुष के समान माना, परन्तु उसे भिक्षु-संघ में प्रविष्ट करने में हिचकते रहे। तथागत बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द के कहने से उन्होंने आम्रपालि को भिक्षुणी बना लिया, परन्तु साथ में यह भी कहा दिया—आनन्द! भिक्षुणी संघ बन जाने से बुद्ध धर्म की स्थिति आधी हो गई है, यदि वह हजार वर्ष तक जीवित रहता, तो अब वह ५०० वर्ष जीवित रहेगा।

जैन परंपरा में प्रारम्भ से ही नारी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय से श्रमणी-संघ का अस्तित्व रहा है। तीर्थ के अन्दर श्रमण और श्रावक वर्ग के समान ही श्रमणी एवं श्राविका वर्ग को अधिकार दिए गए। तीर्थंकर भी समवसरण में बैठते समय इस तीर्थ को अभिवन्दन करते थे। भगवान ऋषभदेव के युग में सुन्दरी और ब्राह्मी के नेतृत्व में तीन लाख श्रमणियाँ धर्मप्रचार एवं साधना में संलग्न थी।[1] इससे स्पष्ट होता है कि जैन-परंपरा में मुक्ति का द्वार नारी के लिए सदा से खुला रहा है। जैन-परंपरा के संस्थापकों के मन में नारी को प्रव्रजित करते समय जरा भी हिचकिचाहट एवं सन्देह नहीं रहा है।

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्ली स्वयं नारी थी और महासती बन्धुमती के नेतृत्व में पचपन हजार साध्वियां विचरण करती थी।[2] और उनके शासन में स्त्रियों की परिषद पुरुष वर्ग से आगे बैठती थी। भगवान अरिष्टनेमि के शासन में महासती यक्षिणी के नेतृत्व में चालीस हजार, भगवान पार्श्वनाथ के शासन में पुष्पचूला के नेतृत्व में अड़तीस हजार और भगवान महावीर के युग में महासती चन्दनबाला के नेतृत्व में छत्तीस हजार साध्वियों का परिवार भू-मण्डल पर विचरण कर रहा था।[3] कल्पसूत्र एवं त्रिपष्ठिशलाका-पुरुषचरित में अन्य तीर्थंकरों के समय में भी साध्वियों का उल्लेख मिलता है और उसमें यह भी बताया है कि किस तीर्थंकर के समय कितनी साध्वियाँ ने मुक्ति को प्राप्त किया। वर्तमान कालचक्र में भगवान ऋषभदेव के युग में सर्वप्रथम मुक्ति को प्राप्त करने वाली माता मरुदेवी नारी ही थी।

विल्सन अपने द्वारा सम्पादित विष्णुपुराण में १६४ पृष्ठ पर लिखता है—"भागवतपुराण में जिस ऋषभ का वर्णन मिलता है, वह जैनों के ऋषभदेव के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।" डॉ० याकोबी ने भी इण्डियन एण्टीशियन पुस्तक में पृष्ठ १६३ पर भगवान ऋषभदेव को प्रथम तीर्थंकर स्वीकार किया है। और भी अनेक प्रमाण हैं, जिनसे जैन-परंपरा का इतिहास भगवान ऋषभदेव से शुरु होता है। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि सभी ऐतिहासिक व्यक्ति भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं। अस्तु जैन-परंपरा की दृष्टि से साध्वी-संघ का अस्तित्व भगवान ऋषभदेव से और इतिहासवेत्ताओं की दृष्टि से भगवान पार्श्वनाथ से रहा है।[4]

---

१ कल्पसूत्र, २१५, २ ज्ञाताधर्म कथा, १, ८, ८३, ३ कल्पसूत्र, १७७, १६२ और १३५

४. Even though we cast aside the existence of the num-order at the time of the first Tirthakara of the Jainas, who it seems, is more a lagendary figure than a historical one, the antiquity of the order can go back safely to the times of Parsva.

—History of Jaina Morachism, P. 502.

ज्ञाताधर्मकथा एवं अन्य आगमिक उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि श्रमणी वर्ग का समाज पर बहुत प्रभाव था। वह भी श्रमण वर्ग की तरह निर्भय होकर धर्म प्रचार करती थी। जब भिक्षा के लिए किसी के घर पर पहुंचती, तो समाज के व्यक्ति खड़े होकर उसका सम्मान करते थे, स्वागत करते थे।[1]

बौद्ध भिक्षुणियाँ की सुरक्षा का संघ के सामने सदा प्रश्न बना रहता था। परन्तु जैन श्रमणी वर्ग के लिए ऐसा नहीं था। समाज में उनके प्रति अपरिमित श्रद्धा थी। इसलिए वे सदा सुरक्षित रही हैं। श्रमण वर्ग भी उनकी सुरक्षा के लिए सदा सावधान रहता था। कठिन जंगल के रास्तों से विहार करते समय आचार्य श्रमणों को उनकी सुरक्षा के लिए साथ भी रखते थे। सामान्यतौर पर श्रमण-श्रमणी साथ-साथ विचरण नहीं करते। लेकिन शील की रक्षा के लिए अपवाद मार्ग में आचार्य श्रमणों को स्पष्ट आदेश देते कि साध्वियों के साथ रहकर उनके शील और संयम की रक्षा करो।[2] इससे स्पष्ट होता है कि श्रमणी वर्ग का महत्वपूर्ण आदर्श रहा है।

जैन-परम्परा में दीक्षा का, साधु जीवन का बहुत श्रेष्ठ स्थान रहा है। उसके प्रति जन-जन के मन में अपरिमित श्रद्धा-भक्ति एवं पूज्य भावना रही है और आज भी विद्यमान है। आगम साहित्य का अनुशीलन करने पर हम इस तथ्य पर पहुँचे हैं कि प्राचीन युग में भोग भोगने के बाद भोगों से विरक्त हुए व्यक्तियों ने ही साधना-पथ को स्वीकार किया है। अपवाद रूप में एक अतिमुक्त को छोड़कर एक भी बालक के दीक्षित होने का उल्लेख नहीं मिलता है। और वह भी योग्यतम महापुरुष भगवान महावीर के द्वारा दी गई थी।

इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि विषयभोगों की कटुता एवं दुःखद परिणति की अनुभूति से मानव मन में जो त्याग-विराग की ज्योति जगती है, अन्तर्प्रेरणा जागृत होती है, वही सच्ची साधना है और वही व्यक्ति दीक्षा का योग्य अधिकारी है। अधिकारी ही अपने नियमों व व्रतों की पूर्ण साधना करने में सक्षम होता है।
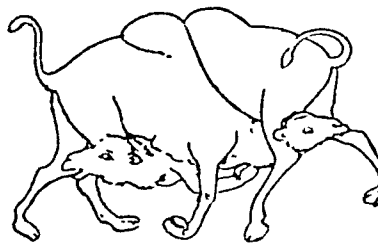
१. ज्ञाताधर्मकथा, १. ८. ७९.

२. निशीथभाष्य : एक अध्ययन, पृष्ठ ६६,

आचार्य हेमचन्द्र जैन साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में एक महान युग-प्रवर्तक थे तो श्री लोंकाशाह धर्म एवं परम्परा के क्षेत्र में एक नवयुग के प्रवर्तक ! दोनों महान् विभूतियां अपने-अपने क्षेत्र में आज भी अद्वितीय व युग स्रष्टा मानी जाती हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ : आचार्य हेमचन्द्र
धर्मक्रांति के सूत्रधार : लौंकाशाह

---

[१]

विराट प्रज्ञालोक आचार्य हेमचन्द्र :

आचार्य हेमचन्द्र, जिन्हें मैं केवल गुजरात व जैनसंस्कृति का ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति का विश्वकर्मा मानता हूं। उन्होंने अपनी अनेकानेक मौलिक कल्पनाओं से भारतीय संस्कृति के स्वरूप को परिपूर्ण किया है।

भारत के दक्षिण-पश्चिम अंचल के एक दिव्य खण्ड में, जो गुर्जरधरा के नाम से सुप्रसिद्ध है, उदित हुआ वह दीप्त नक्षत्र एकदिन संपूर्ण भारत के सांस्कृतिक क्षितिज पर सहस्ररश्मि सूर्य की भांति चमक उठता है, अपने ज्ञानालोक से दर्शन, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, राजनीति, लोकनीति आदि

के समस्त अंचलों को उद्भासित कर देता है। जन-जीवन को एक नवीन स्फूर्ति और आशा से भर देता है। जिसे युग पहले पहल **'गुर्जरसर्वज्ञ'** (गुजरात का सर्वज्ञ) के नाम से सम्वोधित करता है, पर आगे चल कर जव यह विशेषण उनके ज्ञानालोक की अर्थवत्ता का परिवोध कराने में अपूर्ण और अधूरा पड़ता है, तो लोक-मानस **'कलिकालसर्वज्ञ'** कहकर उनका अभिनन्दन करता है।

कितने विनम्र, कितने सरल :

एक सामान्य वणिक्कुल में जन्म लेनेवाला यह वालक[1] एक दिन दक्षिण-पश्चिम भारत की धर्मनीति और राजनीति का ध्रुव वन जाता है। गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह जैसे पराक्रमी और विद्यारसिक नरेशों को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत करता है। अपनी उदार धर्मनीति के कारण उसकी श्रद्धा का केन्द्र वन जाता है और कुशल लोकनीति द्वारा उसके शासन-सूत्र को, राजनीति के प्रत्येक निर्णय को दिशावोध देता है। आगे चलकर कुमारपाल जैसे पराक्रमी शैव नरेशों को तो वह परमार्हत वना देते हैं। मैं समझता हूं, यह चमत्कार नहीं तो और क्या है ?

किसी को छोटी-सी भी प्रतिष्ठा मिल जाती है, थोड़ा-सा भी अधिकार प्राप्त हो जाता है, तो आप जानते है, वह अपने को क्या कुछ समझने लग जाता है। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र कितने सागरवर-गंभीर और कितने जलकमलवत् निर्लिप्त है कि कुमारपाल जैसे सम्राट उनकी चरणधूलि शिर पर लगाते हैं, शासन के हर जनमंगल निर्णय पर उनकी सम्मति जानना चाहते हैं, और वे फिर भी इतने सरल और इतने विनम्र कि विरोधी उन्हें **'हेमड सेवड:'** कहकर अपने आक्रोश की ज्वाला से दग्ध करने का प्रयत्न करते है, तो वे सरलता के साथ कमल पुष्प के समान मुस्करा देते हैं और उसमें संशोधन उपस्थित करते हैं— "भाई, व्याकरण की दृष्टि से **'हेमड सेवड:'** अशुद्ध है, **'सेवड हेमड:'** शुद्ध है **'सेवड'** विशेपण है, अतः विशेपण का पहले प्रयोग होना चाहिए न ?", विनम्रता और सरलता का कितना वेजोड़ उदाहरण है।

करुणा व स्नेह का अमृतसरोवर :

आचार्य हेमचन्द्र के चरित्र का सवसे विलक्षण रूप यह है कि वह जितना गम्भीर, चिंतक और सुदृढ़ है, उतना ही विनम्र, सरल और करुणा एवं स्नेह से परिपूरित है। उनके जीवनचित्र को सूक्ष्मता से देखने पर ऐसा लगता है कि अमृतसरोवर की उच्छल लहरों का एक दिव्य आवर्त उस पर मंडराया हुआ है। किसी लहर में विनम्रता की कणिकाएं हैं, तो किसी में सरलता का शीतल-स्पर्श ! किसी में मन की स्वच्छता की दुग्ध धवलिमा है, तो किसी में करुणा व स्नेह का सात्विक वेग है। उनके जीवन की अनेकानेक घटनाएं मेरे स्मृति पटल पर उभर रही हैं, जिनमें उनके चरित्र की गरिमा छन-छन कर सामने आ रही हैं।

एक वार की वात है। आचार्य हेमचन्द्र विहार करते हुए राजधानी पाटन में आ रहे थे। पाटन से कुछ दूर आचार्य एक छोटे से गांव में ठहरे। वहाँ एक गरीव विधवा वहन थी, आय का कोई

१ प्रभावकचरित के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ की कार्तिकपूर्णिमा को धंधुआ ग्राम (अहमदावाद के उत्तर पश्चिम में ६२ मील) के चाचदेव नामक वणिक के घर पर होता है। वालक का जन्म नाम चंगदेव रखा जाता है।

साधन नहीं होने से सूत कातती और मोटा-सोटा कपड़ा बुनकर बड़ी कठिनाई से अपना जीवन चला रही थी। उस बहन के भावनाशील मन में आचार्य को अपने हाथ से काते हुए सूत की चादर बहराने की प्रवल भावना जागृत हुई। आचार्य श्री से आग्रह किया तो बहन की श्रद्धा और भावना ने आचार्य को गद्‌गद् कर दिया। अत्यन्त श्रद्धा से दी हुई वह चादर आचार्य ने ग्रहण कर ली और उसी चादर को धारण किए वे पाटन में पधार रहे थे।

सम्राट कुमारपाल जब अपने गुरुदेव के स्वागत में अगवानी के लिए पहुँचा और उनके शरीर पर यह मोटी खादी की चादर देखी तो पहले ही क्षण चौंक उठा! अनन्तर विनम्र प्रार्थना की कि—"आचार्यप्रवर! यह क्या? आप सम्राट कुमारपाल के गुरु और यह मोटी चादर? शोभा नहीं देती है आपके शरीर पर! कृपया, दूसरी चादर बदल लीजिए।"

आचार्य ने सम्राट के मन में अहं की लहर देखी। पूछा—"क्यों? इसमें क्या बात हो गई?"

"गुरुदेव! इससे तो मुझे शर्म आती है। आपके शरीर पर तो बहुमूल्य कौशेय परिधान होना चाहिए" सम्राट के गुरु के योग्य परिधान······।"

बात काटकर बीच ही में आचार्य ने ओजस्वी भाषा में कहा—'सम्राट! इस चादर से तुम्हें शर्म आती है? और जिन गरीबों की यह रोटी रोजगार है, उनकी दयनीय स्थिति पर तुम्हें कोई शर्म नहीं आती? तुम्हारे जैसे धर्म-निष्ठ सम्राट के राज्य में ऐसी भी गरीब एवं असहाय विधवा बहनें हैं, जिन्हें यह सब श्रम करने पर भी पेट भर खाना नहीं मिलता। मेरे लिए तो यह चादर सादगी का निर्मल शृङ्गार है। इस चादर में जो श्रद्धा, स्नेह व श्रम के सुनहले धागे हैं, वे तुम्हारी रेशमी चादरों में कहाँ मिलेंगे?"

सम्राट का सिर झुक गया। कहते हैं कि कुमारपाल ने तभी घोषणा की कि राज्य की गरीब व असहाय विधवाओं के लिए शासन प्रति वर्ष एक करोड़ मुद्रा खर्च करेगा।

यह है आचार्य की करुणा व स्नेह का अमृतसरोवर। जिसकी लहरों ने समाज की दीनता, गरीबी और दुःख की कालिमा का प्रक्षालन किया।

परंपरा का परिष्कार :

आचार्य के अहिंसा व करुणा के उपदेश से प्रेरित होकर जब सम्राट कुमारपाल ने अपनी कुल देवी के समक्ष पशुबलि बंद करदी, तो कुछ पुजारी-पुरोहितों ने भ्रम फैलाया कि देवी कुपित होकर राज्य को संकट में डाल देगी। सम्राट असमंजस की स्थिति में आचार्य के चरणों में पहुंचे। धैर्य डगमगाया देखकर आचार्य ने इतना सुन्दर समाधान किया कि सम्राटका मन स्थिर हुआ सो हुआ, एक ही रात में सम्पूर्ण जनमत भी बदल गया। आचार्य के परामर्श से सम्राट ने देवी के मंदिर में पशुओं को उन्मुक्त छोड़ दिया, कि देवी को यदि बलि अभीप्ट है तो वह अपने आप बलि ले लेगी! प्रातः जब मन्दिर के द्वार खुले तो सभी पशु आनन्द से हरी-हरी घास चरते मिले। सम्राट ने और जनता ने एक स्वर से स्वीकार किया कि देवी को बलि नहीं चाहिए, बलि स्वार्थी पुजारियों को चाहिए।"

मैं आपसे बता रहा था कि हजारों वर्षों से चली आती इस हिंसक परम्परा को आचार्य ने कितने सहज और मधुर समाधान के साथ समाप्त कर दिया। परंपरा एक रूढ संस्कार बन जाती है उन-

वद्ध संस्कारों का वदलना सहज नहीं होता। उनके पीछे प्रवल जनमत होता है। अतः जनता के चिरागत संस्कार और विचार-प्रवाह को वदल देना और वह भी मधुरता तथा सरलता से। वस्तुतः यह एक महान दिव्य कार्य था।

आचार्य हेमचन्द्र में पुरानी परंपरा को नया रूप देकर उसे समाजोपयोगी बनाने की अद्भुत कला थी। वस्तुतः तह एक विलक्षणता ही थी कि उन्होंने पुरानी ज्योति को बुझने नहीं दिया, उसी में नया स्नेहदान करके उस ज्योति को आगे नये रूप में प्रज्वलित करते गये। पुराने प्रकाश और तेज को अक्षुण्ण रखकर जनचेतना को सतत नव जागरण देना—यह आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा का चमत्कार है।

नवसाहित्य सर्जक :

दर्शन और साहित्य के चलते आये पुराने मानदंडों, परिभाषाओं और विचारस्रोतों को उन्होंने नई दिशा दी, नया रूप दिया। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में उन्होंने अपने युग का सर्व श्रेष्ठ और सर्वांगपूर्ण व्याकरण **श्री सिद्धहैम शब्दानुशासन** तैयार कर दिया। सरल सक्षम सूत्र योजना और सुगम संज्ञाओं के कारण उस युग का विद्वद्वर्ग इस व्याकरण पर मुग्ध हो उठा। जिसकी कमनीयता के सम्बन्ध में आज भी यह उक्ति प्रसिद्ध है—"**श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्री सिद्धहेमोक्तयः।**"[1] तत्कालीन संस्कृतभक्त विद्वत्समाज में प्राकृत भाषा की प्रतिष्ठा और सुव्यवस्थित भाषा शास्त्र की दृष्टि से उन्होंने प्राकृत व्याकरण की भी संरचना की, जो सिद्ध हेमशब्दानुशासन के आठवें अध्याय के रूप मे प्रस्तुत हुआ है। व्याकरण के ज्ञान को काव्य की मधुरता के साथ प्रस्तुत करने के लिए दण्डी की तरह उन्होंने भी द्वयाश्रय काव्य का निर्माण किया, और वह भी एक नहीं, वल्कि दो-दो। संस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य और प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य।

कोश भाषाज्ञान की मूल संपत्ति होती है। संस्कृत कोषकारों में जहाँ धनंजय और अमर सिंह का नाम आता है, वहाँ उनसे भी अधिक आदर के साथ आचार्य हेमचन्द्र का नाम लिया जाता है। उन्होंने एक नहीं, वल्कि चार कोशो की रचना की जिनमें अभिधानचिन्तामणि तो एक विशालकाय कोश है।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। साहित्य का कोई भी अंग उन्होने अछूता नहीं छोडा। वाग्भट और मम्मट की तरह उन्होंने काव्य-शास्त्र के विशद विज्ञान हेतु काव्यानुशासन का प्रणयन किया, जिसमें कुछ परिभाषाएँ तो वहुत मौलिक और नवीन हैं। काव्य के पुराने प्रयोजन '**यशसे, अर्थकृते " कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे**' आदि जो चले आरहे थे, उसमें आचार्य ने एक सर्वथा नवीन प्रयोजन—'**काव्यमानन्दाय**' और जोड़ा, उसी का '**स्वान्तःसुखाय**' रूप वर्तमान में सर्वाधिक सृजनात्मक प्रेरणा के रूप में माना गया है।

जैन जगत के व्यास :

महाभारत के लिए एक कहावत है—"**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्**"—जो

---

१ भ्रातः संवृणु पाणिनिप्रलपितं कातन्त्रकंथा वृथा,
मा कार्षीः कटु शाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिजठरयत्यामानमन्यैरपि,
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्री सिद्धहेमोक्तयः॥

इसमें है, वही दूसरी जगह है, जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के सम्बन्ध में भी यदि यही बात कही जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।[1]

भगवान् आदिनाथ से लेकर महावीर तक के जैन इतिहास को संकलित करने का भगीरथ प्रयत्न सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में किया था। पर वह इतिहास इतना संक्षिप्त व संकेत मात्र था कि बिना टीका व भाष्य के उसे केवल स्मृतिसंकेत (नोट्स) मात्र कहा जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कमी को पूरा किया। उन्होंने भगवान् ऋषभदेव से लेकर अपने युग तक के संपूर्ण जैन इतिहास को एक क्रमबद्ध रूप दिया, परम्परा दी और वह भी काव्यात्मक शैली में। त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित के माध्यम से न केवल जैन परंपरा का एक विशद इतिहास उपस्थित होता है, अपितु महाभारत की तरह उसमें भी अध्यात्म, संस्कृति, नीति, धर्म और आचार की अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ भरी हुई हैं। मैं तो मानता हूँ आचार्य ने इस रचना के द्वारा जैन साहित्य की बहुत बड़ी रिक्तता को भरा है, जैन परम्परा व इतिहास को एक अमरता प्रदान की है। वैदिक साहित्य में जो स्थान महाभारत-कार व्यास का है, लगभग वही स्थान जैन-साहित्य में आचार्य हेमचन्द्र का है। वे जैनजगत के व्यास कहे जा सकते हैं। जिन्होंने जैन साहित्य को सर्वांगता एवं संपूर्णता प्रदान की है।

आचार्य हेमचन्द्र की कृतियों को जब कभी पढ़ने का अवसर मिलता है, तो मेरे मन में एक सहज श्रद्धा स्फुरित हो उठती है कि वह महान आचार्य सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी था। 'सर्वतोमुख' शब्द मैं सामान्य अर्थ में नहीं, किन्तु एक विशेष अर्थ में कह रहा हूं। भारतीय धर्म की एक कल्पना है कि ब्रह्मा के चार मुख होते हैं। हमारे यहां तीर्थंकरों के लिए भी यह कहा जाता है कि समवसरण में उनके मुख चारों ओर दिखाई देते हैं। यह एक अतिशय माना गया है। शब्द सत्य के रूप में लोगों को यह बात अटपटी लगती है, किन्तु हम यदि शब्द के आवरण को हटाकर भाव का स्पर्श करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि जिस व्यक्ति का ज्ञान सर्वांगीण होता है, वह जीवन के किसी भी पार्श्व को छू ले, प्रकाश ही प्रकाश जगमगाता मिलेगा। जिसका संपूर्ण जीवन ज्ञानालोक से प्रदीप्त होगा, उसे हम ब्रह्मा, सर्वज्ञ, चतुर्मुख या सर्वतोमुख आदि शब्दों से पुकारते हैं। प्रतिभा की इसी विलक्षणता एवं व्यापकता के कारण उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' के विरुद से भूषित किया गया। साहित्य का क्या, जीवन के किसी भी अंग को उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा—यह एक विलक्षण बात है। कभी-कभी सोचता हूं उनकी प्रतिभा में भारतीय इतिहास की सहस्रों प्रतिभाएँ एक साथ समाहित हो गई हैं। त्रिषष्टि शलाकाचरित देखने पर वे जैनजगत के विद्यापीठ पर व्यास के समकक्ष खड़े प्रतीत होते हैं। व्याकरण उठाकर देखता हूं तो पाणिनि और शाकटायन से भी आगे बढ़े लगते हैं। प्रमाणमीमांसा का अध्ययन करते हैं तो लगता है वे सुप्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति की धवलकीर्ति के धनी हैं। दो-दो द्व्याश्रय महाकाव्यों को पढ़ते ही महाकवि दण्डी के साथ उनकी तुलना करने का जी होता है। काव्यानुशासन का अध्ययन करने पर मम्मट और वाग्भट के साथ आचार्य को प्रतिष्ठित करने का संकल्प जग जाता है। अभिधानचिन्तामणि जब देखें तो अमर और

---

१ महाभारत जिस प्रकार हिन्दू संस्कृति का प्रमुख इतिहास ग्रन्थ माना जाता है, उसी प्रकार त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित भी जैनधर्म व संस्कृति का महान् इतिहास ग्रन्थ है—यह निःसंदेह कहा जा सकता है।

धनंजय की प्रतिभा का समावेश आचार्य में होता प्रतीत होता है और योगशास्त्र का अवलोकन करने पर योगदर्शनकार पतंजलि की स्मृति हुए विना नहीं रहती। अर्हन्नीति का अध्ययन करते लगता है, यह जैन जगत् का मनु उपस्थित हो रहा है। इसप्रकार उनकी सर्वांगीण प्रतिभा पर मन श्रद्धा से झूम-झूम जाता है।

आज कार्तिक पूर्णिमा के दिन भारतीय क्षितिज के संपूर्ण कलामंडित कलाधर आचार्य हेमचन्द्र की यह स्मृति हमारे मन मस्तिष्क को गुदगुदा रही है। और उनके विलक्षण कृतित्व से एक ओर दिव्य प्रेरणाएँ जग रही हैं, तो दूसरी ओर मन श्रद्धाविमुग्ध हुआ पुलक रहा है।

[२]

पन्द्रहवीं शताब्दी की पृष्ठभूमि :

जैन इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि श्रमणभगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु तक जैन परम्परा एक अखण्ड प्राणवान् परम्परा रही है। भद्रबाहु के पश्चात् जैन संघ दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में दो टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। इसका परिणाम होता है कि उसकी तेजस्विता धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। पूर्व भारत, जो कभी श्रमण परंपरा का केन्द्र रहा था, वह अब शून्य होने लगता है और जैनश्रमण भारत के दक्षिण तथा पश्चिम अंचल में चले जाते हैं। दक्षिण में जानेवाले जैन श्रमण अधिकांश दिगम्बर श्रमण होते हैं। दक्षिण भारत में जहां शंकराचार्य के अद्वैत और रामानुजाचार्य के स्पृश्यास्पृश्य धर्म का वोलवाला रहा है, जैन विचार उससे बहुत दिन तक अप्रभावित नहीं रह सका। ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे परिस्थितियों व जन-प्रवाह के साथ सामंजस्य विठाने के लिए जैन-धर्म का एक दक्षिण भारतीय संस्करण तैयार हो गया, जिसकी आदि में वेदान्त (निश्चयनय) की भूमिका लिखी गई तो उसके अगले पृष्ठों पर स्त्री-अनिर्वाण, शूद्रान्न-परिहार आदि अध्याय जुड़ गए। चूंकि ये विचार जैन-धर्म के मूल विचार नहीं थे, अतः उत्तर पश्चिम भारत के जैन श्रमण इस परम्परा से बिलकुल दूर, और कहीं-कहीं तो प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी खड़े हो गए।

भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में जो श्रमणपरंपरा फैली, उसमें प्रायः श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण थे। मैं नहीं मानता कि यह परम्परा भी अपने मूल रूप में अविचल एवं अक्षुण्ण रही हो। यदि वैसा हुआ होता तो क्रान्ति की वात सर्वथा असंगत-सी प्रतीत होती। वड़े-वड़े मठों और मठाधीशों के सामंतशाही वातावरण में जो मीठा चेपी रोग छिपा था, उसने धीरे-धीरे जैन श्रमणों को भी आक्रांत कर लिया। वे भी चैत्य और धर्म प्रभावना के नाम पर धन की वरसा करने लगे, जिनपूजा और जिनभक्ति के नाम पर वड़े-वड़े आडंवर रचे जाने लगे। श्रमण वर्ग अपने **'सज्ज्झायज्झाणरए स भिक्खू'** के आदर्श से हटकर, लोकसंग्रह में जुट गया। **'अणगार'** और **'अणिकेयचारी'** कहलाने वाला श्रमण अव चैत्यवासी और उपाश्रय-उपधिधारी वन रहा था। राजाओं, वादशाहों, ठाकुरों आदि को यंत्र-मंत्र-तंत्र का चमत्कार वताकर राजकीय सम्मान और अधिकार प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा में कूद पड़ा। भले हो इन सब के पीछे जैनधर्म और संघ की प्रभावना का उद्देश्य रहा हो, पर यह भी मानना होगा कि यह रास्ता गलत था, इससे जैनसंघ की मूलभित्ति सुदृढ़ नहीं हुई। हां, कुछ आचार्यों व मुनियों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और महिमा में अवश्य ही चार-चांद लग गए।

३७

मैं यह तो नहीं मानता कि कोई भी परम्परा किसी काल में अपने मूल रूप से सर्वथा दूर हट जाती है । श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद भी अनेक ज्योतिर्धर आचार्य जैन परम्परा में हुए हैं जिन्होंने इसके गौरव को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया है। कुमारिल्ल, शंकराचार्य, नागार्जुन और धर्मकीर्ति जैसे प्रतिस्पर्धी विद्वानों के आघातों एवं तर्क तूफानों से रक्षा करके इसकी नाव को खेते रहे हैं, बड़ी कुशलता के साथ ! यह सब कुछ होते हुए भी श्रमणपरम्परा मूलतः अपने अभ्युदय की ओर नहीं बढ़ सकी, स्वेच्छाचार और ऐहिक आकर्षणों से अपने स्वत्व की रक्षा नहीं कर सकी—यह भी खेद के साथ स्वीकार कर लेना पड़ता है। भगवान् महावीर ने धर्मक्रांति की जो गंगा बहाई थी, धीरे-धीरे उसमें काफी शैवाल आ गई थी, और उसकी धारा भी प्रायः शुष्क व क्षीण-सी हो गई थी ।

परिस्थितियों की विवशता और श्रमणवर्ग की शिथिलता, विचार-चिंतन का अभाव और गतानुगतिकवृत्ति का प्राबल्य—ये कुछ चिह्न थे, जो अब किसी नई क्रांति और हल-चल का संकेत दे रहे थे । अतः पन्द्रहवीं शताब्दी पूर्ण होते-होते भारत के उसी पश्चिमांचल गुजरात में लोंकाशाह क्रान्ति का शंखनाद करते हैं ।

लोंकाशाह में एक बहुत बड़ा आत्मबल और साहस था कि वे गृहस्थ साधक होते हुए भी श्रमण यतिवर्ग के विरुद्ध क्रान्ति का झंडा उठाकर खड़े हो जाते हैं। एक गृहस्थ साधक के द्वारा धर्मक्रान्ति का सूत्रपात इतिहास का दुर्लभ सत्य है। साधारण मनुष्य में यह साहस होना बहुत ही कठिन है। एक तो गृहस्थ वैसे ही साधु-सन्यासी से डरा-डरा सा रहता है—वह उसे अग्नि से कम भयानक नहीं मानता—

राजा जोगी अगनि जल इनकी उलटी रीत ।
डरता रहियो परसराम थोड़ी पालें प्रीत ॥

और उसमें भी तत्कालीन यतिवर्ग मंत्र-तंत्र के चमत्कारों के लिए भी प्रसिद्ध था, बड़े-बड़े बादशाहों को भी उसने चमत्कार दिखाए थे, उस यति वर्ग से लोहा लेना, उन्हीं की जड़ों पर प्रहार करना, कितना कठिन और साहस का काम था यह ? बात यह है कि जिसके पास सत्य का बल होता है उसे कभी किसी से भय नहीं होता, उसका हृदय सदा साहस और आत्म-विश्वास से भरा रहता है ।

गंभीर शास्त्रज्ञाता :

लोंकाशाह का परिचय हमें आज जो मिलता है उसमें सबसे पहली बात यह कही जाती है कि वह एक लहिया लिपिक) था। उसने शास्त्र लिखते-लिखते जब पढ़े और उनका अर्थ समझा, तो वह चोंक उठा ।

मैं सोचता हूं, यह एक अधूरा सत्य है। कोई भी लिपिकार, उस विषय को समझ सके जिसे वह लिख रहा है; आवश्यक नहीं। यदि पुस्तकें देखने और लिखने से इतना ज्ञान हो जाता हो तो लिपिकार (नकल करनेवाले) तो आज के ये टाइपिस्ट, ये कम्पोजिटर और ये लाइब्रेरियन भी हैं। ये सब से अधिक ज्ञानी बन जाने चाहिएँ। बात यह है कि पढ़ना कुछ और बात है, और उनका मनन-चिंतन करना कुछ और बात है। लोंकाशाह केवल एक लिपिकार ही नहीं थे, वे अध्ययनशील चिंतक भी थे। उनका अध्ययन तलस्पर्शी था। यह बात मैं केवल श्रद्धा के कारण नहीं, किंतु इतिहास के आधार पर कह रहा हूं। लोंकाशाह की दो कृतियां आज प्राप्त होती हैं—**लुंकाना सद्दिया ५८ बोल' और लुंकानी हुँडी ३३**

बोल'। आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि अनेक आगम ग्रन्थों तथा आचारांगनिर्युक्ति तथा आचारांगवृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, वृत्ति, निशीथचूर्णि आदि गुरुगंभीर ग्रंथों की जो चर्चा व उनके प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, वे सिद्ध करते हैं कि वह एक सामान्य लिपिकार नहीं, वल्कि आगमों का गंभीर अभ्यासी था।

क्रान्ति का आग्नेयपथ :

लोंकाशाह का जीवन यह स्पष्ट कर देता है कि सत्य का साधक कभी असत्य को वरदाश्त नहीं कर सकता। लोंकाशाह ने जब आगम के साथ तत्कालीन साधु जीवन और आचार-व्यवहार की तुलना की होगी, तो अवश्य ही उनकी चेतना सहसा चौंक उठी होगी। अहिंसा और करुणा के अवतार भगवान् महावीर ने भिक्षु के लिए जहाँ एक फूल की पंखुड़ी को छूने का भी निषेध किया है, एक अन्न के कण के संग्रह को भी पाप वताया है, वहाँ भक्ति और पूजा के नाम पर फूलों के अनर्गल ढेर कैसे लग सकते हैं? पूर्ण अकिंचन वीतराग की मूर्ति पर सोना और हीरे पन्ने कैसे सजाये जा सकते हैं? समता और वैराग्य-प्रधान श्रमणधर्म केवल आडंवर और पूजा प्रतिष्ठा के दलदल में वुरी तरह दव जाए—यह वात किसी भी सत्यशोधक को उद्वेलित कर सकती है। मैं समझता हूं सत्य की यही प्रवल प्रेरणा लोंकाशाह को तत्कालीन श्रमणयतिवर्ग के विरुद्ध क्रांति के आग्नेयपथ पर वढ़ा देती है।

जहाँ तक मेरा अध्ययन है, लौंकाशाह ने विद्रोह का मर्यादाहीन कठोर पथ नहीं अपनाया था। उनके स्वर में सत्यशोधक की दृढ़ता अवश्य है, पर उसके साथ ही हितचिंतक की मृदुता भी है। वे अपने यति वर्ग से विनम्र भाषा में कहते थे—"जो वुद्धिमान हैं, वे मेरी वातों पर विचार करें। विवेकी लोग मेरी वातों को समझें।" सत्य को प्रस्तुत करने की यह मधुर व विचारपूर्ण शैली उनकी क्रांति को व्यापक व सफल वनाने का मूल मंत्र था। यही कारण है कि कुछ ही समय में उनकी क्रांति में एक प्रवाह और वल आ जाता है। लखमसी, जो पाटण का एक वहुत धनाढ्य व्यापारी था, वह लोंकाशाह का समर्थक वन जाता है। धीरे-धीरे जनता में विचारक्रांति की एक लहर दौड़ जाती है, कुछ खलवली-सी मच जाती है और पुरानी परंपरा के सिंहासन डगमगाने लगते हैं।[1]

उथल-पुथल का युग :

कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि पन्द्रहवीं शताव्दी विश्व में धर्म-क्रांति की शताव्दी थी। यूरोप में उन दिनों पोप के विरुद्ध जनमत जागृत हो रहा था। जनता में धार्मिक चेतना प्रवुद्ध हो रही थी, और मार्टिन लूथर (जर्मन) जैसे उग्रवादी नेता उसका नेतृत्व कर रहे थे। भारत में भी उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक धर्म, समाज और राजनीति में उथल-पुथल थी। पंजाव में गुरु नानकदेव भारत के अद्वैत और अरव के इस्लाम से हिंदूधर्म का नया संस्करण तैयार कर रहे थे,

---

१ उस समय की स्थिति का अंकन करते हुए लोंकाशाह के समकालीन सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीकमलसंयम ने लिखा है—

डगमगपडियुं सघलउ लोक, पोसालइ पणि आवइ थोक।
लुंकइ वात प्रकासी इसी, तेहनुं शिष्य हुउ लखमसी।

—कुमतकंदली कृपाणिका (वि० १५४४)

जिसमें समानता और वन्धुता का आदर्श था। पूर्वभारत में कवीर जैसे संत, मंदिर मस्जिद-दोनों का ही उपहास करके धर्म के वाह्याडंवरों के विरुद्ध क्रांति का शंखनाद कर रहे थे।

दक्षिण में उससे भी कुछ पूर्व नामदेव जैसे संतों के स्वर गूंज उठे थे, जो न मंदिर की पूजा में विश्वास करते थे और न मस्जिद की नमाज में।[1] धार्मिक आडंवर, वाह्याचार, मूर्तिपूजा आदि के विरुद्ध समस्त भारत में एक अजव लहर उठ रही थी, जो जन-मानस को शुद्ध और सरल धर्म साधना की ओर उड़ाये ले जा रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोंकाशाह अकेले नहीं, भारत का अधिकांश चिंतक वर्ग उस युग में धार्मिक चेतना और क्रान्ति से आलोडित है।

लोंकशाह के सम्वन्ध में कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि प्रारंभ में उन्होंने केवल साधु-वर्ग के शिथिलाचार के विरुद्ध ही आवांज उठाई थी, किन्तु धीरे-धीरे उनका विरोध ज्यों-ज्यों प्रवल होता गया, और उसमें विरोध के नये-नये स्फुलिंग स्फुटित होते गये, त्यों-त्यों मूर्तिपूजा-विरोध, वेपपरिवर्तन आदि की वातें भी उसमें जुड़ती गईं। यह भी हो सकता है कि मूर्तिपूजा के विरोध का वातावरण उस युग में सर्वत्र वन चुका था। इस कारण भी लोंकाशाह की वात को वल मिला हो, और फिर लखमशी आदि के साथ विचार चर्चा में ज्यों-ज्यों नये-नये मोड़ आते गए, त्यों त्यों मतभेद की वातें अधिकाधिक विस्तृत होती गई हों!

इन सव वातों को समझ लेने पर भी यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि लोंकाशाह में एक निष्ठावान् और तेजस्वी व्यक्तित्व निखर रहा था। जिस सत्य के दर्शन उन्होंने किए उसे प्रकट करने में कभी कतराये नहीं। जिस ज्योति को उन्होंने स्वयं प्राप्त किया, उसे तूफानों और प्रभंजनों के बीच भी जलाते ले गए। सत्य के लिए उन्होंने लोक प्रतिष्ठा का व्यामोह छोड़ा, जीवन की सुख सुविधाओं का त्याग किया, वड़े से वड़े विरोध और आतंक का सामना किया। उनकी धर्मक्रान्ति हजारों-हजार साधकों के लिए प्रकाश का मार्ग वन गई, जीवन की संवल वन गई। जीवन के अंत में भले ही सुकरात की तरह उन्हें भी विप मिला हो, किन्तु जिसने जीवन भर अमृत का मंथन किया हो, अमृत वांटा हो, वह भला विप से कभी विचलित हुआ है? मैं तो मानता हूं वह जगत का विप वटोर कर दूर फेंक गया और हमारे लिए सत्य का अमृत छोड़ गया। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा लोंकाशाह के उस अमृतमंथन की आज भी ऋणी है, और सदा रहेगी।

१ हिन्दु पूजें देह रा मुसलसान मसीत।
नामा सोई सेविया, जहं देहरा न मसीत॥ —नामदेव
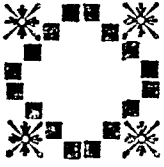
जैन परम्परा में

आचार्य का स्वरूप

● मरूधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमलजी म॰

दशवैकालिकसूत्र के नवमें अध्ययन में वताया गया है कि साधु-संघ का संचालक आचार्य कैसा होना चाहिए ? संघ की व्यवस्था, संघ का सुचारुरूपेण संचालन, समृद्धिपना और संघ की सुदृढ़ता ये सारी वातें किसके ऊपर आधारित्त हैं ? किस पर पर निर्भर हैं ? उत्तर में कहा जायगा कि संघ-संचालक पर निर्भर हैं । अर्थात् आचार्य पर !

आचार्य के गुण :

यदि संघ का संचालक कुशल, लोकव्यवहारज्ञ, दूरदर्शी और निपुण है, तो उसके संघ की व्यवस्था में कभी गड़वड़ी उत्पन्न नहीं हो सकती है । वह संघ का आचार्य कैसा होना चाहिए ? इस विपय में आगम में कहा गया है—

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध छावासो ।
मेरुव्व णिप्पकंपो सुरो पंचाणणो वज्जो ।।
देस-कुल-जाइसुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को ।
गयणव्व णिरुवलेवो आयरियो एरिसो होइ ।।

संगह-णिग्गह कुसलो सुत्तत्थ विसारओ पहियकित्तो ।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आयरियो ।।

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमागम के पूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिसकी वुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोपरीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर है, सिंह के समान निर्भय हैं, श्रेष्ठ है, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्त्ति हैं, अन्तरंग और वहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह-संग से उन्मुक्त है और आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसा महापुरुप आचार्य होता है । जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा देने में, और निग्रह अर्थात् प्रायश्चित दंड देने में कुशल हो, सूत्र और अर्थ की विचारणा में विशारद हो, जिनकी कीर्त्ति सर्वत्र फैल रही हो और जो सारण (आचरण) वारण (निपेध) एवं साधन (व्रतों का संरक्षण) रूप क्रियाओं में निरन्तर उद्युक्त हो, ऐसा व्यक्ति ही आचार्य होने के योग्य है ।

आचार्य की परिभाषा और भेद :

आचार्य का शब्दार्थ है—आचारवान ! शब्दशास्त्र के विद्वानों ने बताया है—

आचारं ग्राह्यत्याचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा ।[1]

जो दूसरों को आचारवान बनाता है, शास्त्रों के वास्तविक अर्थों का अनुशीलन करता है तथा आचार व शास्त्र की शिक्षा-द्वारा बुद्धि को परिमार्जित करता है. वह आचार्य कहलाता है ।

शास्त्र में आचार्य के कई प्रकार बताये है । राजप्रश्नीय सूत्र में तीन प्रकार के आचार्य बताये गये हैं —

तओ आयरिया पण्णत्ता—
कलायरिए, धम्मायरिए, सिप्पायरिए ।[2]

तीन प्रकार के आचार्य कहे हैं—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य ।

धर्माचार्य के कई प्रकार बताये हैं ।

आचार्य के ज्ञान, उपशम, वैराग्य आदि गुणों की अपेक्षा से चार प्रकार बताये हैं —

१ आंवले के मीठे फल के समान ।[3]
२ दाख के मीठे फल के समान ।
३ खीर के समान ।
४ इक्षुखंड के समान ।

आचार्य के यह भेद उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं । इसी प्रकार अन्य उपमा देकर भी आचार्य के चार भेद बताये गये हैं । जैसे[4]

(१) **चण्डाल के करण्डतुल्य**—पट्प्रज्ञक गाथादि रूप सूत्रधारी एवं विशिष्ट क्रियाहीन ।

(२) **वेश्या के करण्डतुल्य** ज्ञान अधिक न होने पर भी वाग्आडम्बर से मुग्धजनों को प्रभावित करने वाला ।

(३) **गृहपति के करण्डतुल्य**—स्व-समय पर-समय का जानकर एवं क्रियादि गुणयुक्त ।

(४) **राजा के करण्डतुल्य**— समस्त गुणों से युक्त आगम में वर्णित आचार्य के गुण व गरिमा से संयुक्त ।

आचार्य की गरिमा :

चोथे प्रकार के आचार्य किस प्रकार से संघ में शोभा को प्राप्त होते हैं इस विषय में कहा गया है—

जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासई केवल भारहं तु ।
एवायरिओ सुयसील - बुद्धिए, विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥[5]

---

१. निरुक्त अ० १ खण्ड ४।१२ २. राजप्रश्नीयसूत्र
३. स्थानांग ४।३।३२० ४. स्थानांग ४।४।३४८
५. दशवैकालिक ९।१४

जैसे रात्रि के अन्धकार का नाशक तपन-किरण वाला सूर्य दिन में सारे भरत क्षेत्र को अकेला ही प्रकाशमान करता है। इसी प्रकार आचार्य भी सारे संघ को अपने तेजस्वी प्रताप रूप प्रकाश से सदा प्रकाशमान करता है और जो अपने श्रुत, शील और बुद्धि से संघ में इस प्रकार विराजमान है जैसे कि इन्द्र देवों के मध्य में विराजता है। आचार्य के विपय में और भी कहा गया है—

जहा ससी कोमुई जोगजुत्तो नक्खत्त तारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहइ विमले अब्भमुक्के एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥[1]

जिस प्रकार शरद्पूर्णिमा का चन्द्रमा अट्ठाईस नक्षत्र, अठ्यासी ग्रह और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर (६६,९७५) कोडा-कोडी तारों के परिवार से घिरा हुआ निर्मल मेघ-रहित आकाश में शोभायमान होता है, उसी प्रकार गणका स्वामी—संघपति भी अपने संघ के साधुओं के मध्य में शोभायमान होता है।

शरद्-पूर्णिमा के चन्द्रमा के लिए कहा जाता है वह अमृत वरसाता है, इसीलिए इसका नाम भी सुधारोचिप् या अमृतवर्पी रखा गया है। सिद्धान्त की दृष्टि से चन्द्र इन्द्र तो आसोज शुक्ला पूर्णिमा को चन्द्र विम्व पर आता है। शेप दिनों में तो उसके प्रतिविम्व ही आते हैं। उक्त दोनों पूर्णिमाओं में चन्द्रमा से वरसती हुई अमृतमयी किरणों के सम्पर्क से जंगलों में उत्पन्न होनेवाली अनेक औपधियां अमृत से परिपूर्ण होकर महान् गुणवाली हो जाती हैं। आज भी अनेक अनुभवी और पुराने वैद्य लोग उक्त पूर्णिमाओं के चन्द्र प्रकाश में रात्रिभर औषधियां रखते हैं कि जिससे उनमें भी अमृत का प्रभाव पड़ सके और वे अति लाभकारी वन जावें। इसी कारण चन्द्रमा को औपधीश्वर भी कहते हैं। इस प्रकार का अमृतवर्षी चन्द्रमा जैसे अपने पूरे परिवार के साथ गगन मंडल में शोभा पाता है, इसी प्रकार से उपर्युक्त सर्व गुण-सम्पन्न आचार्य भी अपने मुनि मंडल में शोभा पाता है।

जब चन्द्रमा में शीतलता है, अमृतवर्पीपना है, प्रमोद उत्पादकता है और प्रकाशमान ज्योति है, तभी तो वह जगदानन्द-दायक कहा जाता है। और सारा संसार उसे देखकर अपनी तपन को वुझाकर शान्ति का अनुभव करता है। इसी प्रकार श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वीरूप चतुर्विध संघ का स्वामी आचार्य को कहा गया है। अथवा जैसे अपने ऐश्वर्य, तेज और प्रभाव से इन्द्र अपने देव-परिवार के मध्य शोभा पाता है उसी प्रकार आचार्य को भी कहा गया है। आचार्य को शीतगृह—आज की भापा में वातानुकूलित गृह के समान कहा गया है। शास्त्रों में वर्णन आता है, चक्रवर्ती का भवन ऐसा होता था जो सव ऋतुओं में एक समान सुखप्रद तथा ऋतु के अनुकूल रहता था। उसे शीतगृह कहा जाता था। आचार्य को उस शीतगृह की उपमा देते हुए कहा है—

रागद्दोस विमुक्को सीयघरसमोय आयरिओ ।[2]

राग-द्वेप से रहित, समता भावी आचार्य शीतगृह के समान हैं। ऐसे आचार्य की समस्त श्रमण संघ सेवा करता है। पर ये सव वातें आचार्य के लिए कव संभव है? जव कि उसमें उपर्युक्त गुण हों? संघ की उन्नति या अवनति का सारा भार और उत्तरदायित्व आचार्य के ऊपर रहता है। यदि आचार्य

---

१. दशवैकालिक ९।१५
२. निशीथभाष्य २७९४

सर्वप्रकार से योग्य नहीं है, तो संघ भी योग्य नहीं होगा। शास्त्रकारों ने आचार्य के छत्तीस विशेष गुण बतलाये हैं। उसे साधु के साधारण गुणों से विशिष्ट छत्तीस गुणों का धारक होना चाहिए। जैसा कि कहा है—

छत्तीस गुण समग्गो णिच्चं आयरइ पंच आयारं।
सिस्साणुग्गहकुसलो भणिओ सो सूर परमेट्ठी ॥[1]

जो छत्तीस गुणों से संयुक्त हो, पांच आचारों का नित्य आचरण करें और शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल हों, वह आचार्य परमेष्ठी कहा गया है।

छत्तीस गुण :

आचार्य के छत्तीस गुण इस प्रकार कहे गये हैं—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादशस्थितेः।
कल्पादशाऽऽवश्यकानि षट्त्रिंशद् गुणा गणेः॥

आचारवत्त्व आदि आठ गुण, अनशनादि बारह तप, आचेलक्यादि दशकल्प और सामयिकादि छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण आचार्य के कहे गये हैं। इनमें आचारवत्त्वादि आठ गुण इस प्रकार कहे गये हैं—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वो य।
आयावयाविदंसी तहेव उत्पीलगो चेव॥
अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवण गुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ॥

आचारवान् हो, अर्थात् दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पंच आचारों का स्वयं पालन करे और अपने शिष्यों को करावे। जैसा कि कहा—

वही चतुर्विध संघ का नायक गणी आचार्य ध्यान करने के योग्य है, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और उत्कृष्ट तप इन पांच आचारों में अपने को भी नियुक्त करता है और अन्य शिष्यादि को भी नियुक्त करता है।

दंसण-णाण पहाणे वीरिय-चारित्त-वर तवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणीझेओ॥[2]

आचार्य का दूसरा गुण आधारवान् है। उसे शास्त्रों का भली-भांति से ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि श्रुतज्ञान के आधार के बिना वह अपने आपको एवं शिष्यों को रत्नत्रय में स्थिर नहीं रख सकता है तीसरा गुण व्यवहारवान् है, उसे प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए, तथा देश-काल और पात्र की स्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए। चौथा गुण प्रकर्तृत्व है। आचार्य में इतनी कर्तृत्वशक्ति होना चाहिए कि संकट का समय उपस्थित होने पर वह सर्व संघ की रक्षा एवं वैयावृत्य कर सके। पांचवां अपायोपायदर्शी गुण है—जो साधु आलोचना करने में कुटिलता करे तो उसके ठीक नहीं कहने के दोष

---

१ प्रवचनसारोद्धार, द्वार ७२
२ द्रव्यसंग्रह ५२

और ठीक कहने के गुण वतानेवाला होना चाहिए। छठा अवपीड़क गुण है—यदि शिष्य अपने दोषों को न कहे तो उसे डाट-फटकार दिखा करके उससे दोप कहला सकने का सामर्थ्य होना चाहिए। सातवां अपरिस्रावी गुण है—किसी भी शिष्य के द्वारा कहे गये दोपों को वाहर प्रकट नहीं करना चाहिए। आठवां निर्यापक गुण है—संथारा स्वीकार करनेवाले साधु को क्षुधा-तृपादि परीपहों से पीड़ित होने पर उसकी वाधाओं को दूर करते हुए, उसका सम्यक्-प्रकार समाधि-मरण कराने में कुशल हो। इन आठ गुणों से युक्त साधु ही आचार्यपद के योग्य माना गया हैं।

आचार्य स्वयं अनशन आदि वारह प्रकार के तपों का पालक हो और आचेलकत्व आदि दशकल्प का धारक हो। वे दशकल्प इस प्रकार हैं—

आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहार रार्यपिंडकिइकम्मे।
वदजेट्ठ पडिक्कमणे मास पज्जोसवणकप्पो ॥[1]

आचेलक्य, अनौद्देशिक, शय्यातर-अशन त्याग, राजपिंड-त्याग, कृतिकर्म करने में उद्यम, व्रतारोपणत्व, व्रतज्येष्ठत्व, प्रतिक्रमण पांडित्य, मासकल्प और पर्युपणाकल्प। इन दशकल्पों का धारक एवं अपने शिष्यों से परिपालन करानेवाला आचार्य को होना आवश्यक है। इसी प्रकार उसे सामायिकादि आवश्यकों का भी भलीभांति से पालन करना चाहिए।

आगम में कहा गया है कि जो आचार्य इन छत्तीस गुणों का पालन नहीं करता है, वह स्वयं तो धर्म से भ्रष्ट होता ही है, साथ ही औरों को भी धर्म से परिभ्रष्ट कर देता है, एवं धर्म-मार्ग का नाश करत है। यथा—

भट्टायारो सूरी भट्टायाराणुविक्खओ सूरी।
सम्मग्गठिओ सूरी तिण्णिवि मग्गं पणासंति ॥
उम्मग्ग नासए जो उ सेवए सूरी णियमेणं।
सो गोयम, अप्पाणं अप्पं पाडेइ संसारे ॥[2]

जो स्वयं भ्रष्टाचारी है, भ्रष्टाचारवालों को उपेक्षा करता है और उत्सूत्ररूप मार्ग का प्रस्थापक है, ये तीनों ही प्रकार के आचार्य सन्मार्ग का विनाश करते हैं। भगवान् गौतम से कहते हैं कि हे गौतम! जो ऐसे उन्मार्ग-आश्रित आचार्यों की सेवा करता है, वह अपने आपको संसार-समुद्र में गिराता है। इसलिए ऐसे भ्रष्ट आचार्य से दूर ही रहना चाहिए।

अपूर्ण औरों को परिपूर्ण कैसे बनायेगा ?

जिस आचार्य में जितने गुणों की कमी है, वह उतना ही अपूर्ण है। जो स्वयं अपूर्ण है, वह संघ को परिपूर्ण कैसे वना सकेगा? जो स्वयं परिपूर्ण होगा, वही दूसरों को परिपूर्ण वना सकेगा। आचार्य के कुछ और भी गुण कहे हैं—

पंचिंदिय-संवरणो तह नवविहबंभचेरगुत्तिधरो।
चउव्विहकसायमुक्को इह अट्ठारस गुणेंहि संजुत्तो ॥

---

१ पंचास्तिकायविवरण, गाथा १७
२ गच्छाचार पइण्णा २८-२९

पांचों इन्द्रियों का संवरण करने वाला हो। आचार्य को सर्वप्रथम अपनी सर्वइन्द्रियों का दमन करने वाला होना चाहिए। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—इन पांचों ही इन्द्रियों को अपने वश में रखे, उनके विषयों में अपनी प्रवृत्ति न होने देवे। पांचों इन्द्रियों के तेईस विषय हैं और दो सौ चालीस विकार है। ये विषय और विकार जिनसे सर्वथा दूर हो गये हैं, वे जिन्हें दवा नहीं सकते हैं, या जिन पर हावी नही हो सकते, वे ही महापुरुष आचार्य कहलाने के योग्य हैं। किन्तु आचार्य होकर के भी जिसके कान, आंख, नाक और जवान अपने वश में नही है, वह पुरुष आचार्यपद पाने के योग्य नहीं है। आचार्य के प्रति संघ की क्या प्रवृत्ति है और आचार्य की संघ के प्रति क्या प्रवृत्ति है? यह भी जानना आवश्यक है। क्योंकि सारे संघ का उत्तरदायित्व आचार्य के ऊपर है। तथा आचार्य की जिम्मेदारी सारे संघ के ऊपर है। इस विषय पर मुझे एक पुरानी सत्य घटना याद आ रही है, उसे प्रसंगवशात् कहना अनुचित नहीं होगा।

प्रेरक आदर्श :

हमारी परंपरा में पूज्यरघुनाथजी महाराज हुए। उनके पाट पर टोडरमलजी महाराज, दीपचन्दजी महाराज, भेरुदासजी महाराज और उनके पाट पूज्य जैतसिंहजी महाराज हुए हैं। यह घटना जैतसिंहजी महाराज से सम्बन्ध रखती है। वे बहुत ही सुन्दर भाषण देते थे। उनके व्याख्यान को सुनकर लोग मंत्र-मुग्ध से हो जाते थे। उन्हें कुछ कविता करने का शौक था। वे एक समय पाली पधारे। चैत्र का मास था। वे रुई के कटलेवाले स्थानक में विराज रहे थे। चैत्र में गनगौरियों का मेला लगता है।

हां, तो मेला जोरों से भरा हुआ था। जो कविता करते हैं, उन्हें संगीत सुनने का भी शौक रहता है। उस स्थानक की पोल मे एक छोटी सी वारी थी। वहां पर पाटिया लगाकर पूज्य महाराज विराज गये और बैठे-बैठे मेले में गाये जाने-वाले दो-चार राग धारण कर लिये। उसी स्थानक में भोपत-रामजी तपस्वी भी विराजते थे। उनकी बहुत भारी धाक वहां पर थी। उन्होंने जो पूज्य जी को वारी में बैठा देखा तो सोचा कि यह तो बहुत अनुचित है कि संघ का एक आचार्य मेला देखे? यद्यपि पूज्यजी केवल राग हृदयंगम करने के लिए ही बैठे थे, मेला देखने के लिए नहीं। परन्तु तपस्वीजी ने सोचा कि यदि लोगों को पता चलेगा कि पूज्य महाराज मेला देखने को वारी में बैठे हैं तो वे क्या सोचेंगे कि जब ये स्वयं ऐसे है, तब शिष्यों को क्या रोक सकते हैं? यह बात तपस्वीजी को बहुत अखरी। परन्तु कुछ कह नही सकते थे, क्योंकि वे पूज्यजी भी ऐसे ही रौब वाले थे। रियासत के धनी राजा के सामने, तथा संघ के स्वामी आचार्य के सामने बोलने में रोमांच हो जाता है। हां, तो पूज्यजी राग अव-धारण करके कुछ देर पश्चात् वहां से उठकर अपने स्थान पर आगये। उन्हें मेला देखने से तो कोई प्रयोजन था ही नही। परन्तु तपस्वीजी को भ्रम हो जाने से उनका वहां बैठना बहुत खटका और बुरा लगा।

जब दूसरे दिन सवेरा हुआ, तब बड़े सबेरे ही सिरेमलजी मूथा साधु-वन्दन के लिए आए। वे सात सौ थोकड़ों के ज्ञाता थे और श्रावक-संघ के भी मुखिया थे। उनके आते ही तपस्वीजी ने कहा—मूथाजी, जरा भीतर दया पालो। जब वे भीतर गये तो उन्होंने रात्रि की सारी घटना उन्हें सुना दी और कहा कि आप एकान्त में पूज्य महाराज साहब से निवेदन कर देना। मूथाजी ने कहा—हां महाराज, कर दूंगा। व्याख्यान का समय होने पर पूज्य महाराज आकर पाट पर विराज गये और व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु उस दिन मूथाजी तपस्वीजी की बात सुनकर घर चले गये और व्याख्यान

प्रारम्भ होने के वाद कुछ देर से स्थानक में पहुंचे । उन्होंने पहुंचते ही वड़े जोर से कहा—तपस्वीराज, वह कौन भेषधारी था, जिसने रात को मेला देखा है ?

मूथा सिरेमलजी के ये शब्द सुनते ही आचार्य महाराज ने वड़ी लज्जा का अनुभव किया, व्याख्यान देना वन्द कर दिया और शास्त्र के पन्ने पुट्ठे में रखकर तुरन्त भीतर कमरे में चले गये। यह देखकर मूथाजी का हृदय दहल गया और तपस्वीजी सोचने लगे—यह क्या गजव हो गया। मैंने तो मूथाजी से एकान्त में कहने को कहा था। परन्तु इन्होंने तो भरी हुई सभा में ही कह दिया। अव मूथाजी और तपस्वीजी दोनों भीतर गये। पूज्य महाराज ने कहा—मूथाजी, कल दूसरा साधु और कोई नहीं था, मैं ही वारी में वैठा हुआ था। मेरी इच्छा मेला देखने की नहीं थी। परन्तु दो-चार रागों को धारण करने के भाव से वहां वैठा था। फिर भी मैं मानता हूं कि मेरा वहां पर वैठना उचित नहीं था। व्यावहारिकता की दृष्टि से यह अयोग्य कार्य था। परन्तु आपको भी तो इस प्रकार भरी सभा में कहने का क्या अधिकार है ? मूथाजी ने कहा—महाराज साहव, मुझसे भूल हो गई, आप मुझे क्षमा करें। मुझे इस प्रकार भरी सभा में नहीं कहना चाहिए था। अव आप जो दंड दें, उसे हम लेने को तैयार हैं। मेरे से वहुत वड़ी आशातना हो गई, इसका मुझे वहुत अधिक दुःख है। पूज्यजी ने कहा—भाई, पहले जूते मार देना और पीछे कहना कि भूल हो गई, क्या यह वात ठीक है ? जव आपके संघ ने मुझे आचार्य पदवी दी है, तव उसका मान-सन्मान रखना भी आपका कर्त्तव्य है ? क्या इस प्रकार अपमानित करना आप लोगों को शोभता है ? वोलो—क्या तुम्हें ज्ञात नहीं था ? या तपस्वीजी को पता नहीं था ? यदि पूछना ही था, तो व्याख्यान के वाद पूछ लेते ? यदि एकान्त में तुम मुझे दो थप्पड़ भी मार देते तो मैं सहन कर लेता। परन्तु भरी सभा में इस प्रकार कहना यह मेरा नहीं, वल्कि इस गादी का अपमान करना है। मैंने भूल की है, अतः मैं ही पहिले दण्ड लेता हूं। क्योंकि जव मैं ही ऐसे काम करूँगा तो दूसरों को कैसे रोक सकूंगा ? यह कहकर उन्होंने तेला का प्रत्याख्यान कर लिया। तव मूथाजी और तपस्वीजी ने कहा—पूज्य महाराज, हमको भी दंड दे दीजिए। उन्होंने उत्तर दिया—जो दंड तुम्हारी आत्मा कहे, वह तुम ले लो। इसके पश्चात् पूज्य महाराज व्याख्यान देने को गये तो उन दोनों की आंखों से आसू झर रहे थे। उन्होंने पूज्य महाराज साहव और सारी सभा के वीच में कहा—भाइयो, आज हमसे भ्रमवश वुद्धि-विपर्यास से इस गादी की भारी आशातना हुई है अतः हम गादी के प्रति अपराधी हैं और उसके प्रायश्चित्त स्वरूप हम दोनों एक-एक अठाई का दंड लेते हैं; यह कह कर उन्होंने उसी समय सवके सामने आठ उपवास का प्रत्याख्यान कर लिया।

इस घटना के उल्लेख का अभिप्राय यह है कि आचार्य ने जो भूल की, उसका दंड उन्हें लेना पड़ा और मूथाजी वा तपस्वीजी ने जो भूल की उसका दंड उन्हें लेना पड़ा। प्रत्येक कार्य अपनी मर्यादा से होना चाहिए। जिस आचार्य की इन्द्रियां अपने अधीन नहीं हैं, वह क्या हमारा आचार्य वन सकता है ? और उसका दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? पूर्व काल में आचार्य और संघ दोनों ही अपने अपने कर्त्तव्य पालन करने में दृढ़ और कठोर थे। पहिले संघ को आचार्य की और आचार्य को संघ की शंका रहती थी। यदि उस समय आचार्य अपना कर्तव्य न निवाहते, तो जगत् में दोनों का ही अपवाद फैलता। परन्तु दोनों ने अपनी-अपनी भूल स्वीकार करके तत्काल उसका परिमार्जन कर दिया। इससे दोनों की ही शोभा रह गई।

पांच इन्द्रियों के संवरण के पश्चात् आचार्य के गुणों में वतलाया गया है 'तह नवविह वंभचेरं च। अर्थात् आचार्य नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करे तथा आचार्यको क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार पांच इन्द्रियों को जीतना, नववाड़युक्त ब्रह्मचर्य को पालना और चार कषायों का दमन करना ये सब अठारह गुण हो गये। इनमें पांच महाव्रतों के मिलाने से तेईस गुण हो जाते हैं। फिर इन में पूर्वोक्त आचार और आधारवान् आदि आठ संपदा को मिलाने से छत्तीस गुण हो जाते हैं। जिसमें ये छत्तीस गुण हों, वही आचार्य हो सकता है।

परन्तु आज हम लोगों को यह भूख लग रही है कि संघ हमें आचार्य कब बनावे ? आज आचार्य पदवी के विना हम से साधना ही नहीं होती है। साधु के कर्तव्य पालन में हमारा चित्त ही नहीं लगता है। आचार्य वनाओ ! कौन मना करता है। केवल आचार्य बन जाने में ही शोभा नहीं है, परन्तु उसमें इतने गुण होना चाहिए। आचार्य को अनुशासन के समय वज्र से भी अधिक कठोर होना चाहिए और अनुग्रह के समय फूल से भी अधिक कोमल होना चाहिए। आचार्य के दोनों नेत्र सावन और भादवें के समान सजल और शुष्क रहना चाहिए। आचार्य में एक ओर जोश और दूसरी ओर होश होना आवश्यक है। उसमें क्रान्ति भी होनी चाहिए और जहां जिसका उपयोग आवश्यक समझे, वहां पर उसका उपयोग करना चाहिए, जिससे कि संघ में किसी भी प्रकार कुप्रवृत्ति प्रवेश न कर सके। इस प्रकार से ही संघ सुरक्षित रहता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति कर सकता है।

●

✶————————
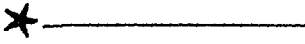
तर्क और श्रद्धा… … …

तर्क ने कहा—"मैं संसार की प्रत्येक वस्तु को निरावरण करके उसे नग्नरूप में उपस्थित कर सकती हूं।

श्रद्धा ने कहा—बहन ! इसमें क्या बड़ी बात है। हर बच्चा और हर प्राणी नग्नरूप में ही पैदा होता है, विशेषता तो यह है कि उसे सजाकर सुन्दर परिधानों में वेष्ठित कर उसके नयनाभिराम सौन्दर्य के दर्शन किये जाय। यह काम तुम नहीं, मैं कर सकती हूं।"

—मधुकर मुनि
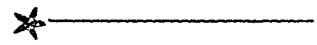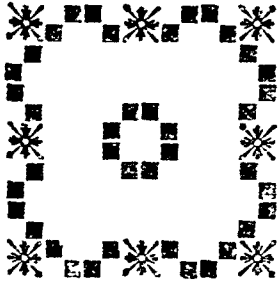
साध्वी-परम्परा की हिन्दी जैन कवयित्रियां

डा० (श्रीमती) शान्ता भानावत, एम. ए. पी-एच. डी.
हिन्दीविभाग, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर

हिन्दी कवयित्रियों पर अब तक जो शोध कार्य हुआ है[1] उसके द्वारा विभिन्न परम्पराओं और प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करनेवाली कई कवयित्रियां हमारे सामने आई हैं। निर्गुणधारा की कवयित्रियों में दयाबाई, सहजोबाई तो प्रसिद्ध हैं ही, इनके अतिरिक्त रूपादे, उमाबाई, स्वरूपाबाई, गवरीबाई आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सगुणधारा की कवयित्रियों में कृष्णशाखा के अन्तर्गत मीराबाई, सोढ़ीनाथी, छत्रकुंवरीबाई, सम्मानबाई, सौभाग्यकुंवरी आदि कई कवयित्रियों के नाम हमारे सामने आते हैं। रामशाखा के अन्तर्गत प्रतापकुंवरी, रत्नकुंवरी और चन्द्रकलाबाई के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डिंगल-परम्परा की कवयित्रियों में भीमा चारणी, पद्मा चारणी, चम्पादे रानी आदि प्रसिद्ध हैं।

भारतीय धर्म-परम्परा में साधुओं की तरह साध्वियों का भी विशेष योगदान रहा है। जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं, ऐतिहासिक-परम्परा के रूप में हमें भगवान महावीर के बाद के साधुओं की आचार्य-परम्परा का तो पता चलता है पर उनकी साध्वियों की परम्परा अंधकाराच्छन्न है। भगवान महावीर के समय में ३६००० साध्वियों का नेतृत्व करने वाली साध्वी चन्दनबाला का उल्लेख शास्त्रों में आता है। महावीर से ही तत्त्वचर्चा करनेवाली जयन्ती का उल्लेख भी हमें मिलता है। यह तो निश्चित है कि साधुओं और श्रावकों के साथ-साथ साध्वियों और श्राविकाओं की भी अविच्छिन्न परम्परा रही है। इस परम्परा को खोज निकालना इतिहासज्ञों एवं साहित्यिकों के लिये एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य-निर्माण में जैन साधुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उसके मूल्यांकन की ओर अब विद्वानों का ध्यान जाने लगा है। साधुओं के साथ-साथ जैन-साध्वियों ने भी साहित्य के निर्माण और संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। साध्वी-परम्परा की इन कवयित्रियों की ओर अभी विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। इस निबन्ध में साध्वी-परम्परा की कुछ प्रमुख हिन्दी जैन-कवयित्रियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

१. इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दो ग्रंथ द्रष्टव्य हैं—
(क) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ —डॉ० सावित्री सिन्हा
(ख) राजस्थानी कवयित्रियाँ —श्री दीनदयाल ओझा [प्रेरणा : फरवरी १९६३]

१४ वीं शती से लेकर २० वीं शती तक की जिन जैन-साध्वी कवयित्रियों का हमें उल्लेख प्राप्त हुआ है उनके नाम इस प्रकार हैं—

	नाम	रचना-काल
१.	गुणसमृद्धि महत्तरा	वि० सम्वत् १४७७
२.	विनयचूला	,, १५१३ के लगभग
३.	पद्मश्री	,, १५४० के लगभग
४.	हेमश्री	,, १६४४ के लगभग
५.	हेमसिद्धि	,, १६६२ से पूर्व
६.	विवेकसिद्धि	,, १६७० के लगभग
७.	विद्यासिद्धि	,, १६६६
८.	हरकूबाई	,, १७२० के आसपास
९.	हुलासाजी	,, १८८७
१०.	सरूपाबाई	,, १६०० के लगभग
११.	जड़ावजी	,, १८६८ (जन्मकाल)
१२.	आर्या पार्वताजी	,, १६११ जन्मसम्वत्)
१३.	भूरसुन्दरी	,, १६२४ (,,)
१४.	रत्नकुंवरजी	,, १६६२

यहां उक्त कवयित्रियों का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है—

१. गुणसमृद्धि महत्तरा—

यह महत्तरा खरतरगच्छीय जिनचन्द्रसूरि की शिष्या थी। इनके द्वारा रचित प्राकृत भाषा में ५०२ श्लोकों में निबद्ध 'अंजणा सुन्दरी चरियं' ग्रन्थ जैसलमेर के भंडार मे विद्यमान हैं। इसमें हनुमान जी की माता अंजना सुन्दरी का चरित्र वर्णित है। इस रचना की प्रशस्ति से सूचित होता है कि इसकी रचना विक्रम सम्वत् १४७७ में चैत्र सुदि त्रयोदशी के दिन जैसलसर में की गई—

> "सिरि जेसलमेर पुरे विक्कमचउदसहसत्तुत्तरे वरिसे।
> वीरजिण जन्म दिवसे कियमंजणिसुन्दरी चरियं ॥४६२।

२. विनयचूला—

ये साध्वी आगमगच्छीय हेमरत्नसूरि के समुदाय की हैं। इन्होंने सम्वत् १५१३ के आसपास 'श्रीहेमरत्नसूरि गुरुफागु' नाम की ११ पद्यों में रचना बनाई है। इसमें अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि का परिचय दिया गया है। इस रचना के अनुसार हेमरत्नसूरि खेतसीवंशीय भीमग के पुत्र थे। इनकी माता का नाम रांभली था। उन्होंने बाल्यावस्था में ही विरक्त होकर अमरसिंहसूरि से दीक्षा ग्रहण की और बाद में ये आचार्य बने।[1] [इस रचना का आदि और अंत भाग इस प्रकार है]

---

१. इस रचना का प्रकाशन श्री अगरचन्दजी नाहटा ने 'सुधर्मा' के अक्टूबर १६५० के अंक में कराया है।

आदि भाग—

अहे जुहारिस जगत्रय अधिपति, मुनिपति सुमति जिणंद ।
अहे गायसु रागि घनागम, आगमगच्छ मुणिंद ।।
श्री हेमरत्नसूरि भगति हि, विगति हि गुण वर्णवेसु ।
गुरु पद पंकज सेविय, जीविय सफल करेसु ।।१।।

अन्त भाग—

अहे विनय मेरु अनुकूला, चूला गरिम निवास ।
मम···· लहर, मणहर देसण भास ।
इणिपरि सुहगुरु सेवड, केवड नहीं भववासि ।
दुर्लभ नरभव लाधड, साधड सिद्धि सल्हास ।।११।।

३. पद्मश्री—

इनका सम्बन्ध भी आगमगच्छीय समुदाय से रहा है। श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने "जैन गुर्जर कविओ' भाग ३ खण्ड १ के पृष्ठ ५३५ पर इनकी एक रचना 'चारुदत्त चरित्र' का उल्लेख किया है। पुष्पिका में लिखा है 'इसे आगमगच्छीय धर्मरत्नसूरि ने सम्वत् १६२६ चैत्रवदि १४ के दिन लिपिवद्ध किया। यह २५४ छन्दों की रचना है। इसका आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि भाग—

देवि सरसति देव सरसति अति वाणी ।
आपु मनि आनन्द करि धरीय भाव भासुर चिहत्तिहिं ।
पत्र पंकय पणमूं सदा, भय हरणो भालोय भत्तिहिं ।
चारुदत्त कम्मह चरी, पभणिसु तुम्ह पसाय ।
भवीयाँ भाविहिं सांभलु, परिहरि परहु पमाय ।

अन्त भाग—

सुख संसारि भोगव्या घणां, फल लीधां मणुय जनमह तणां ।
अन्तकालि अणसण उच्चरइ, देवलोकि सुरवर भवतरइ ।।२५२।।
नेमि चरित्र वसुदेव कथा, सुणतां पातिक हुई वृथा ।
तिहां थी अरथ अहे उद्धरी, चारुदत्त नूं कीधूं चरी ।।२५३।
जाणइ भणावइ भासुर भीत्ति, अथवा जड़े सुणइ निज चित्ति ।
तेह घरि नवनिधि हुई निरमली, भणइ पद्मश्रीयवंचित फली ।।२५४।।

४. हेमश्री—

ये साध्वी वडतपगच्छ के नयसुन्दरजी की शिष्या थी। 'जैन गुर्जरकविओ' भाग १ के पृष्ठ २८६ पर इनकी एक रचना 'कनकावती आख्यान' का उल्लेख मिलता है यह ३६७ छन्दों की रचना है। इसका निर्माण सम्वत् १६४४ वैशाख सुदी ७ मंगलवार को किया गया। [इसका आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि भाग—

सरसति सरस सकोमल वांणी रे, सेवक उपरि बहु हीत आंणी रे।
श्री जिनचरण सीसज नांमी रे, सहि गुरु केरी सेवा पांमी रे।
सेवा पांमी सीस नांमी, गाउं मनह उलट घणइ।
कथा सरस प्रबन्ध भण सूं, सुजन मनइ आंणंदनी।

अन्त भाग—

भणई गुणई संभलिजे नर, तेह घरि मंगल च्यार।
हेम श्री हरषई ते बोलई, सुख संयोग सूसार ।।३६७।।

५. हेमसिद्धि—

इनका सम्वन्ध खरतरगच्छ से था। श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने 'ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह' के पृष्ठ २१० और २११ पर इनके दो गीतों का पाठ दिया है। पहली रचना है—'लावण्य सिद्धि पहुतणी गीतम्' इस रचना में साध्वी लावण्यसिद्धि का परिचय दिया गया है। रचना के अनुसार लावण्यसिद्धि वीकराजशाह की पत्नी गुजरदे की ये सुपुत्री थी। पहुतणी रत्नसिद्धि की ये पट्टधर थीं। जिनचन्द्रसूरिजी के आदेश से ये वीकानेर आई और वहीं अनशन आराधना की। सम्वत् १६६२ में स्वर्ग सिधारी [रचना का आदि अन्त इस प्रकार है—]

आदि भाग—

आदि जिणेसर पयनमी, समरी सरसती मात।
गुण गाइसुं गुरुणी तणा, त्रिभुवन मांही विख्यात।

अन्त भाग—

परता पूरण मन केरी, कल्पतरु थी अधिकेरी।
हेमसिद्धि भगति गुण गावइ, ते सुख सम्पति नितुपावइ।

इनकी दूसरी रचना 'सोमसिद्धि निर्वाण गीतम्' है। इनमें १८ पद्य है। रचना के अनुसार सोमसिद्धि का प्रारंभिक नाम संगारी था। ये नाहर गोत्रीय नरपाल की पत्नी सिंगादे की पुत्री थी। वोथरा गोत्रीय जेठाशाह के पुत्र राजसी से इनका विवाह हुआ था। १८ वर्ष की आयु में इन्होंने दीक्षा ली। ये लावण्यसिद्धि के पद पर प्रतिष्ठित हुई। इनके बाद कवयित्री हेमसिद्धि पट्टधर वनी। यह रचना कवित्वपूर्ण है। इसमें कवयित्री का सोमसिद्धि के प्रति गहरा स्नेह और भक्तिभाव प्रकट हुआ है। अन्त की पंक्तियां देखिये—

मोरा नइ वलि दादुरां, बाबीहा नइ मेहो रे।
चकवा चितवत रहइ, चंदा उपरि नेहो रे ।।१६।।
दुखीयां दुख भांजीयइ, तुम्ह विना अवरन कोइ रे।
सह गुरुणी गुण गावीयइ, वांदउ दिन २ सोई रे ।।१७।।
चन्द्र सूरज उपमा दीजइ (अधिक) आणंदो रे।
पहुतीणी 'हेमसिद्धि' इम भणइ देज्यो परमाणंदो रे ।।१८।।

६. विवेकसिद्धि—

ये लावण्यसिद्धि की शिष्या थी। नाहटा जी ने ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह के पृ० ४२२ पर उनकी एक रचना 'विमल सिद्धि गुरुणी गीतम्' प्रकाशित की है। इस रचना के अनुसार विमल सिद्धि मुलतान निवासी माल्हू गोत्रीय शाह जयतसी की पत्नी जुगता दे की पुत्री थी। बीकानेर में इनका स्वर्गवास हुआ। रचना का आदि अंत इस प्रकार है :—

आदि भाग—

गुरुणी गुणवन्त नमीजइ रे, जिम सुख सम्पति पामीजइ रे।
दुख दोहग दूरि गयी जइ रे, पर भवि सुरसाथिरमी जइ रे।

अन्त भाग—

विमल सिद्धि, गुरुणी महीयइ रे, जसु नामइ वांछित लहीयइ रे।
दिन प्रति पूजइ नर नारी रे, विवेक सिद्धिसुखकारी रे॥२२४॥

७. विद्यासिद्धि—

नाहटाजी ने 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' के पृ० २१४ पर इनकी एक रचना गुरुणी गीतम् से प्रकाशित की है। प्रारंभ की पंक्ति न होने से गुरुणी का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। बाद की पंक्तियों से सूचित होता है कि ये गुरुणी साउंसुखा गोत्रीय कर्मचन्द की पुत्री थी और जिनसिंह सूरि ने इन्हें पहुतणी पद दिया था। यह रचना संवत् १६६९ भाद्र कृष्णा २ को रची गयी है।

८. हरकूबाई—

इनका सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा से रहा है। आचार्य श्रीविनयचन्द ज्ञान भण्डार जयपुर में पुष्ठा सं० १०५ में ८८ वीं रचना 'महासती श्रीअमरुजी का चरित्र' इनके द्वारा रचित मिलती है। इसकी रचना संवत् १८२० में किशनगढ़ में की गई। इन्हीं की एक अन्य रचना 'महासती जी चतरुजी सज्झाय' नाम से नाहटाजी ने ऐतिहासिक काव्य संग्रह में पृष्ठ संख्या २१४, २१५ पर प्रकाशित की है।

९. हुलासाजी—

यह भी स्थानकवासी परम्परा से सम्बन्धित हैं। आचार्य विनयचन्द्रज्ञान भण्डार, जयपुर में पुष्ठा सं० २१८ में ५० वीं रचना क्षमा व तप ऊपर स्तवन इनकी रचित मिलती है। इसकी रचना संवत् १८८७ में पाली में हुई थी।

१०. सरूपाबाई—

ये स्थानकवासी परम्परा के पूज्य श्रीमलजी महाराज से सम्बन्धित है। नाहटाजी ने ऐतिहासिक काव्य संग्रह में पृ० १५६-१५८ पर इनकी एक रचना 'पूज्य श्रीमलजी की सज्झाय' प्रकाशित की है।

११. जड़ाव जी—

ये स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्रीरतनचन्द्र जी महाराज के सम्प्रदाय की प्रमुख रंभाजी की शिष्या थी। इनका जन्म संवत् १८९८ में सेठों की रीया में हुआ था। संवत् १९२२ में ये दीक्षित हुई। नेत्र ज्योति क्षीण होने से संवत् १९५० से अंतिम समय संवत् १९७२ तक ये जयपुर में ही स्थिरवासी

३९

बनकर रहीं। इनकी रचनाओं का एक संकलन "जैन स्तवनावली" नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें इनकी स्तवनात्मक, कथात्मक, उपदेशात्मक और तात्त्विक रचनायें संग्रहित हैं। रूपक निर्माण में इन्हें विशेष सफलता मिली है। एक उदाहरण देखिये—

'ज्ञान का घोड़ा चित्त की चाबुक, विनय लगाम लगाई।
तप तरवार भाव का भाला, खिम्या ढाल संभाई॥
सत संजम, का दिया मोरचा, किरिया तोप चढ़ाई।
सझाय पंच का दारु गोला, तोपां दागी चलाई॥
राम नाम का रथ सिणगार्या दान दया की फोजा।
हरख भाव से हाथी होदे, बैठा पांचो मोजा॥
साच सिपाही पायक पाला, संवर का रखवाला।
धर्म राय का हुक्म हुआ जब, फौजा आगी चाला॥

१२. आर्या पार्वताजी—

इनका सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा के पूज्य श्रीअमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय से है। इनका जन्म आगरे के निकट चेड़ा भांडपुरी गांव में चौहान रजपूत बलदेव सिंह की पत्नी धनवती की कुक्षी से संवत् १९११ में हुआ। जैनमुनि कंवरसेनजी के प्रतिबोध से संवत् १९२४ में इन्होंने साध्वी हीरादेवी के पास दीक्षा ग्रहण की। बाद में ये सती खूबांजी की शिष्या तपस्विनी मेलोजी की शिष्या बन गई। पंजाब की साध्वी परम्परा में इनका गौरवपूर्ण स्थान रहा है। 'जैन गुर्जर कविओ' भाग ३ खण्ड १ पृष्ठ ३८९ पर इनकी निम्नलिखित चार रचनाओं का उल्लेख है—(१) गुरु मण्डली (संवत १९४०) (२) अजितसेन कुमार ढाल (संवत १९४०) (३) सुमति चरित्र (संवत १९६१) (४) अरिदमन चौपाई (संवत १९६१) इनकी हस्तलिखित प्रतियां बीकानेर में श्रीपूज्य जिनचारित्रसूरिजी के संग्रह में है। इनकी कई गद्य कृतियां भी प्रकाशित हैं।[1]

१३. भूरसुन्दरी—

इनका सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा से है। इनका जन्म संवत् १९१४ में नागौर के समीप बुसेरी नामक गांव में हुआ। इनके पिता का नाम अखयचन्दजी रांका तथा माता का नाम रामा बाई था। अपनी फुआ से प्रेरणा पाकर ११ वर्ष की अवस्था में साध्वी चंपाजी से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। ये कवयित्री होने के साथ-साथ गद्य लेखिका भी थी। इनके निम्नलिखित ६ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं -

(१) भूरसुन्दरी जैन भजनोद्धार (सवत १९८०) (२) भूरसुन्दरी विवेक विलास (सं० १९८४) (३) भूर सुन्दरी बोध विनोद (सं० १९८४ (४) भूरसुन्दरी अध्यात्म बोध (सं० १९८५) (५) भूरसुन्दरी ज्ञान प्रकाश (सं० १९८६) (६) भूरसुन्दरी विद्या विलास (सं० १९८६)

इनकी रचनायें मुख्यतः स्तवनात्मक और उपदेशात्मक हैं। इन्होंने पहेलियां भी लिखी हैं। दो उदारहण देखिये—

१. आर्या पार्वताजी का विस्तृत जीवन परिचय 'साधनापथ की अमर साधिका' (लेखिका साध्वी सरलाजी संपाद्रक—श्रीचन्द सुराना 'सरस') के खण्ड २ में देखा जा सकता है।

आदि अखरविन जग को ध्यावे, मध्य अखर विन जग संहारे।
अन्त अखर विन लागत मीठा, वह सबके नयनों में दीठा ॥

उत्तर=काजल

आद दह अंत दह रह मध्य अरु मांय ।
तुम दरसन बिन होत है, दरसन से जाय ।

उत्तर=दर्द

१४. रत्नकुंवर जी—

ये स्थानकवासी परम्परा के पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज के सम्प्रदाय की प्रवर्तिनी रही हैं। संवत् १९९२ में ५१ ढालों में निवद्ध इनकी एक रचना "श्री रत्नचूड़ मणिचूड़ चरित्र" प्रकाशित हुई है।

उक्त साध्वी कवयित्रियों के अतिरिक्त श्राविका कवयित्रियों में चम्पादेवी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये देहली निवासी लाला सुन्दरलाल टोंग्या की धर्मपत्नी थी। इनके पिता अलीगढ़ निवासी श्री मोहनलालजी पाटनी थे। इनका जन्म संवत १९१३ के आसपास हुआ था। ६६ वर्ष की अवस्था में ये वीमार पड़ गई। तब अर्हंद् भक्ति में तन्मय होकर इन्होंने कई पद लिखे। जिनका संग्रह "चम्पा शतक" नाम से डा० कस्तूरचंद कासलीवाल ने सम्पादित किया है।

आज भी विभिन्न सम्प्रदायों में कई जैन साध्वी कवयित्रियाँ काव्य-साधना में लीन हैं। तेरा पन्थ सम्प्रदाय की हिन्दी कवयित्रियों के सम्वन्ध में एक निवन्ध उदयपुर से प्रकाशित होनेवाली 'शोध पत्रिका' के जनवरी १९६९ अंक में प्रकाशित हुआ है। इस निवन्ध में डा० नरेन्द्र भानावत ने साध्वी जय श्री, साध्वी मंजुला, साध्वी स्नेह कुमारी, साध्वी कमल श्री, साध्वी रत्नश्री, साध्वी कानकुमारी, साध्वी फूलकुमारी, साध्वी मोहना, साध्वी कनक प्रभा, साध्वी यशोधरा, साध्वी सुमन श्री और साध्वी कनक श्री की काव्य-रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैनकाव्य धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली इन साध्वी कवयित्रियों का हिन्दी कवयित्रियों में एक विशिष्ट स्थान है। इन्होने न तो डिंगल कवयित्रियों की भांति अंतःपुर में रहकर रानियों के मनोविनोद के लिये काव्य-रचना की और न किसी की प्रतिस्पर्धा में ही कलम तोड़ी। इन्होंने प्राणी मात्र को अपना जीवन निर्मल, निर्विकार और सदाचारमय वनाने का उपदेश दिया है। स्वानुभूतियों से निसृत होने के कारण इनके उपदेश सीधे हृदय को छूते हैं।
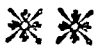
मानव ! तेरे अन्तरतम में,
छिपा हुआ सुख का अमृतघट ।
और दुःखों की ज्वालाएँ भी,
वहीं किया करती हैं लट-लट !

—मधुकर मुनि

स्थानकवासी जैन परम्परा की
अमर विभूतियाँ

साध्वी उमराव कुंवर 'अर्चना'

१

आचार्य श्री भूधरजी महाराज

- जन्म-स्थान—नागौर (राजस्थान)
- जन्म-दिवस—वि० सं० १७१२ विजयादशमी
- दीक्षा-दिवस—वि० सं० १७५१ फाल्गुन शुक्ला पंचमी
- स्वर्गवास-दिवस—वि० सं० १८०४ विजयादशमी

गृहस्थ-जीवन :

वि० सं० १७१२ की विजयादशमी के दिन आचार्य श्री भूधरजी महाराज का जन्म राजस्थान के सुप्रसिद्ध शहर नागौर में हुआ था।

उनका गोत्र ओसवाल मुणोत था। पिताजी का नाम माणकचंदजी व माताजी का नाम रूपादेवी था।

भूधरजी का शारीरिक सौन्दर्य जैसा नयनाभिराम था, उनका आन्तरिक व्यक्तित्व भी वैसा ही प्रभावोत्पादक था।

वचपन से ही भूधरजी के हृदय में सैनिक शिक्षा को प्राप्त करने की अभिरुचि विशेषतः थी।

अपनी इस अभिरुचि के फलस्वरूप श्री भूधरजी ने सैनिक शिक्षा में अधिकतम योग्यता प्राप्त की। अपनी इस योग्यता ने उन्हें सेना के एक उच्चपद पर आसीन कर दिया।

जब श्री भूधरजी की नियुक्ति सोजतशहर में हुई तो उस समय वहाँ डाकुओं का भयकर आतंक फैला हुआ था। इस आतंक को दूर करने के लिए भूधरजी ने अधिकार पूर्ण परिश्रम किया और वे उसमें पूर्णतः सफल भी बने।

भूधरजी सोजत में अधिकतम जनप्रिय हो गए। उनका कार्यक्षेत्र भी सोजत ही हो गया।

भूधरजी के हृदय में वैराग्य भावना का उदय डाकुओं के साथ की गई एक मुठभेड़ के समय हुआ। वात यह वनी कि वि० सं० १७४० में ऊंठों पर सवार होकर चौरासी डाकुओं ने कंटालिया गांव में डाका डाल दिया।

कंटालिया के ठाकर साहव की सूचना पर भूधरजी उन डाकुओं को सर करने के लिए वहां पर पहुंचे।

भूधरजी के वहां पहुँच जाने के कारण सभी डाकू नौ-दो ग्यारह हो गए। आगे-आगे डाकू भाग रहे थे और उनके पीछे भूधरजी भी इन्हें पकड़ने के लिए तेजी से जा रहे थे। आखिर काजलवास गांव के पास दोनों की मुठभेड़ हो गई।

इस मुठभेड़ में एक डाकू ने भूधर जी के ऊंट पर तलवार से प्रहार कर दिया। इससे वह ऊंट अधिक घायल हो गया और उसने स्वामी भूधरजी के सामने ही दम तोड़ दिया।

वह ऊंट भूधरजी का अतीव प्रेम-पात्र था। अतः उसकी इस प्रकार से मृत्यु की घटना का उन पर मर्मान्तक प्रभाव पड़ा। इस घटना के वाद उन्होंने राजकीय कार्यों से अवकाश ले लिया।

साधना पथ पर :

अव भूधरजी का लक्ष्य आत्मचिन्तन वन गया। इस चिन्तन के फल स्वरूप उन्होने 'पोतिया-वन्ध' पंथ में संयम ग्रहण कर लिया।

पोतियावन्ध पंथ में उन्हें वास्तविक आत्म शान्ति न मिली। अतः वे वास्तविक आत्म-शान्ति की खोज में लग गए।

'जिन खोजा तिन पाइया' इस लोकोक्ति के अनुसार वे अपनी खोज में सफल हुए।

एक दिन भूधरजी आचार्य श्रीधर्मदासजी महाराज के पट्टधर आचार्य श्रीधन्नाजी महाराज के सम्पर्क में आए।

आचार्य श्री जी के साथ की गई तत्त्व चर्चा में उन्हें आभास मिल गया कि इस परम पुनीत पूज्य पुरुष की सेवा में रहने से मुझे वास्तविक आत्म-शान्ति मिल सकती है। फिर क्या था। वे वि० सं० १७५१ की फाल्गुन शुक्ल पंचमी के दिन आचार्य श्री धन्ना जी की सेवा में दीक्षित हो गए।

भूधरजी सत्य पथ के गवेषी थे अतः इन्होंने सत्य पथ पालिया।

भूधरजी का अंतरंग अदम्य उत्साह से ओत-प्रोत था। धीरज के वे धनी थे। साहस उनका सहयोगी था। अतः वे यत्र-तत्र सर्वत्र सफल वनते गए।

अव भूधर जी मुनि हो गए। अपने गुरुदेव के प्रति भूधरमुनि जी की अनन्य भक्ति व श्रद्धा थी।

मतिज्ञानावरणीय व श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम उनमें अद्भुत था। आगमों की साक्षी के साथ वे उलझी हुई समस्याओं का समाधान करने में अत्यन्त विचक्षण थे। उनके जीवन में जव भी ऐसे प्रसंग आए तो उन्होंने शंकाओं का समाधान करने में सफलता प्राप्त की।

एक वार तो उन्होंने एक सो अट्ठाहर दिनों की तपस्या कर के सव को आश्चर्य-चकित कर दिया। अपनी सुसंयम-साधना व निष्काम-तपःसाधना से वे जन-जन के प्रिय वन गए। अपने चारित्र-वल के प्रभाव से उन्होंने सहस्र-सहस्र भूले-भटके राहियों को संयमपथ पर अग्रसर किया। साठ वर्ष तक इनकी यह साधना चलती रही।

श्रीभूधरजी महाराज क्षमा के तो साक्षात् अवतार ही थे। विरोधियों द्वारा उनपर आक्रमण किया गया। मारणान्तिक उपसर्ग के अवसर भी उनके जीवन काल में आए, परन्तु वे सर्वत्र सन्तुलित रहे। अपने अपराधियों को भी गले लगाकर उन्होंने क्षमा का अपूर्व आदर्श उपस्थित किया। एक दिन मुनिभूधरजी को आचार्य पद मिल गया। वे जन-जन के वंदनीय बन गए।

शिष्य परिवार :

आचार्य भूधरजी महाराज के ९९ शिष्य हुए। उनमें नव शिष्य तो सचमुच नव रत्न ही थे। वे ये थे—

१ श्रीनारायणजी २ श्रीरघुनाथजी ३ श्रीजेतसीजी ४ श्रीजयमलजी ५ श्रीकुशलोजी ६ श्री जगमाल जी ७ श्री रूपचन्द जी ८ श्री रतनचन्द जी ९ श्री गोवर्धन जी।

आचार्यश्री भूधरजी महाराज को अनेकशः अभिवन्दन।

२ आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज

- जन्म-स्थान—सोजत
- जन्म-दिवस—अज्ञात
- दीक्षा-दिवस—अज्ञात (दीक्षास्थान-जोधपुर)
- स्वर्गवास-दिवस—१८५९ माघ शुक्ला एकादशी (पाली)

जीवन का प्रथम चरण !

आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज की जन्म-भूमि सोजत थी। बापना नथमलजी उनके पिता थे। जब आचार्य श्री जी अपनी माताजी के उदर में आए थे, तब उनकी माता सोमादेवीजी को एक रात स्वप्न में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के दर्शन हुए थे। जब पुत्र का जन्म हुआ तो उक्त स्वप्न के आधार पर नवजात शिशु का नाम 'रघुनाथ' रखा गया,

बचपन में ही रघुनाथजी अतीव प्रभाव पूर्ण प्रतिभा वाले थे। जब वे कुछ बड़े हुए तो उनका व्यक्तित्व और भी निखर आया। अपनी इस प्रतिभा के कारण वे अपनी अल्प आयुमें ही सुशिक्षा में सम्पन्न हो गए !

सोलह वर्ष की अवस्था में ही रघुनाथजी ने अपने घर के उत्तरदायित्व को संभाल लिया।

पिता के हृदय में अपने पुत्र के प्रति असीम स्नेह था तो पुत्र के हृदय में अपने पिताजी के प्रति असीम श्रद्धा व भक्ति थीं। दोनों के आपसी सम्बन्ध अतीव उच्च थे। अतएव उनका घरेलू वातावरण जन-जन के लिए प्रशंसनीय था।

रघुनाथजी का एक अभिन्न मित्र था। उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गई। उनके कोमल हृदय पर इस बात का बड़ा आघात पहुँचा।

अपने चिन्तन के क्षणों में रघुनाथजी के हृदय में एक बात आई कि यह मृत्यु बड़ी भयंकर

वस्तु है, इस पर विजय पाना अतीव आवश्यक है। मृत्यु पर विजय पाने से ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है।

उन्होंने यह दृढ़संकल्प कर लिया कि मुझे अवश्यमेव मृत्यु पर विजय प्राप्त करना है! वे अमरत्व की प्राप्ति के लिए एक प्रकार से जुटते गए।

अब रघुनाथजी से जो भी मिलता; वे उससे अमरत्व की उपलब्धि का पता पूछते रहते थे कि यह कहाँ मिलती है?

कुछ अन्ध भक्तों ने इन्हें यह सलाह दी कि यदि तुम भगवती चामुंडा देवी के चरण-कमलों में अपना शिर काटकर रख दो तो तुम्हें अमरत्व की उपलब्धि हो सकती है?

फिर क्या था? रघुनाथजी ने सोचा कि अमरत्व की उपलब्धि का उपाय इससे सरल और क्या हो सकता है? उन्होंने चामुंडा देवी के चरणों में अपना शिर काटकर रखने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

इधर घर पर रघुनाथजी के विवाह की तैयारी अतीव उत्साह और साज-सज्जा के साथ हो रही थी।

शाह नथमलजी व सोमादेवी जी अपने आत्मज के इस दृढ़ निश्चय से अतीव परेशान हो रहे थे। वे किंकर्तव्यमूढ हो रहे थे। अज्ञात आशंकाओं से उनका मानस अतीव उद्‌विग्न हो रहा था।

ठीक उसी समय आचार्य श्री भूधरजी महाराज का पदार्पण सोजत शहर में हो गया। समाज के समझदार सदस्यों से आचार्य श्री जी को रघुनाथजी के विचारों की जानकारी मिली। लोगों की प्रेरणा से रघुनाथजी भी आचार्य श्री जी की सेवा में पहुंचे।

अमर-चरण

आचार्य श्री जी ने उन्हें अमरत्व की उपलब्धि का वास्तविक मार्ग बताया। आचार्य श्री जी के सत्संग से रघुनाथजी को आत्म-बोध मिला। उनके डिगते चरण सत्य मार्ग पर सुस्थिर हो गए।

एक संयमी जीवन ही अमरत्व की उपलब्धि का अमोघ उपाय है। यह बात रघुनाथजी के दिल में शत-प्रतिशत जम गई। उन्होंने अब विरक्तदशा में प्रवेश कर लिया।

अपनी वाग्दत्ता भावी पत्नी के प्यार का तथा संसार के सारे परिग्रह का परित्याग कर वे आचार्य श्री भूधरजी महाराज के श्री चरणों में पहुंच कर संयमी हो गए। उनकी भावी पत्नी श्रीमती रत्नकुंवर बाई ने भी अपने पतिदेव के पद चिन्हों का अनुसरण कर साध्वी जीवन में प्रवेश कर लिया।

संयमी जीवन में प्रवेश करने के बाद श्री रघुनाथ मुनिजी ने अन्य-अन्य सुसाधनों के साथ-साथ तपस्या की साधना भी प्रारंभ कर दी।

तपः साधना में श्री रघुनाथजी मुनि को अपूर्व आध्यात्मिक आनंद मिलता था। अतीव उल्लास व उत्साह के साथ उनकी यह साधना चलती थी। उनकी इस साधना में क्रमशः प्रगति होती जा रही थी।

एक दिन उनकी इस सुसाधना ने उन्हें आचार्य-पद पर भी प्रतिष्ठित कर दिया।

उग्र तपःसाधना :

आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज एक महान उग्र तपस्वी थे। वैराग्य और दृढ़ संकल्प शक्ति उनकी अजब थी। उनकी साधना का रोमांचक वर्णन श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज ने काव्य पक्तियों में इस प्रकार किया है।

चार विगै टाली चतुर दीक्षा दिन थी जाण।
पांच-पांच लग पारणो, अभिग्रह धार्यो आन॥
× × ×
पांच मास पाली में कीना मेड़ते चार रसाल।
चार मास उज्जैन पचखिया चार जौधाणे रसाल।
तीन मास इग्यारा आदर्या दोय मास सप्त धार।
मासी तप इकवीस अन्दाता पक्ष पांच ही लार॥

अपने साधनामय ६० वर्ष के जीवन में लगभग ३ वर्ष से भी कम आहार किया ५७ वर्ष करीव तपस्या में विताये।

मुनिश्री जेतसीजी, आचार्य श्रीजयमलजी व मुनि श्रीकुसलोजी आचार्य श्रीरघुनाथजी के अनुज गुरु भ्राताओं में से थे।

तेरापंथ सम्प्रदाय के आद्यप्रवर्तक भिक्खु स्वामी आचार्य श्रीरघुनाथ महाराज के ही शिष्य थे।

वर्तमान समय में आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज की परम्परा में प्रवर्तक स्वामीजी श्रीमरुधर केसरी मिश्रीमलजी महाराज श्रमण संघ के चमकते सितारे हैं।

रघुनाथं गणाधीशं वन्दे नित्यं हि भावतः।

३ आचार्य श्री जयमलजी महाराज

- **जन्म-स्थान**—लांवियाँ-मारवाड़-राजस्थान
- **जन्म-दिवस**—वि० सं० १७६५ भाद्रपद, शुक्ला त्रयोदशी
- **दीक्षा-दिवस**—वि० सं० १७८७ मार्गशीर्ष, कृष्णा द्वितीया (मेड़ता)
- **स्वर्गवास-दिवस**—विक्रम सं० १८५३ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी (नागौर)

गृहीजीवन :

राजस्थान की मरुधरा में लांवियां एक शस्य-श्यामला भूमिवाला सुन्दर गाँव है। वहीं पर जयमलजी महाराज का जन्म हुआ था।

उनके पिता समदड़िया मेहता मोहनदासजी, माता महिमा देवीजी और अग्रज भ्राता रिड़मल जी थे।

जयमलजी बचपन से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। व्यवहार कुशलता, व्यावसायिक-योग्यता एवं उचित-परामर्श देने की क्षमता उनमें प्रारम्भ से ही थी। उनके हृदय में उदारता थी, बोली में मधुरिमा थी। निश्छलता उनका प्रमुख गुण था। वे विनोद-प्रिय भी थे और कवित्वशक्ति से सम्पन्न भी थे।

जयमलजी जब बाईस वर्ष के हुए तक उनका विवाह रियां-निवासी सेठ शिवकरणजी की सुपुत्री श्रीमती लक्ष्मीदेवी के साथ हो गया। वर-वधू की सुन्दर जोड़ी देखते ही बनती थी। विवाह के कुछ दिनों के बाद नव-वधू लक्ष्मी देवी अपने पीहर चली गई थी।

गौना अभी तक उसका हुआ नहीं था। इस बीच में जयमलजी एक बार व्यवसाय के लिए मेड़ता गए थे। जिसदिन वे वहाँ पहुँचे, वह कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी का दिन था।

उस वर्ष मेड़ता में आचार्य श्री भूधरजी महाराज का वर्षावास था। कार्तिकशुक्ला चतुर्दशी उतरती-चौमासी कहलाती है। वर्षावास की समाप्ति का समय एकदम निकट आ गया था। इसलिए जैन-जनता अपना कारोबार छोड़कर उसीदिन आचार्यश्रीजी के अन्तिम प्रवचन-संदेश को सुनने के लिए अधिकतम संख्या में स्थानक में गई हुई थी। बाजार लगभग बंद-सा था।

आज बाजार क्यों बंद है? यह जानकारी जब जयमलजी को मिली तो वे भी आचार्यश्री भूधरजी महाराज का प्रवचन सुनने के लिए स्थानक में पहुंच गए।

जब जयमलजी प्रवचन सभा में पहुंचे तो आचार्यश्रीजी के मुखारविन्द से ब्रह्मचर्य के प्रसंग पर सेठ सुदर्शन का जीवन-इतिवृत्त चल रहा था।

आचार्य श्री जी के कहने का ढंग अपना निराला था। और उसमें भी सेठ सुदर्शन का प्रभावोत्पादक प्रसंग! जनता आचार्यश्रीजी के प्रवचन से मंत्र-मुग्ध-सी हो रही थी।

प्रबुद्ध हो उठे :

जयमलजी ने अथ से इति तक सेठ सुदर्शन की बात सुनी। उसमें कपिला व अभया के माया-जाल का प्रसंग, सर्वत्र सेठ सुदर्शन का अकंप व अपने ब्रह्मचर्य व्रत में सुदृढ़ रहना, परिस्थिति-वश महाराज दधिवाहन के आदेश पर सेठजी का शूली पर चढ़ना तथा शूली का सिंहासन होना आदि घटनाओं का प्रभाव जयमलजी के कोमल हृदय पर इतना पड़ा कि वे उसी समय आजीवन ब्रह्मचर्य व्रतधारी बन गए और दीक्षा ग्रहण करने की तैयारी में लग गए।

जयमलजी की दीक्षाव्रत ग्रहण करने की बात सुनकर वहाँ उनके पिता मोहनदासजी आए, माता महिमा आई और प्रिय पत्नी लक्ष्मीदेवी भी मेड़ता पहुंच गई।

माता, पिता व प्रिय पत्नी की ओर से जयमलजी को घर पर रोकने के अनेक प्रयास किए गये पर सभी विफल। अन्ततोगत्वा वि० सं० १७८७ की मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को जयमलजी की दीक्षा मेड़ता में आचार्य श्री भूधरजी महाराज की नेसराय में हो गई। कुछ समय के बाद श्रीमती लक्ष्मी देवी ने भी संयमी जीवन ग्रहण कर लिया।

वज्रसंकल्प :

दीक्षा-दिवस से ही मुनिश्री जयमलजी ने एकान्तर तप की साधना प्रारंभ कर दी। वह सोलह वर्षों तक निरंतर चलती रही। जिस दिन अपने परम पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री भूधरजी महाराज का

स्वर्गवास हुआ उस दिन से तप: साधना के स्थान पर लेटकर नींद न लेने की कठोर साधना उन्होंने अपना ली। उनकी यह साधना भी आजीवन चलती रही। पचास वर्षों तक उन्होंने लेटकर नींद नहीं ली। यह इनकी बहुत बड़ी भीष्म-प्रतिज्ञा रही। द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी व चतुर्दशी-इन तिथियों में वे विगय का सेवन नहीं करते थे।

मुनिश्री जी की वैराग्य-भावना व संयम की साधना कितनी उच्चतम थी, यह आभास उनकी इन प्रतिज्ञाओं से जन-जन को मिल सकता है।

समय पाकर मुनिश्री जयमलजी आचार्य पद पर भी प्रतिष्ठित हो गए। यह पद संघ में शासन-संचालन का पद है। संघ-गत अनेक उलझनों को सुलझाने का पद है। विविध उत्तरदायित्व को सम्भालने का पद है।

इस पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भी आचार्यश्री जयमलजी ने अपने इस पद को बराबर निभाया और उन्होंने अपनी साधना में जीवन भर तक किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आने दिया।

आचार्य श्री भूधरजी महाराज के अनेक शिष्य थे। यद्यपि वे सभी श्रुत-संपन्न व संयम-सम्पन्न थे परन्तु जो सिद्धि व प्रसिद्धि आचार्य श्री जयमलजी महाराज को मिली वह वस्तुतः अद्वितीय थी।

बीकानेर क्षेत्र में यतियों का काफी साम्राज्य था। अपनी मंत्र-साधना व चामत्कारिक प्रवृत्तियों के कारण वे वहाँ अत्यधिक प्रभावशाली बने हुए थे। जैन-समाज के सदस्य व अधिकारी लोग भी उनके गाए गीत ही गाते थे। आचार्यश्री जयमलजी महाराज जब उस ओर पधारे तो उन्होंने अपनी संयम-साधना के बल पर वहाँ स्थानकवासी जैन-जगत् का झंडा रोप दिया।

बहुमुखी प्रतिभा :

राजस्थान के अनेक छोटे-बड़े नरेश व ठाकुरों पर आचार्य श्री जी का बहुमुखी प्रभाव था। अपने उपदेश के अवसर पर तथा उनसे व्यक्तिगत संपर्क जोड़कर आचार्यश्री जी ने उन लोगों को शिकार खेलना, मांस-भक्षण व मदिरापान आदि के शपथ दिलवाये।

कवित्व-शक्ति के बीज उनमें पहले से ही थे। अपने गृहस्थ जीवन में भी वे हास्य-व्यंग्य रस से परिपूर्ण कविताएँ किया करते थे। संयमी जीवन में प्रवेश करने के बाद उन्होंने अपनी कविताओं को नैतिक-जीवन वैराग्यरस व आगम के अनुकूल आध्यात्मिक पदों की ओर मोड़ दे दिया।

पूज्य गुरुदेव श्रीमधुकर मुनिजी ने आचार्यश्री जी की रचनाओं का एक संकलन 'जयवाणी' के नामसे प्रकाशित करवाया है। अभी भी उनकी अनेक ऐसी रचनाएँ हैं, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। आचार्यश्री जी की आचार्य-परंपरा व संत-परंपरा में भी अनेक सुप्रसिद्ध कवि हो गए हैं। उनकी भी बिखरी हुई रचनाओं का प्रकाश में लाना अतीव आवश्यक है।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण आचार्यश्री जी ने तेरह वर्षों तक नागौर में स्थिरवास किया। अन्तिम समय में आचार्यश्री जी ने संलेखना की तथा एक मास का संथारा किया। अतीत में—जय-गच्छ में अनेक सुप्रसिद्ध आचार्य, संयम-सम्पन्न सन्त व सतियाँ हुई हैं।

इस समय इस गच्छ के वयोवृद्ध पूज्य स्वामीजी श्रीरावतमलजी महाराज, उपप्रवर्तक पूज्य स्वामीजी श्रीब्रजलालजी महाराज तथा पंडितरत्न स्वामीजी श्री जीतममजी महाराज आदि मुनिराज

वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ में जिन शासन की शोभा बढ़ा रहे हैं। इस गच्छ की साध्वियों की संख्या लगभग पचास है।

आचार्य हिं जयं वंदे-जगत्रत्नं महत्तमम्।

४ स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज

- **जन्म-स्थान**—सिहू गाँव (नागौर राजस्थान)
- **जन्म-दिवस**—वि सं० १९३६, अक्षय तृतीया
- **दीक्षा-दिवस**—वि० सं२ १९४४ अक्षय तृतीया (नागौर)
- **स्वर्गवास-दिवस**—वि० सं० १९८९ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी (भंवाल)

यह भारत-भूमि अवतारों की जन्मभूमि, वीरों की कर्मभूमि, साधकों की साधना-भूमि और दार्शनिकों की चिन्तन-भूमि रही है।

इस भूमि में अनेक अनेक समाज-रत्न और सन्त-रत्न उत्पन्न हुए हैं।

इन महापुरुषों ने विश्वभर में सात्विक स्नेह की सुनिर्मल सरस सरिता बहाई, अपने तप. पूत जीवन से जन-मानस को जागृत किया और अपने सदाचरणों से सर्वत्र सद्‌गुणों की सौरभ फैलाई। ऐसे जिन नर-रत्नों के नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है, उनमें एक नाम मेरे पूज्य दादागुरु स्वामीजी श्रीजोरावर-मलजी महाराज का भी है—इनका जीवन-इतिवृत्त इस प्रकार है :—

बचपन में वैराग्य :

मेड़ता के पास गोटन स्टेशन के अति-निकट एक लघुतम ग्राम है, 'सिहू'। वहाँ इस समय तो सिर्फ प्रमुख बस्ती है चारणों की, परन्तु पहले वहां ओसवाल जाति की भी काफी अच्छी बस्ती थी।

इस 'सिहू' गाँव में स्वामीजी श्रीजोरावरमलजी महाराज का जन्म हुआ था। श्रीरिद्धकरणजी बोथरा उनके पिताजी थे और मगनकुंवर बाई उनकी माताजी थीं।

स्वामीजी के बचपन में ही उनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया था। उसके बाद शीघ्र ही उन्होंने तथा उनकी माताजी ने संयम ग्रहण कर लिया।

बालक जोरावर तथा उनकी माताजी की दीक्षा बड़ी कठिनाइयों के बीच हुई थी। अनेक परीषहों को सहन करने के पश्चात् दोनों माता और पुत्र दीक्षित हो सके थे।

दोनों की दीक्षा का घटनाचक्र यह है कि एक बार मेरी दादागुरुणीजी चोथांजी महाराज अपनी शिष्या-मंडली के साथ 'सिहु' पधारी थी। सतीजी श्रीचोथांजी अपने समय की एक सुप्रसिद्ध ख्याति-प्राप्त साध्वीरत्न थीं। सतीजी के प्रतिभा-पूर्ण प्रवचनों का प्रभाव मगनकुंवर बाई पर ऐसा पड़ा कि उनके हृदय में वैराग्य की भावना जागृत हो गई।

जब सतीजी श्री चोथाजी ने 'सिहू' से प्रस्थान किया तो मगनकुंवरबाई भी अपने पुत्र जोरावर को लेकर सतीजी के साथ सिहू से रवाना हो गई।

जब सतीजी पारसनाथजी की फलोदी (मेड़तारोड़) पहूंची तो मगनकुंवरबाई ने अपना निर्णय सतीजी के सामने रख दिया और स्वयं ने श्वेतवस्त्र धारण कर लिए।

मगनकुंवरबाई ने अपने ससुराल भी यह सूचना भेज दी कि "मुझे व जोरावर को दीक्षा लेना है अतः आप हमारे लिए अनुमति भेज दीजिए, जिससे इस दीक्षा व्रत को सुलभता के साथ ग्रहण कर सकें।"

इस सूचना के पाते ही बाईजी के जेठजी मेड़तारोड़ पहुंचे और क्रोध से आग-बबूला होकर उन्होंने श्वेतवस्त्रधारिणी मगनाजी को लट्ठियों से पीटना प्रारम्भ कर दिया।

लगभग बीसबार लट्ठियों का प्रहार जेठजी ने मगनाजी पर कर दिया। इतना होने पर भी मगनाजी अपने विचारों से विचलित नहीं हुई। अकंपभाव से मगनाजी ने अपने जेठजी से कहा कि आपकी ओर से बीस बार लट्ठियों का प्रहार हो गया है। अब इक्कीसवाँ प्रहार आपके ऊपर मेरा रहेगा—अर्थात् मुझे अवश्यमेव संयम ग्रहण करना है।

मगनाजी की यह बात सुनकर उनके जेठ के मुख से यह बात फूट पड़ी कि "तुम खुशी से दीक्षा ग्रहण कर सकती हो पर जोरावर को मेरे साथ भेज दो।"

अपने जेठ के मुख से इतना सुनते ही मगनादेवी ने कहा कि बस हो गया मेरा कार्य सिद्ध। आपने मुझे तो दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान कर ही दी और जोरावर पर तो एकमात्र मेरा ही स्वाधिकार है, अतः मैं स्वयं आज्ञा देकर उसे दीक्षित कर दूंगी।

इस प्रकार मगनकुंवरबाई स्वयं ने तो भागवती दीक्षा ग्रहण की ही साथ में अपने प्रिय पुत्र जोरावर को दीक्षा दिलवाकर श्रमणसंघ को एक अमूल्य रत्न भेंट किया।

वि० सं० १९३६ की अक्षय तृतीया स्वामीजी श्रीजोरावरमलजी महाराज का जन्म दिवस था और वि० सं० १९४४ की अक्षय तृतीया उनका दीक्षा-दिवस था।

नागौर उनकी दीक्षाभूमि थी। स्वामीजी उस समय के सुप्रसिद्ध वैयाकरण और चर्चावादी सन्त परम श्रेद्धय स्वामीजी श्रीफकीरचन्दजी महाराज के शिष्य-रत्न बने।

स्वामीजी श्री फकीरचन्दजी महाराज के सोलह शिष्य थे, उनमें स्वामीजी उनके सबसे छोटे शिष्य थे।

योग्य गुरु : योग्य शिष्य :

बचपन से ही स्वामीजी में सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। अतः उनका अध्ययन अतीव उच्चतम रहा। योग्यतम गुरुदेव की सेवा में रहकर शिष्य योग्यतम बनें—इसमें अतिशयोक्ति क्या ?

स्वामीजी ने संस्कृत, प्राकृत, आगम, चूर्णी, टीका, भाष्य, काव्य, छंदःशास्त्र व ज्योतिप आदि का गम्भीर अध्ययन किया। अपने समय में वे आगमों के एक तलस्पर्शी विज्ञाता, विचक्षण विद्वान् माने जाते थे। वे उग्रक्रियावादी नहीं थे तो कोरे ज्ञानवादी भी नहीं थे। उनमें ज्ञान-क्रिया का सुन्दरतम संगम था।

स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज "यथानाम तथागुण" इस उक्ति के अनुसार सचमुच जोरावर थे। उनके चेहरे पर चमकता हुआ ओज था। किसी भी व्यक्ति की हिम्मत एकदम उनके सामने बोलने की नहीं होती थी।

यद्यपि उनका विचरण राजस्थान में ही हुआ था फिर भी उनका वर्चस्व जैन व जैनेतर समाज में सर्वत्र छाया हुआ था।

स्वामीजी सही वात को ही पकड़ते थे, पर उनकी पकड़ वहुत सुदृढ़ होती थी। आगम के आधार पर तर्क की कसौटी पर कसकर वे विरोधियों को ऐसा करारा जवाव देते की विरोधी व्यक्ति स्वयमेव उपशान्त हो जाते।

सुधारवादी संत :

स्वामीजी सुधारवादी भी थे। अनेक स्थानों पर उन्होंने परम्परा से प्रचलित अनेक कुप्रथाओं का निवारण किया। वारात में रात्रि-भोजन, ढोल पर कुलीन औरतों का नाचना विवाह शादियों में औरतों का गंदे गीत गाना आदि कुप्रथाएँ स्वामीजी को वहुत अखरती थी।

अछूत जाति के प्रति भी स्वामीजी की वड़ी हमदर्दी थी। हरिजनों को उच्छिष्ट भोजन देने का भी वे सख्त विरोध करते थे।

साधु-समाज में क्रिया की ढिलाई स्वामीजी को विलकुल नहीं सुहाती थी। चाहे अपनी सम्प्रदाय के ही साधु क्यों न हो, जिनमें वे क्रिया की ढिलाई देखते तो उन से वे अपना सम्पर्क कभी नहीं रखते थे। इस वात को लेकर स्वामीजी साधु-समाज में कुछ कठोर प्रकृतिवाले भी माने जाते थे।

स्वामीजी में एक खास विशेपता यह थी कि यदि साधु समाज की गलत प्रवृत्तियों को देखकर श्रावक समाज में उन साधुओं के प्रति अश्रद्धा का वातावरण वन जाता तो वे समाज में पुनः उनकी जाजम जमाने में भी कभी नहीं चूकते थे।

स्वामीजी के तीन शिष्य हुए स्वर्गीय स्वामी जी श्री हजारीमलजी महाराज, वर्तमान में विराजित पूज्यगुरुदेव उपप्रर्वतक स्वामीजी श्री व्रजलालजी महाराज व पण्डित रत्न श्री मधुकर मुनिजी महाराज।

स्वामीजी का ४२ वर्प का संयमी जीवन रहा। अन्त में उन्होंने भंवाल में समाधिमरण प्राप्त किया।

श्री 'जोरावर' सन्मुनिं गुरुवरं वन्दे सदा भावतः।

५ स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज

- **जन्म-स्थान**—डांसरियाँ (टाटगढ़—मेरवाड़ा)
- **जन्म-दिवस**—वि० सं० १९४३ वसंत पंचमी
- **दीक्षा-दिवस**—वि० सं० १९५४ ज्येष्ठ कृष्णादशमी (नागौर)
- **स्वर्गवास-दिवस**—वि० सं० २०१८ चैत्रकृष्णा दशमी (नोखा चांदावतों का)

जीवन का पथ अथ से इति तक अनेक कठिनाइयों से परिपूर्ण है। उस पथ पर वढ़नेवाले पथिक को पद-पद पर विघ्न मिलते रहते हैं। वहाँ परस्पर विरोधी शक्तियों में प्रतिपल प्रतियोगिता होती रहती है। इसी का नाम है—जीवन-संग्राम।

संसार का एक भी मार्ग निरापद नहीं है। उसमें भी साधना का मार्ग तो और भी कंटकाकीर्ण है। इस पथ पर तो संयमी पुरुष ही साहस का संवल लेकर बढ़ सकता है। इसलिए इस विकट पथ के पथिक को बाधाओं की परवाह न करके पूरी साज-सज्जा के साथ इस पथ पर बढ़ते रहना चाहिए।

जो सच्चा साधक होता है, उसे यद्यपि पद-पद पर चोट खानी पड़ती है फिर भी वह एक सैनिक की तरह जीवन संग्राम में अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए बढ़ता ही रहता है। ऐसे ही मानव इस वीहड़ पथ को पार कर अपने लक्ष्य की सिद्धि कर लेते हैं।

अपनी मंजिल को प्राप्त करनेवाले ऐसे महामानवों में एक नाम पूज्य गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज का भी है। जिनके कदम ग्यारह वर्ष की अल्पवय से लेकर पचहत्तर वर्ष की उम्र तक साधना के विकट पथ-पर निरंतर अकंपभाव से बढते ही रहे। उनके कदम न तो कहीं अटके और न कहीं भटके ही।

राजस्थान के मेरवाड़ा प्रान्त का एक शहर है 'टाटगढ़'। उसके पास एक छोटा सा गांव है 'डांसरियां' इसी गांव में वि० सं० १६४३ की वसंत पंचमी को पूज्य गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज का जन्म हुआ था।

श्रीयुत मोतीलालजी मुणोत पूज्य गुरुदेव के पूज्य पिताजी थे। महिमामयी नंदूबाई के वे अंगज थे।

जिस प्रकार स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज की पूजनीय माताजी मगनकुंवरबाई पर सतीजी श्री चोथांजी महाराज के प्रतिभा पूर्ण प्रवचनों का प्रभाव पड़ा था इसी प्रकार नन्दूबाई के मानस पट पर भी इन्हीं सतीजी श्री चोथाजी महाराज के प्रवचनों का भी वैसा ही प्रभाव पड़ा।

सतीजी के उपदेशों से प्रभावित नंदूबाई का हृदय भी वैराग्य की ओर बढ़ गया। उनकी भावना भी यही बनी कि मैं भी संयम ग्रहण करूं और अपने प्रिय पुत्र 'हजारी' को भी दीक्षित करूं।

आखिर एक दिन नंदूबाई ने अपने प्रिय पुत्र हजारी को स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज के चरणों में समर्पित कर दिया।

पूज्यगुरुदेव की दीक्षा 'नागौर' में हुई। वि० सं० १६५४ की ज्येष्ठ कृष्णा दशमी पूज्य गुरुदेव का दीक्षा दिवस है।

अन्तरंग जीवन :

पूज्य गुरुदेव का हृदय अतीव कोमल था—दयार्द्र था। किसी भी व्यक्ति के दुःखदर्द को देखकर वे स्वयं विकम्पित हो जाते थे और उसके दुःख-दर्द को दूर करने का इरादा भी उनका रहता था।

पूज्य गुरुदेव का अन्तस्तल बच्चों जैसा निश्छल था। वे जैसे अन्दर थे वैसे ही वे बाहिर भी थे।

अपनी सम्प्रदाय के वे प्रवर्तक पद पर भी लम्बे समय तक रहे और वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ में मरुधरा प्रान्त के मन्त्री पद पर भी रहे, पर उनके हृदय को कभी भी इस पद के अभिमान ने स्पर्श नहीं किया।

पूंजीपतियों के सम्पर्क से वे प्रायः दूर रहते थे। दीन-हीन जनता के प्रति उनका हृदय सदा स्नेहिल रहता था।

पूज्य गुरुदेव विनोदप्रिय भी थे। वे बच्चों में बच्चे, युवकों में युवक और बूढ़ों में बूढ़े बनकर भी रहना जानते थे।

पूज्य गुरुदेव की वाणी में बड़ी मधुरता थी। उनका संगीत जन-जन को बहुत प्रिय लगता था।

पूज्य गुरुदेव की संयम-निष्ठा भी बड़ी सजग थी।

उपप्रवर्तक स्वामीजी श्री ब्रजलालजी महाराज व पंडितरत्नश्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' पूज्य गुरु देव के योग्यतम गुरु-भ्राता हैं, जिनका अभिनन्दन समारोह ब्यावर में मनाया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव के दो शिष्य हुए। प्रथम शिष्य मेरे पूज्य पिताजी मांगीलालजी और द्वितीय शिष्य श्री मोहनमुनिजी।

वि० सं० २०१८ की चैत्र कृष्णा दशमी पूज्य गुरुदेव का स्वर्गवास दिवस है। चांदावतों के नोखे में उनका स्वर्गवास हुआ।

जयतु जयतु लोके श्री हजारी गुरुः सः।